उपनिषदार्यभाष्य

[विस्तृत भूमिका सहित]

१-ईश

२-केन

३-कठ

४-प्रश्न

५-मुण्डक

६-माण्डूक्य

७-ऐतरेय

८-तैत्तिरीय

लेखक
महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि जी।

मुद्रक—
सम्राट् प्रेस
पहाड़ी धीरज, देहली।

❀ ओ३म् ❀

उपनिषदार्य्यभाष्य भूमिका

——❀◌❀——

दोहा

१–मायामत वेदान्त का मुनिमन भया विवेक।
भाष्य प्रभा अरु भामती पढ़कर ग्रन्थ अनेक॥

२–माया मोह प्रभाव से भूला ब्रह्म अनूप।
आप आपनी भूल से पड़ा अविद्या कूप॥

३–यों वेदान्ती भाखते मायामत अनुसार।
ज्ञानकाण्ड उपनिषद में याका करौं विचार॥

४–उपनिषदों में है नहीं मायामत को गन्ध।
आद्योपान्त विचार बिन भूलत हैं मतिमन्द॥

"उपनिषद्" (उप) ब्रह्म की समीपता (नि) निश्चय-करके जिससे (सद्) प्राप्त हो, उसका नाम "उपनिषद्" है, एवं ब्रह्मप्राप्ति के साधनरूप ग्रन्थ का नाम यहां "उपनिषद्" है, इसकी संस्कृत व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि ["उप=ब्रह्मसामीप्यं, नि=निश्चयेन, सीदति=प्राप्नोति यया सा उपनिषद्"]= जिससे ब्रह्म की समीपता लाभ हो उसको "उपनिषद्" कहते हैं, सर्वगत ब्रह्म की समीपता देशान्तर प्राप्ति के समान नहीं,

इसलिये यहां ज्ञानगम्य लेना चाहिये अर्थात् जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो उसका नाम यहां "उपनिषद्" है और वह साक्षात्कार ब्रह्मज्ञान से होता है, इसलिये मुख्यतया ब्रह्मज्ञान का नाम "उपनिषद्" और तत्प्रतिपादक होने से ग्रन्थ का नाम भी "उपनिषद्" है।

और जीव ब्रह्म को एक मानने वाले नवीन वेदान्तियों के मत में ["उपसमीपस्थं ब्रह्मात्मैकत्वं सहेतुसंसारं सादयतीति उपनिषद्"]=अविद्यासहित संसार की निवृत्ति करने वाला जो जीव ब्रह्म का एकत्वरूप ज्ञान उसका नाम "उपनिषद्" है, यह व्युत्पत्ति ठीक नहीं, क्योंकि यदि उक्तार्थ में "उपनिषद्" शब्द का तात्पर्य होता तो संसार का मिथ्या होना तथा जीव ब्रह्म की एकता स्पष्ट रीति से उपनिषदों में पाई जाती पर ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि संसार का मिथ्यात्व तथा जीव ब्रह्म की एकता "उपनिषद्" शब्द प्रतिपाद्य नहीं किन्तु उक्त शब्द प्रतिपाद्य जगज्जन्मादिकों का हेतु ब्रह्म है जैसा कि ["जन्माद्यस्य यतः"] ब्र० सू० १। १। २ में महर्षि व्यास ने वर्णन किया है कि जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति तथा प्रलय होता है वह ["ब्रह्म"] है और वही एकमात्र उपनिषदों में उपास्य देव माना गया है।

जो सब से बड़ा हो उसका नाम ["ब्रह्म"] है, जैसा कि ['यतश्चोदेतिसूर्य्यः०"] कठ० ४। ९ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वर्णन किया है कि जिसकी सत्ता से सूर्य्य उदय तथा अस्त होता और जिसको सब देव अर्पित हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता वह ["ब्रह्म"] है, और—

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदुनायेति किञ्चन ॥

अथर्व० १०।४।८।१६

इत्यादि मन्त्रों में भी वर्णन किया है कि मैं उसी को बड़ा मानता हूँ जिससे सूर्य उदय तथा अस्त होता है उससे भिन्न अन्य कोई बड़ा नहीं ।

यथावस्थित वस्तुविचार से अनुभव में भी यही आता है कि उक्त ब्रह्म से बड़ा तथा तत्सदृश अन्य कोई पदार्थ नहीं और न हो सकता है, क्योंकि उसके महत्व तथा अस्तित्व से विमुख पुरुष जब उसकी घटनाओं का दृश्य देखते हैं तो विचारे चकित रहजाते हैं और उनमें से बहुत उक्त ब्रह्म की घटनारूप घाटियों को अतिक्रमण करने में अपने आपको समर्थ न पाते हुये युवावस्था में ही उसके अस्तित्व को सिर झुकाते है और अन्य कई एक अति ढीठता की ढाढ़सरूप लाठी लिये हुये स्थविरावस्था में सब कुछ ब्रह्म के समर्पण कर देते हैं, अधिक क्या ब्रह्मात्मभाव=मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपने आप को ही ब्रह्म मानने वाले मायावादी उसकी एक लहर में आकर ही अपना कलेवर उसके अर्पण कर कालानल मुख में भस्मीभूत हो जाते हैं, यहां मनुष्यादि प्राणियों की तो कथा ही क्या बड़े २ सूर्य चन्द्रमादि कोटानकोटि ब्रह्माण्ड उसके भय से भ्रमण करते हैं, जैसाकि "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः" इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में वर्णन किया है कि सूर्यादि सब ब्रह्माण्ड उसके नियम में बद्ध हो रहे हैं किसी की भी सामर्थ्य नहीं जो उसके नियम को उलङ्घन करके एक क्षण भी स्थिर रह सके, उसी ब्रह्म की प्राप्ति कराना उपनिषदों का परम उद्देश्य है, उसकी प्राप्ति के

लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं, वह ज्योतिर्मय परमात्मा अपने अन्तःकरण में ही विराजमान है और उपनिषद् प्रतिपादित सम्यक् ज्ञान से उसकी प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं, भाव यह है कि उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म के आनन्द को उपलब्ध करके जीव कृतकार्य हो जाता है फिर उसको कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।

उस आनन्द की मीमांसा इस प्रकार है कि सर्वसम्पत्ति-सम्पन्न युवा पुरुष का जो आनन्द है वह उस आनन्द के आगे तुच्छ है, मधुर से मधुर गानेवालों का आनन्द उस आनन्द से शतशः कोटि नीचा है, दिव्य से दिव्य शक्ति वाले दैवभावापन्न पुरुषों का आनन्द भी उसकी तुलना नहीं कर सकता, चक्रवर्ती राजे भी इस संसृतिचक्र में भ्रमण करते हुये उसी आनन्द की लालसा करते हैं, अधिक कथा दाराशिकोह, शौपनहेयर आदि विदेशी विद्वानों ने भी इसी उक्त आनन्द से तृप्त होने की चेष्टा की, सत्य है यह वह आनन्द है जिसको पाकर मनुष्य का सन्तोषाम्बुधि इस प्रकार लहरें मारता है किः—

जो फल थे तन मानव के वह लाभ किये हमने अब सारे ॥
आनन्द ब्रह्म सुधानिधि को लख दूर भये भव के भय भारे ॥
क्षुद्र नदी सम मेट दिया वपु ब्रह्म पयोनिधि माह पधारे ।
प्रत्यकरूप भई ममता यह पुत्र वधु अब नाह हमारे ॥

—:※:—

सुत के हित प्यार करे जगमें कहु कौन करे धनके हित प्यारा
हितनार न प्यार करे जगमें हम ढूंढलिया हमने भवसारा

हित आत्मप्यार करें सबही यह आत्म है सबसे अतिप्यारा ।
वह आनन्दरूप पयोनिधि है उसके बिन और नहींकोउप्यारा ॥

-XX:X:XX-

वसु पूरण हो वसुधा सगरी पुन और पदारथ हों सुखकारी ।
गजगामिनिभामिनि होमधुरासुखकी छविचन्द्रकलाजिनटारी ॥
शुभव्यञ्जन होंहि अहार घने जिनके रससे तन पुष्टि अपारी ।
सुख आत्मनाहलेहजबही तब होंहि हलाहल के समचारी ॥

००X:—:X००

वह आनन्द नाहमिले धनसे और नाहमिले वहत्यागकमाये ।
तनतीरथत्यागकरे न मिले न मिले हरिके पुर देह तपाये ॥
घन कानन घोर निवास करे अथवा गिरिकन्दर माहबसाये ।
रति आत्म एक सुसाधनहैपरजोरति नाह सुनाह सताये ॥

+:*०*:+

इसी भाव को गीता में इस प्रकार वर्णन किया है कि:-

यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येवच सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

गी० ३ । १७

जो पुरुष उक्त आत्मदेव की प्रीति में रत है और एकमात्र उसी तृप्ति से तृप्त है उसके लिये मनुष्यजन्म का फलरूप कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता ।

यह वह आत्मतत्व है जो आत्मदर्शी के लिये दक्षिणोत्तर,

पूर्वपश्चिम तथा नीचे ऊपर सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, इस आनन्दरूप सागर में निमग्न हुआ आत्मदर्शी अमृतभाव को प्राप्त होता है, इसी अभिप्राय से छान्दोग्य० प्रपा० ७ खं० १५ में वर्णन किया है किः—

अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति ॥

अर्थ—वही परमात्मा ऊपर, वही नीचे, वही दक्षिण, वही उत्तर, वही पूर्व और वही पश्चिम में सर्वव्यापक है, इस प्रकार उसको जानकर जिज्ञासु अनन्यवृत्ति से निदिध्यासन करता हुआ आत्मक्रीडा वाला होता है अर्थात् परमात्मा में ही उसका मन क्रीडा करता है, परमात्मा के साथ ही योग करता है, परमात्मानन्द से ही वह आनन्द का उपभोग करता है और परमात्मक्रीडा से ही वह स्वराट् हो जाता है, या यों कहो कि परमात्मा के साथ तद्धर्मतापत्ति रूप योग को लाभ करके परमात्मवत् स्वतन्त्र हो जाता है इसी आत्मपद का अनुसन्धान करके महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि हे मैत्रेयी पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं होता और न धन के लिये धन प्यारा होता है किन्तु सब आत्मसुख के लिये ही पुत्र तथा धनादिकों से प्यार करते हैं। और वह आत्मसुख परमात्मा से मिलता है अर्थात्

उस परमात्मरूपी सुखसागर से एक बिन्दु मात्र सुखलाभ करके सब भूत अपने को आनन्दित मान रहे हैं, या यों कहो कि वास्तव में आनन्द का केन्द्र एकमात्रपरमात्मा है, इसलिये हे मैत्रैयी! मैं इस संसारवर्ग को छोड़कर परमात्मपरायण होताहूं।

वास्तव में एकमात्र परमात्मा ही उक्त आनन्द का धाम है अन्य नहीं, यदि वह आनन्द धन से होता तो धनी लोग दुःखी न देखे जाते किन्तु इसके विपरीत यह देखा जाता है कि सुवर्ण से भरी हुई पृथिवी हो, सेवक सब अनुकूल हों, सब प्रकार के भोजन हों और सुन्दर स्त्रियें हों परन्तु आत्मा सुखी न हो तो यह सब पदार्थ हलाहल=विष के तुल्य होजाते हैं वह आत्मानन्द जिसके विद्यमान होने पर उक्त पदार्थ आनन्द के बढ़ाने वाले प्रतीत होते हैं वह न धन से मिलता है और जन से किन्तु यह एकमात्र परमात्मविषयक प्रीति से मिलता है, जैसाकि ["आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"] बृहदा० ४ । ५ । ६ इस श्लोक में वर्णन किया है कि हे मैत्रेयी एकमात्र परमात्मा का ही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये, यहां कई एक लोग इस भ्रान्ति में पड़े हैं कि "आत्मा" शब्द के अर्थ यहां जीवात्मा के हैं परमात्मा के नहीं, यह उनकी अत्यन्त भूल है, क्योंकि यदि यहां आत्मा के अर्थ जीवात्मा होते तो उसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन विधान न किया जाता, क्योंकि यह श्रवणादि साधन शास्त्र ने परमात्मा की प्राप्ति के लिये विधान लिये हैं जीवात्मा की प्राप्ति के लिये नहीं।

और जो यह आशङ्का की जाती है कि ["न वारे पुत्रस्य कामाय"] इस वाक्य से जीवात्मा का प्रकरण प्रतीत होता है, क्यों कि पुत्रादि सब अपने सुख के लिये प्यारे होते हैं न कि परमात्मा के लिये, इसका उत्तर यह है कि ["अततीत्यात्मा"]

जो निरन्तर ज्ञान तथा गति वाला हो वह ["आत्मा"] कहाता है, इस व्युत्पत्ति से मुख्यतया आत्मा शब्द परमात्मा में वर्त्तता है, और गमन तथा ज्ञान का आश्रय जीवात्मा भी है इस गौणीवृत्ति से आत्मा शब्द जीवात्मा को भी कहता है. एवं आत्मा शब्द जीवात्मा तथा परमात्मा में साधारण है परन्तु यहां विशेष लिङ्ग यह है कि सुख के लिये पुत्रादिकों को प्यारा कथन किया है और वह सुख मुख्यतया परमात्मा से उपलब्ध होने के कारण यह प्रकरण परमात्मविषयक है, अधिक क्या ["वाक्यान्वयात"] ब्र० सू० १।४।१६ इस सूत्र में महर्षि व्यास ने भी यह निर्णय कर दिया है कि यह प्रकरण परमात्मा का है जीवात्मा का नहीं, अस्तु प्रकृत यह है कि उक्त आत्मा उपनिषदों का मुख्य विषय है और वह सर्वथा स्वाधीन तथा निरञ्जन होने के कारण उसको अन्य कोई पदार्थ स्वाधीन तथा समल नहीं करसकता इसी अभिप्राय से कहा है किः—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च॥

श्वेता० ६।८।

अर्थ—उस परमात्मा का मृद्घट तथा रज्जुसर्प के समान कोई कार्य्य नहीं न उसका हस्तपादादिकों के समान कोई करण है न उसके कोई समान और न उससे कोई अधिक है, उसका बल और क्रिया किसी के अधीन नहीं वह स्वाभाविक हैं अर्थात् प्रकृति तथा परमाणु उस का ऐश्वर्य्य होने से उसके

सदृश तथा उससे अधिक कोई नहीं, प्रकृतिरूप उपादान कारण से वह इस संसार को बनाता है अर्थात् जब जीवों के अदृष्ट फल देने को अभिमुख होते हैं तव उस परमात्मा की शक्ति से प्रकृति में परिणाम होकर महदादि क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है जिसको सांख्य, योग तथा वेदान्त में प्रकृति नाम से कथन करते हैं उसी को न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा में परमाणु नाम से कथन करते हैं, यह प्रक्रिया का भेद है वस्तुतः प्रकृति तथा परमाणुओं का तात्पर्य्य एक ही है, क्योंकि जगत् के परमसूक्ष्म कारण का नाम ['परमाणु"] और इसी परमाणुरूप अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति को वेदों में ["स्वधा"] शब्द से वर्णन किया है, ["स्वधा"] इसका नाम इसलिये है कि ["स्व"] परमात्मा ही इसका आधार है और उपनिषदों में इसको [" माया"] तथा ["अजा"] शब्दों से कथन किया है, जैसाकि:--

["मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्"] श्वेता० ४।१० ["तस्मिंश्चान्यो मायास न्नरूद्धः"] श्वेता ० ४।६ ["अनादिमायासुप्तो यदाजीवः प्रबुध्यते"] ["इन्द्रो माया-भिः पुरुरूप ईयते"] बृहदा० २।५।१६ ["अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां"] इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है, ["मीयतेऽनया इति माया"]=जिससे सम्पूर्ण पदार्थ कार्य्याकार को प्राप्त होते हैं उसका नाम ["माया"] है, इसके अर्थ उक्त वाक्यों में मिथ्या के नहीं किन्तु सत्पदार्थ के हैं, इसी प्रकार [" न जायते इत्यजा']=जो उत्पन्न नहीं उसका नाम ["अजा"] है, और यह अजा शुक्ल, कृष्ण तथा लोहित वर्ण वाली इसलिये कथन कीगई है कि सत्व=शुक्ल, रज=लोहित, तम=कृष्ण, इन तीनों गुणों वाली है, वैदिकों के मत में यह प्रकृति अनादि

अनन्त है और नवीन वेदान्ती उक्त प्रकृति तथा परमाणुओं का खण्डन करके माया को जगत् का उपादान कारण मानते हैं, इनके मत में माया के अर्थ मिथ्या के हैं और वह प्रकृति तथा परमाणुओं के समान कोई भाव पदार्थ नहीं, उसीसे निराकार ब्रह्म साकार बन जाता है, इस स्थलमें नवीन वेदान्ती मायावाद को इसप्रकार सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मवादी पर जो यह दोष लगाया जाता है कि निराकार ब्रह्म सारा ही जगत्रूप बन गया किंवा आधा? यदि सारा ही बन गया तो अब शेष ब्रह्म नहीं रहा जिसके साथ मिलकर जीव ब्रह्म बने, यदि उसका कुछ भाग जगत्रुप बन गया तो ब्रह्म निराकार न रहा? इसका उत्तर यह देते हैं कि प्रकृतिवादी भी तो प्रकृति को निराकार मानते हैं उनके मत में भी यह दोष समान है, और यदि परमाणुओं को निरवयव माना जाय तो दो के मिलने से कार्य में स्थूलता नहीं होनी चाहिये, और यदि साकार मानें तो परमाणु नित्य नहीं हो सकते, क्योंकि साकार पदार्थ नित्य नहीं होता, इस पर वाचस्पतिमिश्र भामती में यह लिखते हैं कि ["एष दुर्वारो दोषो न पुनरस्माकं मायावादिनां"] ब्र०सू० २।१।२६=यह दोष परमाणु तथा प्रकृति को कारण मानने वालों के मत में दुर्वार है और हमारे मत में यह दोष नहीं, क्योंकि हमारे मत में जगत् माया का परिणाम और रज्जुसर्प के समान ब्रह्म का विवर्त्त है, और जो निराकार है वह जगत्रूप नहीं होसकता, इसलिये निराकार से साकार होने का दोष नहीं आता और माया जिससे यह जगत् बना है उसको न सत् कह सकते हैं और न असत्, न निराकार और न साकार अर्थात् सत्यासत्य, निराकार साकारादि सब धर्मों से विलक्षण अनिर्वचनीय है इसी विषय में शङ्करभाष्य के टीकाकार स्वामी गोविन्दानन्दजी अपने

"रत्नप्रभा" नामक ग्रन्थ में यों लिखते हैं कि "मायावादे स्वप्नवत्सर्वं समञ्जसम्" मायावाद में स्वप्न के समान सब ठीक हो सकता है अर्थात् जिस प्रकार एकमात्र चेतन द्रष्टा ही स्वप्न में सब पदार्थों को रच लेता है इसी प्रकार निराकार ब्रह्म अपनी मायाशक्ति से सब संसार को रच लेता है इसमें कोई दोष नहीं, इसी विषय पर भामतीकार वाचस्पतिमिश्र यह लिखते हैं कि "अनेनस्फुटितो मायावादः, स्वप्नदृगात्मा हि मनसैव स्वरूपानुपमर्देन रथादीन् सृजति" = "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" ब्र० सू० २।१।२८ इस सूत्र से मायावाद स्फुट हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न का द्रष्टा अपने मन से ही बिना किसी परिणाम के स्वप्नसृष्टि को रच लेता है इसी प्रकार ब्रह्म मायाशक्ति से सृष्टि को रचता है इसी का नाम "मायावाद" है और मायावादियों को नवीन वेदान्ती इस लिए कथन किया जाता है कि यह मत वेदान्त के प्राचीन ग्रन्थों से नहीं निकलता, यदि यह उपनिषद् तथा सूत्रों का अनुसारी होता तो "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" ब्र० सू० २।२।२८ इस सूत्र में इस बात का खण्डन न किया जाता कि यह संसार स्वप्न के तुल्य नहीं क्योंकि स्वप्न पदार्थों में और इस संसार के पदार्थों में अत्यन्त भेद पाया जाता है स्वप्न के पदार्थ निद्रादोष मिट जाने से मिट जाते हैं और सांसारिक पदार्थ इनकी मानी हुई माया के मिट जाने से नहीं मिटते, इससे सिद्ध है कि मायावाद सूत्रानुसारी नहीं, और इसकी सिद्धि में जो "आत्मनि०" सूत्र का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म स्वप्नद्रष्टा के समान संसार को अपनी अविद्या से रच लेता है यह सूत्र के अर्थ नहीं किन्तु यह अर्थ हैं कि परमात्मा

में विचित्र शक्तियां हैं इसलिये वह विना हाथ पांव से ही कर्त्ता हो सकता है जैसा कि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है, इस सूत्र में स्वप्न का नाम तक नहीं केवल मायावादियों ने इसको मायावाद की सिद्धि के लिये स्वप्नविषयक वर्णन किया है, इसी प्रकार इन्होंने "स्वपक्षदोषाच्च" ब्र० सू० २।१।२९ इस सूत्र के भाष्य से मायावाद सिद्ध किया है जिस पर स्वा० शंकराचार्य अपने भाष्य में यह लिखते हैं कि "परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः" ब्रह्मवादी ने अपने पक्ष में दोषों को हटा दिया अर्थात् माया मान कर यह सिद्ध कर दिया कि यह जगत् माया का परिणाम और चेतन का विवर्त्त है अर्थात् जिस प्रकार दूध परिणाम को प्राप्त हो कर दधिरूप बन जाता है इसी प्रकार माया का परिणाम होकर यह जगत् बनता है, इनका यह कथन परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि जब यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, या यों कहो कि यह कुछ नहीं, ब्रह्म ही रज्जुसर्प के समान जगदाकार प्रतीत हो रहा है तो फिर परिणाम मानने की क्या आवश्यकता? यदि यह कहा जाय कि विवर्त्त में भी अविद्या परिणाम को प्राप्त होकर सर्पाकार हो जाती है तो रज्जुनिष्ठ सर्प विवर्त्त का उदाहरण नहीं रहता किन्तु वास्तव में अन्यथा हो जाने के कारण परिणाम का उदाहरण बन जाता है, इस प्रकार इनके विवर्त्तवाद तथा परिणामवाद की समीक्षा करने से ग्रन्थ अति गूढ़ हो जाता है इसलिये इनके निजसिद्धांत का ही कथन करते हैं जिसमें यह जगत् को रज्जु सर्प के समान भ्रांतिभूत मानते हैं किसी भाव वस्तु का परिणाम नहीं, जैसाकि "मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूप-

त्वात्" ब्र० सू० ३।२ ३ इस सूत्रके इन्होंने यह अर्थ किये हैं कि स्वप्नसृष्टि मायामात्र ही है, उसमें सच्चाई का गन्ध भी नहीं, इनका यह कथन परिणामवाद के अत्यन्त विरुद्ध है, क्योंकि जब इस संसार में सच्चाई का गन्ध भी नहीं तो फिर यह माया का परिणाम कैसे? और "मीयते ज्ञायतेऽनया इति माया" जिससे जाना जाय उसका नाम माया है, इस व्युत्पत्ति से यहां "माया" शब्द के अर्थ अन्यथा ज्ञान के हैं, इससे सिद्ध होता है कि यह मत सूत्रानुसारी नहीं और जो मायावादियों का यह कथन है कि "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" बृहदा० ४।३।१० स्वप्न में न रथ न घोड़े और न सड़कें होती हैं किंतु जीवात्मा इन सबको रच लेता है, इससे मायवाद स्पष्ट सिद्ध है? इसका उत्तर यह है कि वह स्वप्न में वस्तुतः हाथी घोड़ों को नहीं रच लेता किंतु उसको रथ घोड़ों का अन्यथा ज्ञान होता है इसलिये इससे मायावाद सिद्ध नहीं होता, ग्रन्थ गौरव भय से मायावाद की अधिक समीक्षा न करके अब हम संक्षेप से यह दर्शाते हैं कि रज्जु सर्प के समान जगत को मिथ्या सिद्ध करने के लिये उपनिषदों में भी 'माया' शब्द नहीं आया प्रत्युत "मीयते व्याक्रियतेऽनया इति माया" जिस उपादान रूप प्रकृति से जगत् कार्याकार होता है उसका नाम "माया" है, और कई स्थलों में यह शब्द ज्ञान के लिये भी आया है, जैसाकि "अधारयत् पृथिवीं विश्वधाय समस्तभनान् माययाद्यामवस्रसः" इस मन्त्र में "माया" शब्द बुद्धि के लिये भी आया है, और इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इस मन्त्र में "माया" शब्द शक्ति के लिये आया है इत्यादि, एवं पूर्वोत्तर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह शब्द कहीं

भी मिथ्या के लिये नहीं आया जिससे उक्त मत की सिद्धि हो, इसलिये माया- वाद वेद उपनिषद् तथा सूत्रानुसारी नहीं, इन नवीन वेदान्तियों ने इस मत की नवीन कल्पना करके नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा को अविद्या कूप में डाल कर जीवभाव को प्राप्त करा दिया है सो ठीक नहीं, यह कल्पना पहले-पहल "गौड़पादाचार्य" ने अपनी रचित कारिकाओं में की है, जैसा कि—

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवाऽमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च।२

अर्थ—जिस प्रकार स्वप्न के जीव स्वप्न में ही उत्पन्न होते और स्वप्न में ही मर जाते हैं इसी प्रकार यह जाग्रत के जीव हैं भी और नहीं भी हैं अर्थात् मायामात्र से हैं और वास्तव में सब ज्यों के त्यों बने-तने ब्रह्म हैं। और—

आत्माह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः
घटादिवच्चसंघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्। ३
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥४॥

माण्डू० का० वैत० प्रक०

अर्थ—जिस प्रकार उपाधिभेद द्वारा महाकाश से घटाकाश बन जाता है इसी प्रकार ब्रह्म से माया की उपाधियों द्वारा जीव बन जाते हैं और घटादिकों के नष्ट होने से जैसे घटाकाश आकाश में लय हो जाता है इसी प्रकार उक्त उपाधियों के लय

हो जाने पर जीव ब्रह्म में मिल जाते हैं। इस प्रकार मायावादियों ने ब्रह्म को अविद्यारूपी कूप में डालकर जीव बनाया है, इनकी यह कल्पना ठीक नहीं क्योंकि घटाकाश के समान ब्रह्म का जीव हो जाना वेद में कहीं भी निरूपण नहीं किया गया किन्तु ["द्वासुपर्णा सयुजा सखाया"] [" ज्ञा ज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादि मंत्रों तथा वाक्यों में जीव को ब्रह्म से भिन्न अनादि कथन किया है और ["नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः"] ब्र० सू० २। ३। १८ इत्यादि सूत्रों में जीवात्मा को नित्य कथन किया गया है कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता तथा ["नित्यो-नित्यानां चेतनश्चेतनानां"] इत्यादि वाक्यों में परमात्मा से भिन्न जीव की नित्यता और चेतनता वर्णन की गई है, इससे सिद्ध है कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता फिर उसको घटाकाश के समान उत्पत्तिविनाशशाली मानना शास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है, और युक्ति यह है कि जब प्रयोजनवत्वाधिकरण में वैषम्य नैघृ ण्य दोष के परिहारार्थ स्वामी शङ्कराचार्य्य ने कर्मों को प्रवाहरूप से और जीव को स्वरूप से अनादि माना है तो फिर जीव घटाकाश के समान उत्पत्ति विनाश वाला कैसे हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि वहां जीव को ब्रह्मरूप होने के अभिप्राय से अनादि कथन किया है वास्तव में उपाधिविशिष्ट जीव घटाकाश के समान उत्पत्ति विनाश वाला है ? इस का उत्तर यह है कि यदि जीव को उपाधिविशिष्ट मान कर सादि सान्त माना जाय तो अकृताभ्यागम तथा कृतप्रणाशरूप दोष आते हैं, किये हुए कर्मों का न लगना ["अकृताभ्यागम"] दोष कहाता है अर्थात् जो कर्म्म नहीं किये उनका फल इस शरीर में आकर ब्रह्मरूप जीव को भोगना पड़ेगा और किये हुए कर्मों के नाश का नाम ["कृतप्रणाश"] है अर्थात् जब

अविद्यारूप उपाधि मिटकर जीव ब्रह्म में मिल जायगा तो उक्त दोष लगेगा, इस प्रकार दोषों के पाये जाने से जीव घटाकाश के समान सादिसान्त नहीं, इसी अभिप्राय से महर्षि व्यास ने ["न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च"] ब्र० सू० २ । १ । ३५ इत्यादि सूत्रों में युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है कि जीव अनादि है और ["प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"] गी० १३ । १६ इत्यादि श्लोकों में भी जीव तथा प्रकृति को अनादि सिद्ध किया है, फिर "गौड़पादाचार्य्य" का मायावाद पर यह बल देना कि:—

नेहनानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥
स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टे वेदान्तेषु विचक्षणैः ।

अर्थ—इस संसार में नानापन कुछ नहीं, इस कथन से और परमात्मा माया से बहुत रूपों को धारण करलेता है, इत्यादि वाक्यों में माया शब्द स्पष्ट पाया जाता है इससे मायावाद सिद्ध है, और स्वप्न माया तथा गन्धर्वनगर के समान यह सम्पूर्ण संसार मिथ्या है, यह कथन मायावाद को इस लिये सिद्ध नहीं करता कि उक्त श्लोकों की प्रतीकों में ['माया'] शब्द मिथ्या का प्रतिपादक नहीं किन्तु ब्रह्म की शक्ति का प्रतिपादक है, जैसाकि हम पीछे कथन कर आये हैं, इसलिये इनका संसार को गन्धर्वनगर के समान मिथ्या कथन करना सर्वथा अवैदिक है, अधिक क्या ["गौड़पादाचार्य्य"] के कथन किये हुए मायावाद को मायावादी सब आचार्य्यों ने

अपने २ ग्रन्थों में निरूपण किया है, बृहदारण्यकोपनिषद् पर वार्तिक लिखने वाले ["सुरेश्वराचार्य्य"] इस मायावाद को बृहदा० ४ । ४ में इस प्रकार वर्णन करते है कि :—

स्वस्वामित्वादि सम्बन्धस्तथा नास्याद्वितीयतः
यत्र हि द्वैतमित्येवं तथा च श्रुतिशासनम्॥
जन्यादयो विकारा ये सम्बन्धाश्चापि ये मताः
अविद्योपप्लुतस्यैव ते सर्वे स्युर्न स्वतः ॥

अर्थ—इस सृष्टि का स्वामी ईश्वर नहीं कथन किया जासकता, क्योंकि जब वह अद्वितीय है तो कौन किसका स्व और कौन स्वामी, इससे सिद्ध है कि यह स्वस्वामीभाव, जन्मादि विकार तथा जन्यजनकभाव सम्बन्ध यह सब अविद्याकृत कल्पित हैं ब्रह्म में नहीं, इस प्रकार सुरेश्वराचार्य्य ने इस सारे संसार को आविद्यक सिद्ध किया है कि ब्रह्माश्रित अविद्या से यह सब संसार बना है वास्तव में कुछ नहीं, इसी भाव को निम्न लिखित वार्तिक में इसप्रकार वर्णन किया है कि :—

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादान कारणं
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्मकारणमुच्यते ॥

अर्थ—इस द्वैतेन्द्रजालरूप संसार का अज्ञानोपाधिवाला ब्रह्म कारण है, इस प्रकार मायावादी लोग ब्रह्म में अज्ञान मानकर जगत की उत्पत्ति कथन करते हैं, माया, अविद्या तथा अज्ञान और प्रकृति इनके मत में एक ही पदार्थ के नाम हैं, जैसाकि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने वर्णन किया है कि ["अविद्या-

कल्पिते नामरूपे तत्वाऽन्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्च बीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य माया शक्ति प्रकृतिरिति च श्रुति स्मृत्योरभिलप्येते"] ब्र०सू०२।१। १४ शं० भा०=अविद्या ही इस संसाररूप प्रपंच का बीज है उसीको प्रकृति कहते हैं, यह बात श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है, इस प्रकार इन्होंने इस संसार को आविद्यक माना है वास्तव में यह अविद्याकृत नहीं किन्तु परमात्मा ने जीवों के पूर्वकर्मानुसार परमाणुओं द्वारा इस संसार को रचा है अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर के प्रयत्न से दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है उससे द्व्यणुक की उत्पत्ति फिर तीन द्व्यणुकों के संयोग द्वारा त्र्यणुक की चार त्र्यणुकों के संयोग से चतुरणुक की और चतुरणुक से पञ्चाणुक की इस प्रकार स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और सांख्य, योग तथा वेदान्त इसी परमसूक्ष्म परमाणुरूप कारण को प्रकृति नाम से कथन करते है, प्रकृति, अव्याकृत तथा माया यह पर्य्याय शब्द हैं, प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहङ्कार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा=शब्द, स्पर्श,रूप,रस,गन्ध और इनसे पृथिवी आदि पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है यह सृष्टि उत्पत्ति में शास्त्रकारों की प्रक्रिया है इसमें अविद्या के उपादानकारण होने का कहीं नाम तक नहीं, क्योंकि अविद्या, भ्रम, भ्रान्ति, विपर्य्ययज्ञान और मिथ्याज्ञान यह एकही पदार्थ के नाम हैं और ऐसी अविद्या भावकार्य का उपादान कैसे होसकती है ? और जो यह प्रश्न किया गया था कि निरवयव प्रकृति तथा परमाणुओं से सावयव जगत् कैसे उत्पन्न होसकता है ? इसका उत्तर यह है कि परमाणु इस अभिप्राय से निरवयव हैं कि उनमें किसी अन्य अवयव का जोड़ नहीं वह स्वयं अवयवरूप हैं इसलिये द्व्यणुकादिक्रम से संसार के आरम्भक होसकते हैं,

यदि यह कहाजाय कि उस अवयवरूप परमाणु का भीतर बाहर हो सकता है फिर नित्य कैसे ? इसका उत्तर यह है कि भीतर बाहर कार्य्यद्रव्य का होता है कारणद्रव्य का नहीं, इसलिये उनको नित्य मानना ही युक्त है, और यदि परमाणुओं को उनके अन्य अवयवान्तर मानकर अनित्य मानाजाय तो उनके सूक्ष्म विभाग करते २ कहीं भी स्थिति न होगी, जैसाकि एक ओर हिमालय का विभाग करने लगें ओर एक सर्षप के दाने का विभाग करें तो उन दोनों की विभाग करने में स्थिति न होना बराबर चलनी चाहिये पर ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि यह स्थूल ब्रह्माण्ड परमाणुरूप हो कर ठहर जाता है फिर उनका आगे विभाग नहीं होता, इसलिये परमाणुओं को अनित्य कथनकरना ठीक नहीं, जो इनकी नित्यता की साधक युक्तियों को विशेषरूप से देखना चाहें वह ["न प्रलयोऽणु-सद्भावात्"] न्या० ४ । २ । १६ इत्यादि सूत्रों के ["न्यायार्य्य-भाष्य"] में देखलें, यहां पुनः विस्तार की आवश्यकता नहीं, और जो यह कहा गया था कि निराकार प्रकृति से सावयव जगत् कैसे बना ? इसका उत्तर यह है कि प्रकृति आत्मा के समान निराकार नहीं किन्तु सत्व, रज, तम यह तीन उसके आकार हैं और इन्हीं आकरों द्वारा वह महत्तत्वादि क्रम से संसाररूप में परिणत होजाती है इसलिये कोई दोष नहीं, इसका विशेष विचार ["सांख्यार्य्यभाष्य"] में किया गया है।

भाव यह है कि उक्त प्रकार से प्रकृतिरूप उपादान कारण द्वारा परमात्मा इस जगत् का कारण है और वह ['य आत्म-नि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्"] बृहदारण्यक के इत्यादि वाक्यों में वर्णित सर्वनियन्ता होने के कारण जीव तथा प्रकृति का स्वामी है, यदि मायावादियों के

समान उसका स्वस्वामीभाव कल्पित होता तो ["पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति"] ["स कारणं कारणाधिपाधिपः" । ["तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति"] ["ज्ञा ज्ञौ द्वावजवीशनीशौ"] ["प्राज्ञेनात्मतासंपरिश्वक्तः"] ["प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः"] ["अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः"] ["प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः"] ["नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्"] ['यो व्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद"] ["योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद"] ["यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युर्न वेद"] इत्यादि वेद तथा उपनिषद् वाक्यों में उसका जीव प्रकृति से तात्विक भेद निरूपण न किया जाता, इससे सिद्ध है कि जीव, ईश्वर तथा प्रकृति यह तीनों पदार्थ स्वरूप से भिन्न हैं, इनमें परमात्मा सर्वगत, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी तथा आनन्दस्वरूप, प्रकृति जड़ तथा परिणामी नित्य और जीव परिच्छिन्न तथा सच्चिद्रूप हैं, ['ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति',] इत्यादि वाक्यों में उसका ब्रह्मभाव अपहतपाप्मादि धर्मों के धारण करने से निरूपण किया गया है अर्थात् ब्रह्म के आनन्द तथा निष्पापादि गुणों को धारण करने के कारण यह कथन किया है कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है और जो ['ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं'] मुण्ड० २ । २ । ११ यथानद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति"] मुण्ड० ३ । २ । ८ ["स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति"] प्रश्न० ६ । ५ इत्यादि वाक्यों में जगत् तथा जीव का समानाधिकरण निरूपण किया गया है वह ब्रह्म के सर्वाधार होने के अभिप्राय से किया है, जगत् तथा जीव के

अस्तित्व को मिटाकर मायावादियों के मतानुसार बाधसमानाधिकरण के अभिप्राय से नहीं, कल्पित का बाध करके उसको अधिष्ठानरूप मानने का नाम ["बाधसमानाधिकरण"] और जहां घटाकाश का महाकाश से अभेद किया जाय वहां उसका नाम [मुख्यसमानाधिकरण"] है अर्थात् उक्त वाक्यों में जीव और जगत् का ब्रह्म के साथ मुख्यसमानाधिकरण तथा बाधसमानाधिकरण निरूपण नहीं किया गया किन्तु सर्वगत ब्रह्म के साथ इस संसार तथा जीव का आधाराधेयभाव निरूपण किया गया है, या यों कहो कि एकमात्र परमात्मा ही इस जगत् का आधार है अन्य नहीं, यह भाव उन लोगों की बुद्धि में कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता जिन्होंने मायावाद के टीकाओं को पढ़ा है उनके हृदय में यही भाव उत्पन्न होता है कि जिस प्रकार नदियें समुद्र में जाकर समुद्र बन जाती हैं तथा घटोपाधि के मिटाने से घटाकाश का महाकाश से कोई भेद नहीं रहता और जिस प्रकार स्थाणु में पुरुष भ्रान्ति मिटकर कल्पित पुरुष का स्थाणु से अभेद हो जाता है इसी प्रकार उक्तवाक्य पदार्थमात्र की कल्पना मिटाकर एकमात्र ब्रह्म को सिद्ध करते हैं, इस मत में पुण्य पाप की कोई व्यवस्था न रहने के कारण सत्यासत्य तथा साधु चोर सब ब्रह्मरूप होने से यह उपनिषदों का अर्थ नहीं किन्तु अनर्थ है, इसी अनर्थ की निवृत्ति के लिये हमने ["आर्यभाष्य"] का निर्माण किया है, यद्यपि इस अनर्थ को मध्वाचार्य तथा रामानुजाचार्य जो द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के भाष्यकार हैं उन्होंने भी मिटाया है तथापि सर्वात्मवाद के वाक्यों में उक्त आचार्यों ने अर्द्धजर्तीय न्याय से कई एक स्थलों में मायावादियों के मत को ही अवलम्बन किया है, इसलिये आवश्यकता थी कि हम उक्त वाक्यों की मीमांसा के लिये इस

भाष्य का निर्माण करें, भाष्य का प्रकार यह है कि ["ईशा-वास्यमिदं सर्व" से प्रारम्भ करके तैत्तिरीयोपनिषद् के ["अहमन्नमहमन्नमहमन्न"] तक आठ उपनिषदों का पद पदार्थ सहित पूर्ण रीति से भाष्य किया गया है।

["ईशोपनिषद्',]="ईशा" इस तृतीयान्त पद से प्रारम्भ किये जाने के कारण इस का नाम ["ईशोपनिषद्"] है जिसके अर्थ यह हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से परिपूर्ण है, और इसका दूसरा नाम ["वाजसनेयोपनिषद्"] इसलिये है कि इसमें वाजसनेय संहिता यजुर्वेद का ४० वां अध्याय उद्धृत किया गया है, केवल भेद इतना है कि ["हिरण्मयेन पात्रेण"] इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में वेद में यह पाठ है कि ["योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्;'] तथा उपनिषद् में इसके स्थान में यह पाठ है कि ["तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्मायदृष्टये"] और इससे आगे ["पूषन्नेकर्षे"] यह पाठ लिखकर ["योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"] यह पाठ लिखा है, इस प्रकार किञ्चिन्मात्र पाठ का भेद है अर्थ प्रायः दोनों का एक ही है, और मन्त्रों के आगे पीछे होने का भी भेद है, अन्य कोई विशेष भेद न होने के कारण इसको उक्त नाम से कथन किया गया है, "वाजसनि" नाम सूर्य और उससे अध्ययन करने के कारण 'वाजसनेय" नाम याज्ञवल्क्य का है, याज्ञवल्क्य द्वारा इसके अर्थों का प्रकाश किये जाने के कारण इस संहिता का नाम ['वाजसनेय" है। पौराणिक प्रथानुसार वाजसेनयसंहिता इसको इसीलिये कहा जाता है कि एक समय वेदव्यास का शिष्य वैषम्पायन याज्ञवल्क्य पर क्रुद्ध होकर कहने लगा कि हमारा पढ़ाया हुआ वेद त्याग दो, उसने योगज सामर्थ्य से अध्ययन किये हुये वेद का उद्वमन कर दिया और वैशम्पायन

के शिष्यों ने तित्तर बनकर उसको चुन लिया इसलिये उसका नाम तैत्तिरीय शाखा वाला "कृष्ण यजुर्वेद" पड़ा और फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना करके सूर्य से ही वेद पढ़ा उसका नाम "शुक्ल यजुर्वेद" है, हमारे विचार में यह गाथा कल्पना की गई है, जिसका कारण यह है कि जब यजुर्वेद संहिता से मिथ्या बातों को सिद्ध करने का कार्य न चला तब उसी का कुछ पाठभेद करके और उसमें मिथ्या बातों को मिलाकर उसका नाम कृष्ण यजुर्वेद रख दिया और यह प्रथा केवल वेदों को भिन्न करने तक ही नहीं रही किन्तु उपनिषदों में भी स्वार्थी लोगों ने ऐसा ही किया, वस्तुतः प्रामाणिक दश उपनिषद् हैं जिनमें वेद तथा वेदानुकूल वाक्यों का संग्रह है, जब पुण्य पाप को जलाञ्जलि देने वाले मायावादी तथा वेदविरुद्ध गाथाओं के कल्पक पौराणिकों का काम इनसे न चला तो:—

न पुण्य पापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति। न भूमिरापो मम वन्हिरस्ति न चानिलो मेऽस्ति नचांवरं च॥

अर्थ—न पुण्य है न पाप है, न जन्म, न मृत्यु, न देह, न इन्द्रिय, न बुद्धि और न भूमि आदि पांचों तत्व हैं अर्थात् एकमात्र मैं ही हूँ और मेरे में पुण्यपापादि सब मिथ्या हैं, इत्यादि मिथ्यावाक्य मिश्रित कैवल्यादि उपनिषद् बनाकर अपने मनमाने अर्थों को सिद्ध किया, और इस पर ही सन्तुष्ट न रहे किन्तु "गणपति उपनिषद्" "गोपालतापनी" "नृसिंहतापनी" और "रामतापनी" आदि मनमानी अनेक उपनिषदें बना कर अपने मनोरथ को सिद्ध किया ऐसे ही समय में तैत्तिरीयशाखा

रूप कृष्ण यजुर्वेद की कल्पना की गई है, सत्य यह है कि याज्ञवल्क्य ने "वाजसनि" नामवाले आचार्य से यजुर्वेद संहिता को पढ़ा और वाजसनि का शिष्य होने के कारण याज्ञवल्क्य का नाम वाजसनेय पड़ा, उसके द्वारा प्रचार किये जाने से इसका नाम ["वाजसनेय"] भी है [और ["शाखा"] के अर्थ यह हैं कि जब कोई ऋषि किसी वेद में पूर्ण अभ्यास करके उसके अर्थ का प्रकाश करता है तो वह अर्थ उसके नाम से प्रसिद्ध होने के कारण उसकी ["शाखा"] कही जाती है, याज्ञवल्क्य का यजुर्वेद में परिश्रम करना यहां तक प्रसिद्ध है कि इसी के अभ्यास से उक्त ऋषि ने शतपथ ब्राह्मण का निर्माण किया जिसका प्रमाण महाभारत में पायाजाता है अस्तु, प्रकृत यह है कि] ईशावास्योपनिषद् में ईश्वर की सर्वव्यापकता कथन करके यह विधान किया है कि मनुष्य किसी के अधिकार को न छीने, क्योंकि ईश्वर परिपूर्ण होने से उसके इस दुष्कर्म को जानता है, और दूसरे इस बात का विधान किया है कि पुरुष ईश्वराज्ञानुकूल कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे इससे इस बात को सूचित करदिया कि जो लोग अवैदिक संन्यास की शरण लेकर यह कथन करते हैं कि :—

यही चिन्ह अज्ञान को जो मानत कर्तव्य ।
सोई ज्ञानी सुघड़ नर जाको नहि भवितव्य ।।

अर्थ - अपने लिये कुछ कर्तव्य समझना अज्ञान का चिन्ह है चतुरज्ञानी वही है जिसके लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं, इस प्रकार निष्कर्मता द्वारा जो अपने आपका हनन करते हैं उनका खण्डन द्वितीय मन्त्र में बलपूर्वक कियागया है, इस प्रकार उपक्रम करके उक्त परमात्मस्वरूप को इस प्रकार वर्णन किया

है कि वह एक है, अचल है, सदा एकरस है, उसी के आश्रित यह सम्पूर्ण लोकलोकान्तर ठहरे हुए हैं, अज्ञानी लोग उसके सशरीरी होने की नाना प्रकार से कल्पना करते हैं, कोई कहता है कि वह आदि सृष्टि में चतुर्मुख ब्रह्मा होकर इस सृष्टि को रचता है, कोई कहता है कि हिरण्यगर्भ होकर सृष्टि रचता है इत्यदि कल्पना करने वाले सब अन्धकार में पड़े हुए हैं।

और जो पुरुष यह समझता है कि सम्पूर्ण लोकलोकान्तर उस में ओतप्रोत हैं और उन सब का एकमात्र नियन्ता परमात्मदेव है वह कभी शोक मोह के वशीभूत नहीं होता. इस प्रकार इसमें परमात्मा के निराकार स्वरूप का बारम्बार अभ्यास कियागया है कि वह शरीर रहित है, नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव है और वही परमात्मा इस सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करता है, जो इसके स्वरूप को भूल कर विपरीत की उपासना करते हैं वह अविद्या ग्रसित हैं इस प्रकार परमात्मा के स्वरूप को वर्णन करके उसके साथ जिज्ञासु का योग कथन किया है कि जो पुरुष उस परमात्मदेव को आत्मत्वेन अनुभव करके निष्पापतादि धर्मों को धारण करता है वही अमृतभाव को प्राप्त होता है अन्य नहीं, और इस अर्थ में अपूर्वता यह है कि उक्त परमात्मतत्व का ज्ञान बिना वेद प्रमाण के नहीं होसकता, इसलिये वेद प्रमाण द्वारा परमात्मतत्व को निरूपण किया गया है और अन्त में उसी परमात्मा से यह प्रार्थना की है कि हे ज्ञानस्वरूपपरमात्मन्! हमको ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये शुभ मति दीजिये और हमारे पापमय संस्कारों को दूर कीजिये ताकि हम आपके आनन्द का उपभोग करें, इस प्रकार इस ग्रन्थ में उपक्रम उपसंहार द्वारा एकमात्र परमात्मा को ही उपास्य देव

कथन किया है और [जो मायावादी इसमें यह अपूर्वता वर्णन करते हैं कि "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" इस वाक्य द्वारा जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की गई है, यदि इस ग्रन्थ में यह अपूर्वता होती तो अन्त में ईश्वर से प्रार्थना न की जाती क्योंकि जब उनके मत में उपास्य उपासक एक हो गये तो फिर कौन उपास्य और किसकी उपासना? उक्त प्रकार से उपास्य उपासक भाव पाये जाने से स्पष्ट है कि अभेद की सिद्धि यहां प्रतिपाद्य नहीं किन्तु उपास्य- उपासक भाव प्रतिपाद्य है, और जो उक्त अभेद बोधक वाक्य कथन किया गया है उसका तात्पर्य तद्धर्मतापात्तियोग द्वारा ईश्वर के गुणों को लाभ करके अहंभाव से कथन है, एवं] पूर्वोत्तर विचार करने से (१) उपक्रम उपसंहार (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल=अमृतभाव रूप मुक्ति (५) अर्थवाद=उस मुक्तिरूप फल को अमृत पद द्वारा उपाचार से नित्य कथन करना (६) उपपत्ति=तद्धर्मतापत्ति रूप योग से ही लौकिक तथा अलौकिक आनन्द का लाभ होना, इन षट्विध लिङ्गों से भी इस उपनिषद् का तात्पर्य ईश्वर प्राप्ति में ही है, मायावादियों के समान नित्यप्राप्त की प्राप्ति रूप स्वयं ब्रह्म बनने में नहीं।

"केनोपनिषद्" 'केन" इस तृतीयान्त पद से आरम्भ किये जाने के कारण इसका नाम 'केनोपनिषद्" है और सामवेद की तलवकार शाखा के अन्तर्गत होने के कारण इसको 'तलवकारोपनिषद्" भी कहते हैं, इस शाखा के 'तलवकार" नाम का कारण यह प्रतीत होता है कि जिस ऋषि ने सामगायन समय में हस्तचालन द्वारा सामवेद के उदात्तादि स्वरों का बोध कराया उसीके नाम से अथवा उसी को

शाखा का नाम तलवकार शाखा हुआ। इन शाखाओं का भेद का प्रतिपादन तथा इनके ग्रन्थों का निर्देश करना कठिन है क्योंकि यह शाखायें प्रायः लुप्त हो चुकी हैं केवल इतना ही कह सकते हैं कि उक्त नाम वाले ऋषि ने इसका प्रचार किया अस्तु इस उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय अवाङ्मनसगोचर एकमात्र ब्रह्म है और उसको इस उपनिषद् में इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है कि उसी की सत्ता को पाकर मन में मननशक्ति होती है, वह चक्षु: का चक्षु: और प्राण का प्राण है हेजीव ! तु एकमात्र उसी ब्रह्म को जान उससे भिन्न की उपासना तेरे लिये कर्तव्य नहीं, उक्त ब्रह्म की प्राप्ति के लिये इस उपनिषद् में तप=तितिक्षा, इन्द्रियों का दमन और वैदिककर्मों का अनुष्ठान यह मुख्य साधन माने गये हैं।

"कठोपनिषद्" इसका यह नाम कठमुनिविशेष के कर्त्ता होने के कारण है अर्थात् कठनामक मुनि ने इसका निर्माण किया है और मुनि की कठ संज्ञा भी अन्वर्थसंज्ञा है जिसके दो अर्थ हैं एक यह कि जिसका तितिक्षादि तपों से कठिन व्रत हो उसका नाम ["कठ"] और दूसरे यह कि जिसकी तीव्रस्मृति हो उसका नाम भी ["कठ"] है, और कठशाखा वालों को ["काठक"] कहते हैं, ज्ञात होता है कि कठ मुनि के नाम से ही शाखा का नाम भी कठ पड़ा है, अस्तु नाम का कोई कारण हो प्रकृत यह है कि इसमें यम और नचिकेता की कथा है, यम के विषय में टीकाकारों के बहुत मत भेद हैं, कइयों का कथन है कि यह यम यमपुरी का राजा था जिसके पास नचिकेता मरकर गया, और कइयों का कथन है कि यम एक देवताविशेष है जो यमपुरी का राजा है वह सूर्य्य

का पुत्र और चित्रगुप्त उसका मंत्री है, यह विचार सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि यदि यह यम यमपुरी का राजा होता और नचिकेता मरकर उसके पास जाता तो फिर वह यह क्यों पूछता कि मुझको यह बतलाओ कि मरणानन्तर क्या होता है क्योंकि स्वयं मरा हुआ नचिकेता तो यम से बात ही कररहा है फिर मृत्यु विषयक सन्देह ही क्या, वस्तुतः बात यह है कि मृत्यु के अलङ्कार से इस उपनिषद् की रचना कीगई है जिस का मुख्य प्रयोजन धर्म की प्रधानता और सांसारिक भोगों की तुच्छता है, इसीलिले यम के वारम्बार प्रलोभन देने पर भी नचिकेता ने परलोक के सन्मुख इन भोगों को तुच्छ ही माना है, वस्तुतः तत्व भी यही है कि जो पुरुष परलोक को मुख्य समझते है और उसकी तुलना से इनको तुच्छ मानते हैं उन्हीं का जीवन सफल है और जो इसके विपरीत इन्हीं प्रलोभनों में फंसे रहते हैं वह वारम्बार इस भवसागर में गोते खाते हैं, या यों कहो कि उन के सिरपर महामोह का ऐसा हाथ फिरा है कि उनको प्रमाद से परलोक प्रतीत ही नहीं होता, जैसाकि कठ० २ । ३५ में वर्णन किया है कि :—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेनमूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति,
मानी पुनः पुनर्वशमापद्यतेमे ।

जब यम के भोगरूप प्रलोभन देने पर भी नचिकेता अपने दृढ़ व्रत से न हटा तब नचिकेता की प्रशंसा करते हुए यम ने कहा कि हे नचिकेतः ! तु धन्य है जो तैंने संसार की प्यारी

से प्यारी वस्तुओं का ध्यान करके भी छोड़ दिया और इस संसाररूप भवसागर के भँवर में बहती हुई धनरूपीमाला जिसके प्रलोभन से इस भवसागर में कोटानुकोटि पुरुष डूब जाते हैं तू इस प्रलोभनरूप लहर में निमग्न नहीं हुआ, इसलिये मैं तुमको अधिकारी समझता हूं पर यह स्मरण रहे कि जो धन के प्रमाद से मूढ़ हैं जिनके ध्यान में यही लोक है परलोक कुछ नहीं और देह त्याग के अनन्तर जिनके ध्यान में आत्मा का अस्तित्व नहीं आता वह बारम्बार मृत्यु की पाश में फँसते हैं, कि महामोह के प्रभाव से उनके यही विचार बने रहते हैं कि:–

जहं खानन पाननहीं सुख है वह मोक्ष कहो कत आवत कामा । परलोक नहीं सुख होय कहां उलटे सुत नार तजावत धामा ।। जगवंचन के हित व्योंत रची जन धूरत वेद धरे तिहिं नामा । श्रद्धा सुन यों पथ वेद तजे सुपखण्डन के वश ह्वै गई वामा ।।

और जो वस्तु विचार करते हैं,या यों कहो कि नित्यानित्य का विवेक जिनके मन में उत्पन्न होता है उनके हृदय में निम्नलिखित भाव उत्पन्न होते हैं:—

भव भोगविलास रहें न सदा इम जीवन आरुणि तुच्छ निहारा । गण इन्द्रिय दाहकरे विषयानल जाय पड़े भवसागर धारा ।।

वस्तुविवेक करें जन जो तिन के मन में यह होत विचारा । जब भौनतजे मुख मौन भजे शठ सूझत तोहि तभी जग सारा ॥

इस प्रकार वस्तु विचार के भाव इस उपनिषद् में बलपूर्वक भरे हैं जिनके अनुष्ठान से पुरुष महामोह के फंदे में कदापि नहीं फँसता क्योंकि वह ऐसा ही वस्तु विचार करता है जैसकि नचिकेता ने कठ० २ । २६ में किया है कि:—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रि-याणां जरयन्ति तेजः, अपि सर्वं जीवित-मल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥

हे यम ! जिन भोगों का तू मुझे लालच देता है वह सदा रहने वाले नहीं और सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करने वाले हैं, अधिक क्या यह जीवन भी अल्प ही है फिर किसकी आस्था में पुरुष उक्त भोगों को अपने जीवन का आधार माने, इसलिये यह राग रंग तथा भोगों को अपने जीवन का आधार माने, इसलिये यह राग रंग तथा गानाबजाना और सवारियें तेरे ही लिये शुभ हों मुझे यह सन्तोष दायक नहीं, मेरे सन्तोष के लिये एकमात्र वही तृतीय वर है जिसका परलोक के साथ सम्बन्ध हैं कि ["मरने के अनन्तर क्या होता है"] परलोक पर श्रद्धा वाले नचिकेता ने उस आत्म वर को लाभ किया जिसके आगे संसार के सब आनन्द तुच्छ हैं और जिसकी प्रभा के आगे सूर्य्य चन्द्रमादिकों की सब प्रभायें निष्प्रभा होजाती हैं, जो प्रकृत्यादि परिणामी नित्यों में नित्य और जो

चेतन जीवों में एकमात्र मुख्य चेतन है उसीको पाकर नचिकेता शाश्वती शान्ति को प्राप्त हुआ, भाव यह है कि इस उपनिषद् में परलोक के सम्बन्ध में जीवात्मा का अस्तित्व कथन करके फिर शान्तिप्रद परमात्मा को तदात्मस्थ सिद्ध किया है इसी का नाम आत्मरति परमात्मप्रीति तथा परमात्मभक्ति है और यह नचिकेता के समान अटल श्रद्धावाले को मिलती है अन्य को नहीं।

और जो मायावादियों ने इस उपनिषद् के विषय में यह प्रसिद्धि की है कि यह एकमात्र अभेद को प्रतिपादन करती है जैसाकि छन्दोबन्दी द्वारा कथन किया है किः—

भेदप्रतीति महादुःख दाता।
यम कठ में यह टेरत ताता॥

अर्थ—भेद की प्रतीति अत्यन्त दुःख जनक है यम ने कठोपनिषद् में यह उपदेश किया है, यह इस उपनिषद् के आशय से अन्यथा वर्णन कियागया है जिसका इसमें गन्ध भी नहीं पायाजाता प्रत्युत इसके विपरीत यह पाया जाता है कि जो परमात्मा प्रकृति तथा जीवों के मध्य नित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन है उसी को आत्मस्थ जानने में शान्ति होती है अन्यथा नहीं।

"प्रश्नोपनिषद्" इस का नाम इसलिये है कि ["सुकेशादि"] छः ऋषि पुत्रों ने पिप्पलाद मुनि के पास जाकर जो प्रश्न किये हैं उनका इसमें प्रश्नोत्तर द्वारा वर्णन होने से इसका नाम ["प्रश्नोपनिषद्"] है, इसमें सृष्टि उत्पत्ति तथा षोडशकल पुरुष परमात्मा का भले प्रकार वर्णन किया है, जो उपनिषद् के आद्योपान्त देखने से भली भांति ज्ञात होगा।

"मुण्डकोपनिषद्" इसका नाम इसलिये है कि यह ब्रह्मविद्या के निरूपण में सब से शिरोमणि है, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि ["मुण्डं एवेति मुण्डकं"]=जो मस्तिष्क= सिर ही हो उसका नाम ["मुण्डक"] है, इसको मस्तिष्क इसलिये माना है कि इसमें पराविद्या प्रतिपाद्य ब्रह्म का भलीभांति निरूपण किया गया है और ब्रह्मवेत्ता का ब्रह्म के धर्मों को लाभ करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होना इसमें भलीभांति कथन किया है जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन ग्रन्थ के देखने से ज्ञात होगा, यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

"माण्डूक्योपनिषद्" इसको इसलिये कहागया है कि ब्रह्मविद्या का मण्डन करने के कारण अथवा गह्वरस्वर होने के कारण एक ऋषिविशेष का नाम "मण्डूक" था, उससे निर्माण की गई उपनिषद् का नाम "माण्डूक्योपनिषद्"है, इसमें "ओ३म्" की तीन मात्राओं का वर्णन भलीभांति कियागया है और तद्भिन्न पदार्थमात्र को ओङ्कार का उपव्याख्यान माना है, इसलिये माया वादियों ने इस पर कारिका निर्माण करके इसको मायावाद का एक मात्र आधार बना दिया है, वस्तुतः यह उपनिषद् ओङ्कार प्रतिपाद्य ब्रह्म को अनुभवानुसारी बनाने के लिये चराचर पदार्थों को ब्रह्म के निरूपकरूप से कथनकरता है अभेद के अभिप्राय से नहीं जिसका वर्ण उपनिषद् में स्पष्ट है।

"ऐतरेयोपनिषद्" "ऐतरे" ऋषि द्वारा निर्माण होने के कारण इसका नाम "ऐतरेयोपनिषद्" है, सर्वात्मवाद के प्रतिपादक इसमें कई एक श्लोक हैं जिनमें मायावादी ब्रह्म को विवर्त्ति उपादान कारण मानकर मायावाद की सिद्धि करते हैं जिसका समाधान भलींभाँति उपनिषद् में किया है, और "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह वाक्य इसी उपनिषद् का है जिसको मायावादी

महावाक्य मानकर जीवब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं, इसका समाधान इसी के भाष्य में कियागया है इसलिये यहां लिखना पिष्टपेषण है।

"तैत्तिरीयोपनिषद्" इसका नाम इसलिये है कि यह वैषम्पायन के उस शिष्य का निर्माण किया हुआ है जिसके विषय में यह अर्थवाद है कि उसने याज्ञवल्क्य के उद्गमन किये हुए वेद को तित्तर बनकर चुना, इस असम्भव गाथा की निर्मूलता तो हम प्रथम प्रकट कर आये हैं कि यह कदापि नहीं होसकता कि कोई ब्रह्मविद्या को तित्तर बनकर अन्न के कणों के समान चुन सके, वस्तुतः बात यह है कि याज्ञवल्क्य के साथ ईर्षा करने से वैषम्पायन के जिस शिष्य को तित्तर की उपाधि मिली उस द्वारा निर्माण किये जाने के कारण इस का नाम "तैत्तिरीयोपनिषद्" है, उसमें तीन बल्ली हैं, प्रथमशिक्षा बल्ली में स्वाध्यायादि कर्तव्यों की शिक्षायें उत्तम रीति से वर्णन की गई है जिनके अनुष्ठान द्वारा पुरुष इस भवसागर से पार हो सकता है द्वितीय ब्रह्मानन्द बल्ली में सदसद्वस्तुओं का निरूपण करके ब्रह्म के आनन्द को सर्वोपरि कथन कियागया है और फिर भृगु वल्ली में ब्रह्म द्वारा ही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय वर्णन की गई है जिसमें मायावादियों ने ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण मान कर पदार्थमात्र को ब्रह्म सिद्ध किया है और अन्त में "अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादः" इस श्लोक में जीव को तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्मभाव की प्राप्ति कथन की गई है कि जब जीव ब्रह्म के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करलेता है और एक मात्र आत्मा में ही क्रीडावाला, आत्मा में रतिवाला होजाता है उस अवस्था में वह ब्रह्म को आत्मत्वेन कथन करता है, जैसा कि "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चिता" इत्यादि वाक्यों में तद्धर्मतापत्ति रूप योग द्वारा ब्रह्मानन्द का

उपभोग कथन किया गया है और उक्त आनन्द को वह उस अवस्था में अनुभव करता है इसलिये आनन्द की मीमांसा में यह वर्णन किया है कि "श्रोत्रियस्यचाकामहतस्य "=उस आनन्द का अनुभव कामनारहित ब्रह्मवेत्ता को होता है, इसी आनन्द के लिए याज्ञवल्क्य ने कहा है कि 'योनाहंना मृतायां किं हन्तेनकुर्याम्" बृहदा०४।५।४= हे मैत्रेयी ! जिन भोगादिकों से मैं अमृत पद को लाभ नहीं कर सकता उनको मैं क्या करूं और इसी आनन्द के लिये राजा जनक ने सांसारिक विभूति को ब्रह्मानन्द के लिये पर्य्याप्त न समझ कर महर्षि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मज्ञान लाभ किया, अधिक क्या उक्त आनन्द का साधन एक मात्र औपनिषद ज्ञान ही है इसलिये हमने उक्त अर्थ को विप्रतिपत्ति रहित करने के लिये उपनिषदों पर "आर्य्य भाष्य " निर्माण किया है जिस में सर्वात्मवाद के वाक्यों की व्याख्या तथा मायावादियों के मत की समीक्षा भलीभांति कीगई है और इस मत की पूर्ण प्रक्रिया "बृहदारण्यक" तथा छान्दोग्य' के भाष्य में विस्तारपूर्वक लिखीजायगी ।

(१)—मायान्तु प्रकृतिं विद्धि मायाविद्येति वाक्यतः
वाक्याभासो निराकारि मायावादिप्रदर्शितः ॥
(२)—नच वेदान्त सिद्धान्ते मायामिथ्येति भण्यते ।
मुनिना वर्णिता सम्यङ् मायावादमृषात्मता ॥
(३)—सर्वात्मवादवाक्यानामर्थाभासा निराकृताः ।
वक्ष्यते चान्यवाक्यानां छान्दोग्याद्यार्य्यभाषणे ।
(४)—द्वैताद्वैतविवेकार्थमार्य्यभाष्यं विनिर्मितम् ॥
पठ्यतामार्य्यविद्वद्भिरार्य्यधर्मैकभूषणम् ॥

———

आर्य्यमुनिः

* ओ३म् *

उपनिषदार्य्यभाष्य की विषयसूची

ईशोपनिषद्

केनोपनिषद्

कठोपनिषद्

विषय — पृ०

विषय पृ०

प्रश्नोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद्

विषय	पृ०

ऐतरेयोपनिषद्

विषय पृ०

तैत्तिरीयोपनिषद्

विषय	पृ०

शमिति

॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद्

---❀---

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

पद०—ईशा। वास्यम्। इदम्। सर्वम्। यत्। किञ्च। जगत्यां। जगत्। तेन। त्यक्तेन। भुंजीथाः। मा। गृधः। कस्य। स्वित्। धनम्।

अर्थ

यत्=जो
किञ्च=कुछ
जगत्यां=चराचर जगत् है
इदं=यह
सव=सब
ईशा=ईश्वर से
वास्यं=व्याप्त है
तेन=इसको
त्यक्तेन=वैराग्यभाव से
भुंजीथाः=भोग
कस्य, स्वित्=किसी के भी
धनं=धन की
मा, गृधः=इच्छा मत कर।

भाष्य—इस मंत्र में ईश्वर की सर्वव्यापकता बोधन की गई है कि परमात्मा इस सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्यापक है

उससे रिक्त एक अणुमात्र भी नहीं, इसलिये पुरुष को चाहिये कि उसकी व्यापकता का अनुसन्धान करता हुआ किसी पाप को भी छिपाकर करने का साहस न करे और नाही किसी के धन-हरण की इच्छा करे, ["धन"] शब्द यहां पापमात्र का उपलक्षण है अर्थात् ईश्वर को सर्वगत मानकर पुरुष को कभी किसी पाप में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

कई एक टीकाकार उक्त मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि यह सब कुछ ईश्वर से ही आच्छादित है इसलिये जगत् के भाव को छाड़कर भोग करे अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही विवर्त्त है=ब्रह्म ही अन्यथा प्रतीत हो रहा है, इसलिये अनात्म-भाव को छोड़कर आत्मभाव से भोग करना चाहिये, यह अर्थ मायावादियों का है जिनके मत में सब जगत् भ्रममात्र है, उक्त अर्थ मंत्र के अक्षरों से सर्वथा निस्सार प्रतीत होता है, क्योंकि मंत्र में जगत् को भ्रम कथन नहीं किया और नाही अभेद का प्रतिपादन किया गया है प्रत्युत ईश्वर, जीव और जगत् इन तीनों का भेद स्पष्ट रीति से कथन किया है, अतएव इस मंत्र को विवर्त्तवाद में लगाना सर्वथा असंगत है।

सङ्गति - ननु, जब उक्त मंत्र में यह कथन किया गया है कि पुरुष वैराग्यभाव से भोग करे अर्थात् सांसारिक भोगों में लम्पट न हो किन्तु वैराग्य को लक्ष्य रखकर जीवन यात्रा के उद्देश्य से भोग करे, इससे तो कर्मों का सर्वथा ही त्याग कर देना उत्तम है ? उत्तरः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

पद०—कुर्वन्। एव। हि। कर्माणि। जिजीविषेत्। शतम्।

समाः । एवं । त्वयि । न । अन्यथा । इतः ।अस्ति । न । कर्म । लिप्यते । नरे ।

अर्थ

इह = इस कर्म लोक में	एवं=इस प्रकार
कर्माणि = कर्मों को	त्वयि=तुझ कर्माधिकारी
हिं = निश्चयपूर्वक	नरे = नर में
कुर्वन् = करता हुआ	कर्म लिप्यते = कर्म लिप्त
एव = ही	न = नहीं होते
शतं, समाः=सौ वर्ष तक	इतः = इससे
जिजीविषेत् = जीने की इच्छा करे	अन्यथा = अन्य
	न, अस्ति=कोई प्रकार नहीं ।

भाष्य—मनुष्य को उचित है कि कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे अर्थात् अपनी आयु के किसी भाग में भी कर्मों का सर्वथा त्याग कदापि न करे और कर्मों को करता हुआ उनमें लिप्त न हो, यही प्रकार पुरुष के विरक्त होने का है, वह विरक्त नहीं जो निष्कर्मी आलसी अपनी जीवनयात्रा में भी असमर्थ है, विरक्त वही है जो निष्काम भाव से कर्मों को करता हुआ उनके लेप से रहित है ।

इस मंत्र में निष्काम कर्मों का महत्व वर्णन किया गया है वास्तव में यही भाव वैदिक विरक्ति का है और दाम्भिक विरक्तों का इस मन्त्र में बलपूर्वक खण्डन किया है, इसी भाव को गीता में इस प्रकार वर्णन किया गया है किः—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥

गी० १८ । ४७

जीव का जो अपना चेष्टारूपी धर्म है वह विगुण भी पर धर्म=दूसरे के आरोपित धर्म से श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वाभाविक नियत कर्म को करता हुआ पुरुष पापी नहीं बनता।

भाव यह है कि जीव में स्वभाविक कर्तृत्व पाया जाता है उसको करता हुआ जीव पाप का भागी नहीं होता, हां यदि उस कर्तृत्व को दबाकर दम्भ से निष्कर्मी बनना चाहे तो वह पाप का भागी हो जाता है, इसी आशय को उक्त मन्त्र ने वर्णन किया है, इसलिये पुरुष को कर्मों का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये यही वैदिक मत है।

सं०—ननु, जो लोग आत्मा के आत्मत्व को हनन करके जीते ही मृतवत् हो जाते हैं सर्वथा कर्मों के लेप से अलिप्त तो वही होते हैं अन्य नहीं ? उत्तरः—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।३।

पद०—असुर्य्याः। नाम। ते। लोकाः। अन्धेन। तमसा। आवृताः। तान्। ते। प्रेत्य। अभिगच्छन्ति। ये। के। च। आत्महनः। जनाः।

अर्थ

ये=जो
के, च=कई एक
आत्महनः=आत्मा के हनन करने वाले
जनाः=जन हैं
ते=वे
प्रेत्य=मरने के पश्चात्
तान्=उन
लोकाः=लोकों को
अभिगच्छन्ति=प्राप्त होते हैं जो
असुर्य्याः=असुरों के हैं और
ते=वे

अन्धेन, तमसा, आवृताः=अंध तम से ढके हुए हैं

मन्त्र में "नाम" शब्द प्रसिद्धार्थ का बोधक है।

भाष्य—["लोक"] शब्द के अर्थ यहां लोकान्तर के नहीं किन्तु अवस्थाविशेष के हैं जैसाकि ["आत्मानंलोकमुपासते"] इस छांदोग्य वाक्य में आत्मा को लोक कथन किया है, इसी प्रकार लोक शब्द यहां उस अवस्था का बोधक है जो मन्द से मन्द अन्धतम से व्याप्त है अर्थात् जो नितांत मूर्ख लोगों की अवस्था है उस अवस्था को वह लोग प्राप्त होते हैं जो आत्मा के कर्तृत्वादि भावों को दबा कर नाम मात्र की विरक्ति धारण करके अपने आत्मा का हनन करते हैं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जो लोग अपने आपको जीव मानते हैं वह अन्धतम को प्राप्त होते हैं, यह भाव मन्त्र का कदापि नहीं, क्योंकि यदि जीवभाव मानना ही आत्मतत्त्व का हनन करना होता तो पूर्व मन्त्रों में जीव को परमात्मा से भिन्न निरूपण न किया जाता और नाहीं सौ वर्ष तक उसका तात्विक कर्तृत्व कथन किया जाता परन्तु किया गया है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्महनन का तात्पर्य्य आत्मा की शक्तियों को निरुद्ध करके निष्कर्मी बनने का है।

दूसरे अर्थ इस मन्त्र के यह भी हैं कि जो लोग परमात्मा को हनन करते हैं अर्थात् उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते वह अन्धतम को प्राप्त होते हैं।

सं०—अब उस परमात्मा का वर्णन करते हैं:—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

पद०—अनेजत् । एकं । मनसः । जवीयः । न । एनत् । देवाः । आप्नुवन् । पूर्वम् । अर्षत् । तत् । धावतः । अन्यान् । अत्येति । तिष्ठत् । तस्मिन् । अपः । मातरिश्वा । दधाति ।

अर्थ

(अनेजत्) वह चलता नहीं	तत्=वह
एकं=एक है	धावतः=चलते हुए
मनसः=मन से	अन्यान्=काल, वायु आदिकों को भी
जवीयः=वेगवाला है	अत्येति=उल्लङ्घन कर जाता है
एनत=इसको	तिष्ठत्=एकरस ठहरे हुए
देवाः=इन्द्रियें	तस्मिन्=उस आत्म तत्व में
न, आप्नुवन्=प्राप्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि	अपः=कर्मों को
पूव=मन आदि इन्द्रियों से पूर्व	मातरिश्वा=जीव
अर्षत्=प्राप्त है	दधाति=धारण करता है।

भाष्य— वह आत्मतत्व कूटस्थ नित्य होने से अविकारी है, सजातीय आदि भेदरहित होने से एक है, उस परमात्मतत्व में गति करने वाला जीवात्मा कर्मों को धारण करता है [मातरि अन्तरिक्षे श्वति गच्छतीति मातरिश्वा जीवः]=जो आकाश में गति करे उसका नाम "मातरिश्वा" है, इस व्युत्पत्ति से मातरिश्वा वायु का भी नाम है पर यहां उपयुक्त अर्थ जीवात्मा का ही है।

तात्पर्य यह है कि वायु आदि सम्पूर्ण भूत उसी में स्थिर हैं, कोई गतिशील पदार्थ ऐसा नहीं जो उसको उल्लङ्घन करके उसकी सत्ता से बाहर जा सके अथार्त कोटानुकोटि सब ब्रह्माण्ड

उसकी सत्ता के भीतर हैं, ऐसा आत्मतत्त्व जिसकी साक्षी ब्रह्माण्ड का एक २ अणु दे रहा है उसकी सत्ता को असुरों से भिन्न अन्य कौन अस्वीकार कर सकता है ? इसी विषय को गीता के १६वें अध्याय में इस प्रकार स्फुट किया है कि असुर लोग ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानते अकस्मात् बना हुआ ही मानते हैं, ऐसे असुरों को उक्त मन्त्र में अन्धतम नरक की प्राप्ति कथन की है।

सं०—अब उस परमात्मा की सर्वव्यापकता कथन करते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

पद०—तत् । एजति । तत् । न । एजति । तत् । दूरे । तत् । उ । अन्तिके । तत् । अन्तः । अस्य । सर्वस्य । तत् । उ । सर्वस्य । अस्य । बाह्यत : ।

अर्थ

तत=वह ईश्वर रूप आत्मतत्त्व
एजति=चलता है
तत्=वह
न, एजति=नहीं चलता
तत्=वह
दूरे=दूर है
तत=वह
उ=निश्चय करके
अन्तिके=समीप है
तत्=वह
अस्य=इस
सर्वस्य=सब संसार के
अन्तः=भीतर है
तत्=वह
सर्वस्य=सारे संसार के
बाह्यतः=बाहर
उ=भी है।

भाष्य—इस मन्त्र में "चलता है और नहीं चलता, दूर है और समीप है" जो यह विरोध प्रतीत होता है इसका समाधान यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का गतिदाता होने से उसको चलता कथन किया गया है और स्वयं गति न करने से उसको न चलने वाला कहा गया है, अज्ञानी और नास्तिकों के ज्ञान का विषय न होने से उसको दूर कथन किया गया है और विद्वान् श्रद्धालु पुरुषों के ज्ञान का विषय होने से उसको समीप कहा गया है, इसी प्रकार सब वस्तुओं के भीतर होने से उसको सब के अभ्यन्तर कथन किया है और बाहर भी होने से बाह्य कहा गया है। उस परमात्म देव को इस जड़ जगत् से भिन्न बोधन करने के लिये इस विरोधाभास अलंकार से वर्णन किया है उभयरूप के अभिप्राय से नहीं।

कई एक अज्ञानी लोग इसके यह भी अर्थ करते हैं कि शुद्ध-रूप से परमात्मा नहीं चलता और शबलरूप से चलता है, इस प्रकार परमात्मा के दोनों रूप बन सकते हैं, यह आशय मन्त्र का कदापि नहीं- यदि परमात्मा के दो रूप होते तो इससे प्रथम मन्त्र में उसको एक कथन न किया जाता, इसलिये उभयरूप मानना ठीक नहीं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि वायु आदि रूपों में वह परमात्मा चलता है और स्वयं नहीं चलता, इनके मत में वायु आदि सब परमतमा के ही रूप हैं और यह सब रूप मायामात्र है, इसलिये वह एक भी है और अनेक भी है, चलता भी है और नहीं भी चलता, यह अर्थ मन्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि यदि उक्त मन्त्र के यह अर्थ होते तो आगे ८ वें मन्त्र में उसका एकमात्र शुद्धरूप प्रतिपादन न किया जाता,

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उभयरूप मानने वालों की भूल है जो माया से परमात्मा के दो रूप बना देते हैं।

सं०—अब परमात्मा की व्यापकता सिद्धि में और मंत्र कथन करते हैं:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।६ ॥

पद०—यः । तु । सर्वाणि । भूतानि । आत्मनि । एव । अनु-पश्यति । सर्वभूतेषु । च । आत्मानं । ततः । न विजुगुप्सते ।

अर्थ

"तु" शब्द उभयरूपदर्शी अज्ञानी से ज्ञानी की व्यावृत्ति के लिये आया है
यः=जो
सर्वाणि=सब
भूतानि=भूतों को
आत्मनि=परमात्मा में
एव=ही
अनुपश्यति=देखता है
च=और
सर्वभूतेषु=सब भूतों में
आत्मानं=परमात्मा को देखता है
ततः=इस ज्ञान से
न, विजुगुप्सते=अरक्षित नहीं होता अथवा किसी की निन्दा स्तुति नहीं करता।

भाष्य – जब पुरुष इस सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा के आधार पर समझता है और इस विश्व के चराचर प्राणीमात्र में परमात्मा को व्यापक समझता है तब इस ज्ञान के पाने पर वह पुरुष पूर्ण प्रकार से सुरक्षित हो जाता है फिर किसी की निन्दास्तुति नहीं करता, इस मंत्र में ईश्वर ज्ञान का फल कथन किया गया है।

अद्वैतवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जब पुरुष इस सारे संसार को अपने आप में देखता है और सारे संसार के भूतों में अपने आपको देखता है तो फिर वह निन्दास्तुति नहीं करता, क्योंकि वह सब कुछ अपना आपही देखता है, यहां "आत्मा" शब्द के अर्थ अपने आपके करना प्रकरण से विरुद्ध है, क्योंकि पूर्व से प्रकरण परमात्मतत्त्व निरूपण का चला आता है न कि जीव के निरूपण का, इसलिये जीव के अर्थ करना ठीक नहीं ॥

सं० –अब उक्त ज्ञान के माहात्म्य को प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं:—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

पद०—यस्मिन् । सर्वाणि । भूतानि । आत्मा । एव । अभूत् । विजानतः । तत्र । कः । मोहः । कः । शोकः । एकत्वम् । अनुपश्यतः ।

अर्थ

यस्मिन्=जिस ज्ञान में	अभूत्=प्रतीत होता है
सर्वाणि=सब	तत्र=उस ज्ञान में
भूतानि=चराचर जगत्	कः=क्या
विजानतः=उक्त ज्ञानवाले पुरुष को और	मोहः=मोह और
एकत्वं=एकता	कः=क्या
अनुपश्यतः=देखने वाले पुरुष को	शोक=शोक होता है अर्थात् ऐसे पुरुष को न कोई मोह होता है और न कोई शोक होता है ॥
आत्मा, एव=आत्मा ही	

भाष्य—इस मंत्र में परमात्मज्ञान की फलरूप शमविधि का कथन किया गया है कि जिस अवस्था में पुरुष निर्बीज समाधि द्वारा एकमात्र परमात्मा को देखता है उस अवस्था में न मोह होता है और न कोई शोक होता है, इस अवस्था के महत्व को न समझकर मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जब पुरुष को ब्रह्मज्ञान हो जाता है अर्थात् अपने आपको ब्रह्म समझने लगता है उस अवस्था में न कोई शोक और न कोई मोह होता है,यदि इस मंत्र के यह अर्थ होते तो द्रष्टा को उस आत्मतत्व से भिन्न कदापि कथन न किया जाता, और इस मंत्र में द्रष्टा का भेदरूप से कथन स्पष्ट है जिसको मायावादी महामोह के प्रभाव से न देखते हुए चराचर को मिथ्या बनाकर अपने आत्मतत्व के अर्थ करते हैं कि अपना आप ही सब कुछ है, यदि यह अर्थ इस मंत्र के होते तो इससे अगले मंत्र में परमात्मा को इस चराचर जगत् से भिन्न वर्णन न किया जाता, ["तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्"] यो० १ । ३=समाधि अवस्था में पुरुष की परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है, यही आशय उक्त मंत्र में वर्णन किया गया है, इससे भिन्न अन्य आशय कदापि नहीं निकल सकता ।

मायावादी इस मंत्र का जप अहर्निश करते हैं, और शङ्करभाष्य में जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिये यह मंत्र सहस्रों स्थानों में लिखा गया है, अधिक क्या जीव ब्रह्म को एक बनाने के लिये एक मात्र यही मंत्र इनके पास है जिसका यह यों बलपूर्वक भाष्य करते हैं, कोई कहता है कि ["मूलाऽविद्यानिवृत्तौ तत्कार्य्ययोः शोकमोहयोरात्यंतिकाभावादितिभावः"]= मूलाविद्या के निवृत्त होने पर उसके कार्य्य शोक मोहादिकों का भी अत्यन्ताभाव हो जाता है, इनके मत में ब्रह्म को आच्छा-

दन करने वाली अविद्या का नाम ["मूलाविद्या"] है, कोई कहता है कि जब यह सारा संसार रज्जुसर्पवत् भ्रान्तिरूप प्रतीत होता है तब शोक मोह की निवृत्ति हो जाती है, इत्यादि मायावादियों के अनेक मत हैं पर सबका तत्त्व यही है कि शोक मोह की निवृत्ति जीव ब्रह्म के एकत्वज्ञान से ही होती है अन्यथा नहीं, परन्तु जीव ब्रह्म की एकता का भाव इस मन्त्र में गन्धमात्र भी नहीं ।

सं०—जिस परमात्मा के एकत्वज्ञान से शोक मोह की निवृत्ति होती है अब उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं:—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

पद०—सः । पर्य्यगात् । शुक्रम् । अकायम् । अव्रणम् । अस्नाविरम् । शुद्धम् । अपापविद्धम् । कविः । मनीषी । परिभूः । स्वयम्भूः । याथातथ्यतः । अर्थान् । व्यदधात् । शाश्वतीभ्यः । समाभ्यः ।

अर्थ

सः=वह परमात्मा
शुक्रं=शुद्धस्वरूप
अकायं=शरीर रहित
अव्रणं=व्रणरहित
अस्नाविरं=नाड़ियों से रहित
शुद्धं=शुद्ध और
अपापविद्धं=पाप के स्पर्श से रहित होकर

पर्य्यगात्=सर्वत्र प्राप्त है
कविः=सर्वद्रष्टा है
मनीषी=मन का प्रेरक है
परिभूः=सर्वत्र व्यापक है
स्वयम्भूः=अपनी सत्ता से
स्थिर है
शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः=निरन्तर समयों से
याथातथ्यतः=यथार्थरूप से उसने
अर्थान=सब पदार्थों को
व्यधात्=रचा है।

भाष्य—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि इस मन्त्र को सब आचार्य्य निराकार के वर्णन में लगाते हैं, इसमें किसी आचार्य्य का भी मत भेद नहीं परन्तु कई एक आधुनिक वेदान्ती अथवा साकारवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि (सः) वह जिज्ञासु जिस ने जीव ब्रह्म को एक समझ लिया है वह (पर्य्यगात्) सब को व्याप्त करके स्थिर होता है, किस प्रकार स्थिर होता है। (शुक्रं) शुद्ध स्वरूप से (अकायं) अशरीरी होकर (अव्रणं) विस्फोटादि से रहित होकर । अस्नाविरं) नाड़ियों से रहित होकर (शुद्धं) शुद्ध होकर और (अपापविद्धं) पाप से रहित होकर सर्वगत होता है, उसी के कवि आदि सब विशेषण हैं।

इस अर्थ में दोष यह है कि मन्त्र के उत्तरार्ध में जो यह लिखा है कि वह यथार्थ रीति में सम्पूर्ण सृष्टि को रचता है और मायावादियों का जीव [' अहं ब्रह्मास्मि"] वाक्य से ब्रह्म बनकर भी सृष्टि को कदापि नहीं रच सकता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह मन्त्र ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए जीव का प्रतिपादक नहीं किन्तु स्वतःसिद्ध नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादक है, ["अकायं"] शब्द से केवल लिङ्ग शरीर का ही निषेध नहीं किन्तु सूक्ष्म, स्थूल और कारण इन तीनों शरीरों का निषेध है, इसलिये साकार का प्रतिपादक नहीं।

दूसरी बात यह है कि यदि जीव शुद्धस्वरूप को प्राप्त हो जाता है तो फिर सर्वज्ञ क्या, क्योंकि इनके मत में सर्वज्ञादि धर्म मायाशबल के हैं शुद्ध के नहीं, और शुद्धब्रह्म इनके मत में सृष्टि कर्त्ता और सर्वज्ञाता नहीं फिर शुद्ध रूप से जीव सृष्टि कर्त्ता तथा सर्वज्ञाता कैसे होसकता है और जीव में सृष्टिकर्तृत्व ही कैसे ? इससे सिद्ध है कि उक्त मंत्र ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए जीव का वर्णन नहीं करता किन्तु ब्रह्म का वर्णन करता है और शुक्रं, अकायं, अव्रणं इत्यादि शब्द जो नपुंसकलिङ्ग से वर्णन किये गये हैं उनका पुल्लिङ्ग से निर्देश कर लेना चाहिये, क्योंकि उपक्रम में भी "सः" यह पुल्लिङ्ग शब्द है और उपसंहार में भी "कविः" आदि शब्द पुल्लिङ्ग हैं, इससे कोई दोष नहीं आता।

सं०—परमात्मा के स्वरूप को भूलकर जो अविद्या की उपासना करते हैं अब उनको अन्धतम की प्राप्ति कथन करते हैं—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥

पद० - अन्धम् । तमः । प्रविशान्त । ये । अविद्याम् । उपासते । ततः । भूयइव । ते । तमः । ये । उ । विद्यायाम् । रताः ।

अर्थ

ये=जो उपासक लोग
अविद्यां=अविद्या की
उपासते=उपासना करते हैं
ते=वे
अन्धं, तमः=अन्धतम को
प्रविशन्ति=प्राप्त होते हैं
उ=फिर
ततः=उनसे भी
भूयइव=अधिक

तमः=अन्धतम को वे प्राप्त होते हैं
ये=जो
विद्यायां=विद्या में
रताः=रत हैं

भाष्य—जो पुरुष अविद्या=विपरीत ज्ञान अर्थात् शुचि में अशुचिबुद्धि, आत्मा में अनात्मबुद्धि इत्यादि विपरीत ज्ञान में रत हैं वह अन्धतम=महामूढ़ता की अवस्था को प्राप्त होते हैं और उनसे भी अधिक मूढ़ावस्था को वह प्राप्त होते हैं जो केवल विद्या=ज्ञान में ही रत हैं अर्थात् जो ज्ञानमात्र के ही अभिमान में रह कर कर्मों के अनुष्ठान से सर्वथा वर्जित रहते हैं।

शङ्करमतानुयायी मायावादी उक्त मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि अविद्या=अग्निहोत्रादि कर्म करने वाले अन्धतम नरक को प्राप्त होते हैं और उनसे भी अधिक अन्धतम को वह प्राप्त होते हैं जो विद्या=देवताओं की उपासना में रत हैं। आशय यह है कि केवल "अहं ब्रह्म" के भाव वाले ही नरक से बचते हैं अन्य नहीं।

कई एक आधुनिक टीकाकार इस मन्त्र के यह भी अर्थ करते हैं कि अविद्या=कर्मकाण्ड की उपासना करने वाले और विद्या=तत्त्वदृष्टि से उपासना करने वाले, यह दोनों नरक के अधिकारी हैं, इनका आशय यह है कि केवल देवताओं की उपासना करने से भी नरक प्राप्ति होती है और ईश्वर उपासना से भी नरक प्राप्ति होती है पर जो उक्त दोनों को मिला कर उपासना करते हैं वही ईश्वर की उपासना है अन्य नहीं और युक्ति यह देते हैं कि शुद्ध तथा शबल भेद से ब्रह्म के दो रूप हैं, शुद्ध रूप से ब्रह्म उपासना का विषय नहीं, शबलरूप से उपासना का विषय है, शबल के अर्थ इनके मत में प्रकृति के साथ मिले हुए से हैं। यह उनकी भूल है, क्योंकि (स पर्य्यगाच्छुक्रम्-

कायमव्रणम्") इत्यादि मन्त्र जो शुद्ध ब्रह्म के बोधक हैं वह सब निष्फल हो जाते हैं और जहां २ वेदोपनिषदों में प्रकृति से भिन्न ईश्वर वर्णन किया है वह भी इनके मत में असङ्गत हो जाते हैं, यद्यपि उक्त मत शङ्करमत की छाया है परन्तु इतने अंश में शङ्करमत से सर्वथा विरुद्ध है कि शुद्ध की उपासना देवता द्वारा ही हो सकती है अन्यथा नहीं।

शङ्कराचार्य्य को उक्त विषय में यह अभिमत है कि ईश्वर के उक्त दोनों रूप ठीक नहीं, क्योंकि शबलरूप माया से कल्पना किया हुआ होने के कारण त्याज्य है केवल शुद्धरूप ठीक है और यही वेद का तात्पर्य्य है तथा सब वेदवादियों का यही मन्तव्य है न जाने इन आधुनिकों ने यह भाव कहां से लिया है कि ईश्वर की उपासना प्रकृति के साथ मिलाकर ही हो सकता है अन्यथा नहीं और देवी देवताओं के द्वारा ही ईश्वर का पूजन करना वैदिक है; हम दृढ़ता से कहते हैं कि यह भूल ऐसी है जो वैदिक धर्म को ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण वेदानुयायी पुरुषों को कलङ्कित करती है, इसलिये ईश्वर के शुद्ध और शबल दो रूप मानने ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से:—

नेतिनेतीति वाक्यानां नैरर्थक्यं प्रसज्यते ।
समस्तव्यस्तरूपत्वं यदि स्यात् ब्रह्मणः श्रुतेः ॥

बृह० भा० वा० ४ । २ ।

["नतस्य प्रतिमास्ति"] यजु० ३२।३ ["नेदंयदिदमुपासते"] केन० १ । ४ इत्यादि सब वाक्य निरर्थक हो जाते हैं और यदि वेद से ब्रह्म के दो रूप निरूपण किये जायें तो सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि मायावादियों ने माया के कारण दो रूप माने हैं । जैसाकि:—

मुक्तत्वञ्च सितत्वञ्च परस्परविरुद्धयोः ।
धर्मयोः समवायः स्यान्नतु नीलोत्पलादिवत् ॥ ३७ ॥
बृ० भा० वा० ३ । ३ ।

एवं विरुद्धधर्मत्वे नच दोषोस्ति कश्चन ।
नामरूपादिसद्भावो दोषश्चेदिह चोद्यते ॥ ३८ ॥
नेह नानेति वचनादेकमेवेति चोक्तितः ।
नैवं परिहृतेस्तस्य मृद्दृष्टान्तादि युक्तिभिः ॥ ३९ ॥

मुक्त तथा बद्ध होना, यह दोनों विरुद्ध धर्म एक पदार्थ में नहीं रह सकते, उक्त दोनों परस्पर विरोधि धर्म एक पदार्थ में रह सकते हैं इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि माया के कारण वही आत्मा बद्ध हो जाता है और माया से रहित होकर वही मुक्त हो जाता है ।

यदि यह कहा जाय कि माया ही उक्त सिद्धान्त में द्वैतवाद रूपी दोष है तो उत्तर यह है कि ["नेहनानास्तिकिञ्चन"] इस वाक्य द्वारा मृत्तिका के दृष्टान्तादिकों की युक्तियों से कोई दोष नहीं अर्थात् एक ही ब्रह्म में दो विरुद्ध रूप बन सकते हैं, यह मायावादियों का मत है इसी के अनुसार ब्रह्म में शुद्ध और शबल का भेद कहा जा सकता है ।

चिद्घन पूरणरूप में, शबल को भेद ।
माया मत से घटत है, यही बतावत वेद ॥

चिद्घन=निरन्तर चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में शुद्ध और शबलरूप मायावादियों के मत से कहे जा सकते हैं वैदिक मत से नहीं; क्योंकि वेद में कहीं भी परमात्मा का शबलरूप नहीं लिखा ।

और जिन लोगों का कथन यह है कि ईश्वर के शुद्ध-स्वरूप का असर मनुष्य के जीवन पर कुछ नहीं पड़ता और मनुष्य के हृदय में उसके जिस रूप के लिए भक्ति, पूजा तथा उपासना है वह उसका विशिष्टरूप ही है जो पूजा जाता है और यह विशिष्टरूप अनेक हैं जो वेद में देवता नाम से कहे जाते हैं जिनको अग्नि, वायु आदि रूपों में वर्णन किया है । यह कथन वेद से सर्वथा विरुद्ध है, ऐसे तुच्छ भावों से उपनिषदों को कलङ्कित किया जाता है, क्योंकि प्रथम तो अग्नि आदि परमात्मा के रूप नहीं, अग्नि आदि जड़ और परमात्मा चेतन, फिर अग्नि परमात्मा का रूप कैसे ? यदि यह कहा जाय कि अग्निविशिष्ट परमात्मा अग्नि देवता है तो अग्नि-रूप उपाधि परमात्मा का विशिष्टरूप है वा उस उपाधि से उपहित परमात्मा का विशिष्ट रूप है ? यदि उपाधि को रूप कहें तो उपाधि के साथ परमात्मा का तादात्म्य नहीं तो फिर उपाधि उसका रूप कैसे ? यदि उपहित रूप को विशिष्टता कहें तो शुद्ध भी विशिष्टरूप ही है, क्योंकि ["एतावानस्य महिमा"] यजु० ३१ । ३ इत्यादि वेद मन्त्रों से शुद्ध भी एक पाद रूप महिमा से विशिष्ट है फिर भी शुद्ध कैसे, यदि यह कहा जाय कि स्वरूपभूत गुणों वाले को शुद्ध कहते हैं और जगत् गुणों के साथ वर्णन किये हुए को विशिष्ट कहते हैं तो इस लक्षण से भी शुद्ध और विशिष्ट का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि ["सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"] इत्यादि वाक्यों में वर्णित सत्यादि गुणों वाले को वादी शुद्ध नहीं मानता, क्योंकि ज्ञान भी शुद्धवादियों के मत में विशिष्ट का धर्म है शुद्ध का नहीं, यदि जगत्कर्तृत्वादि धर्मों वाले को विशिष्ट कहें तो वादी के माने हुए अग्न्यादि देवताओं को छोड़कर ईश्वर भी विशिष्ट-

रूप ही सिद्ध होता है जो किसी देवी देवता के रूप से विशिष्ट नहीं।

शबलवाद के खण्डन में और युक्ति यह है कि यदि सापेक्ष वर्णन वाले का नाम ही शबल है अर्थात् जिसको अन्य पदार्थ द्वारा वर्णन किया जाय वह "शबल" और जिसको अपने स्वरूप द्वारा वर्णन किया जाय वह "शुद्ध" है तो ["हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं"] श्वे० ४। १४ इस वाक्य में शुद्ध भी शबल मानना पड़ेगा, क्योंकि इसमें यह कथन किया है कि जिसने हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति देखी वह मेरी बुद्धि को शुद्ध करे, इस वाक्य में शुद्ध से प्रार्थना की गई है और उस शुद्ध का विशेषण यह है कि जो हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति का ज्ञाता है वह शुद्ध है, एवं जब जगज्जन्मादि हेतु होने से ब्रह्म शुद्ध नहीं रहता तो हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के ज्ञातृत्वधर्म से ब्रह्म शुद्ध कब रह सकता है, इत्यादि दोषों से शुद्ध और शबल का भेद सर्वथा दूषित है जो ईश्वर में कदापि नहीं घट सकता।

और जो लोग इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि अग्नि, वायु, वरुणादि पदार्थों में व्यापक ईश्वर का नाम विशिष्टरूप है तथा ["अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितं"] इत्यादि वाक्यों में वर्णित परमात्मा को शुद्ध कहते हैं, वास्तव में परमात्मा एक ही है शबल शुद्ध का नाममात्र भेद है, उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि शबलवादी शबल को उपासना करने वाले उपासक को शबलब्रह्म के लोक की प्राप्ति कथन करते हैं, और शुद्ध के उपासक को मुक्ति की प्राप्ति कथन करते हैं, फिर एक ईश्वरवाद कैसे ?

कौषीतकी ब्राह्मण के प्रमाण से शबलवादियों ने यह सिद्ध किया है कि शबलब्रह्म के उपासक उस लोक को प्राप्त होते हैं

जहां विजरा नदी है उससे पार होकर बूढ़ा भी युवा हो जाता है फिर पांच सौ अप्सरायें नाना प्रकार के प्रलोभन लेकर उसकी पेशवाई में जाती हैं, इत्यादि विशेषणविशिष्ट शवल-वादियों के शवल का लोक है, इन भोगों को भोगकर उपासक लौट आता है और शुद्ध का उपासक शुद्ध के लोक से मुक्ति को चला जाता है, यदि शवल और शुद्ध वास्तव में भिन्न २ नहीं तो उक्त लोकों का भेद कैसे ? यह भेद सगुणब्रह्म का लोक मानने वाले पौराणिक ही नहीं मानते किन्तु नाम मात्र से वैदिक मत का दम भरने वाले आधुनिक वैदिकजीवनजीवी भी मानते हैं जिन्होंने लिखा है कि "वह भी अन्धतम को प्राप्त होते हैं, बचते केवल वह हैं जो विद्या अविद्या दोनों को मिलाकर मानते हैं, इनका मन्तव्य यह है कि केवल प्रकृति की उपासना करने वाले नरक में पड़ते हैं एवं प्रकृति को त्यागकर अर्थात् शवल ब्रह्म को छोड़कर केवल शुद्ध की उपा-सना करने वाले भी नरक के अधिकारी हैं ॥

यह इनका समुच्चयवाद वैदिक धर्म से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि विद्या और अविद्या कदापि एक नहीं हो सकती ।

सं०—अब विद्या और अविद्या के फल का भेद कथन करते हैं:—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

पद०—अन्यत् । एव । आहुः । विद्यया । अन्यत् । आहुः । अविद्या । इति । शुश्रुम । धीराणां । ये । नः । तत् । विचचक्षिरे ।

अर्थ

अन्यत्=और	इति=यह हमने
एव=निश्चय करके	धीराणां=धीर पुरुषों से
विद्यया=विद्या का फल	शुश्रुम=सुना है
आहुः=कथन करते	ये=जो
अविद्यया=अविद्या से	नः=हमको
अन्यत्=और फल	तत्=उसका
आहुः=कथन करते हैं	विचचक्षिरे=उपदेश करते हैं।

भाष्य—इस मंत्र में वेदभगवान् ने विद्या और अविद्या का भेद कथन किया है कि विद्या से यथार्थज्ञान का फल होता है और अविद्या से अयथार्थज्ञान=नित्य में अनित्य बुद्धि, शुचि में अशुचि बुद्धि इत्यादि मिथ्याज्ञान का जन्मरूप फल होता है, जैसा कि ["दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः"] न्या० १।१।२ में मिथ्याज्ञान का फल जन्म और तत्त्वज्ञान का फल मोक्ष वर्णन किया है, यही भाव उक्त मंत्र में वर्णन किया गया है, जिसको न समझकर आधुनिक वेदान्ति यह अर्थ करते हैं कि (अविद्या) कर्म और (विद्या) हिरण्यगर्भ की उपासना का भिन्न २ फल है, और कई एक आधुनिक वैदिकजीवनाभिमानी यह अर्थ करते हैं कि (विद्या) ज्ञान और (अविद्या) ईश्वरोपासना का भिन्न २ फल है, कोई कहता है कि अविद्या के अर्थ कर्म के हैं, और कई एक टीकाकार अनेक प्रकार से भ्रान्त हैं जो वैदिक तत्त्व को न समझ कर नाना प्रकार की विमति उत्पन्न करते हैं, यदि अविद्या के अर्थ कर्म के होते तो इसी उपनिषद् के दूसरे मंत्र में यावदायुष कर्मों का कर्त्तव्य कथन न किया जाता और (विद्या) ज्ञान से भिन्न को अविद्या कहते हैं, इस भाव द्वारा अविद्या से कर्म लिये

जायं तो भी कर्मों का निषेध कैसे ? यदि यह कहा जाय कि यह त्रिक समुच्चयवाद को सिद्ध करता है, क्योंकि ज्ञान और कर्म साथ २ ही ठीक हैं भिन्न २ नहीं, तो फिर अगले मंत्रों में प्रकृति और परमात्मा का समुच्चय * कैसे ? अर्थात् प्रकृति और परमात्मा को मिलाने के क्या अर्थ, क्योंकि इस प्रकार का समुच्चय=मिलान तो अज्ञान है और आत्म तथा अनात्म पदार्थों को पुरुष से भिन्न करके जानना विवेक है, इसी अभिप्राय से ["स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्"] यजु० ४० । ८ "न तस्य प्रतिमास्ति"] यजु० ३२ । ३ ["नेदं यदिदमुपासते"] केन० १ । ४ ["अन्यदेवतद्विदितादथोऽविदितादधि"] केन० १ । ३ ["एतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति"] बृह० ३ । ८ । १३ इत्यादि वेदोपनिषदों के सहस्रों स्थलों में प्रकृति और परमात्मा का विवेक वर्णन किया है, यदि प्रकृति और परमात्मा को मिला कर उपासना करना सिद्ध किया जाय तो आध्यात्मवादी वेद भाग सर्वथा असङ्गत हो जाता है ।

और जो वादी ने यह कथन किया था कि ["अस्थूलमनण्वह्रस्वम्"]=वह अक्षर=परमात्मा स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, इत्यादि वाक्यों में वर्णित शुद्धस्वरूप मनुष्य के जीवन पर कोई असर नहीं रखता, यह कथन केवल साहसमात्र है, क्योंकि उक्त वाक्य से आगे यह कथन किया है कि ["यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः"] बृह० ३ । ८ । ११=जो इस अक्षर के ज्ञान से विहीन इस संसार में मरता है वह कृपण है अर्थात् उसका जन्म निष्फल है, और जो उक्त अक्षर को जानता है वह ब्राह्मण है, यदि

---

* वादी के मत में समुच्चय के अर्थ प्रकृति और परमात्मा दोनों को मिलाकर पूजा करने के हैं ।

समुच्चय के बिना शुद्ध का ज्ञान असम्भव होता तो गार्गी को अक्षर=ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश न किया जाता, इत्यादि तर्कों से समुच्चयवाद ठीक नहीं।

सं०—अब विद्या और अविद्या का फल कथन करते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११

पद०—विद्यां । च । अविद्यां । च । यः । तत् । वेद । उभयं । सह । अविद्यया । मृत्युं । तीर्त्वा । विद्यया । अमृतं । अश्नुते ।

अर्थ

विद्यां=यथार्थ ज्ञान
च=और
अविद्यां=विपरीत ज्ञान
उभयं=इन दोनों को
सह=एक समय में
यः=जो
वेद=जानता है
तत्=वह
अविद्यया=विपरीत ज्ञान के ज्ञातृत्वद्वारा
मृत्युं=मृत्यु को
तीर्त्वा=तर कर
विद्यया=ईश्वर ज्ञान से
अमृतं=मुक्ति को
अश्नुते=भोगता है

भाष्य—जो पुरुष विद्या=यथार्थज्ञान और अविद्या=विपरीत ज्ञान, इन दोनों के स्वरूप को ठीक २ जानता है वह अविद्या=विपरीत ज्ञान के द्वारा मृत्यु को तर कर अर्थात् निन्दित कामों को न करके विद्या=यथार्थज्ञान से मुक्ति को भोगता है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि (विद्यां) देवताओं की उपासना और (अविद्यां) अग्निहोत्रादि कर्म, इन दोनों

का जो पुरुष समुच्चय करता है वह अग्निहोत्रादि कर्मों द्वारा मृत्यु से तरकर विद्या=देवताओं की उपासना से अमृत को भोगता है।

इस अर्थ में त्रुटि यह है कि मायावादियों के मत में अमृत=मुक्ति की प्राप्ति ब्रह्मज्ञान से मानी है देवताओं की उपासना से नहीं, और अन्य कई एक आधुनिक यह भी अर्थ करते हैं कि (अविद्यां) कर्म्मकाण्ड से मृत्यु को तर कर (विद्या) ज्ञान से मुक्ति लाभ करता है।

जब ["अन्धंतमः प्रविशन्ति"] इस मन्त्र में पीछे यह मान आये हैं कि अविद्या=कर्म्मकाण्ड से अन्धतम नरक की प्राप्ति होती है तो यहां आकर अविद्या मृत्यु को तरने का साधन कैसे बनी, यदि यह कहें कि वहां अविद्या अकेली थी और यहां उस का विद्या के साथ समुच्चय है अर्थात् कर्म्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों साथ २ हों तो फल देते हैं, यदि वादी ऐसा परिष्कार भी करे तो भी उसका छुटकारा नहीं, क्योंकि अविद्या=कर्म्मकाण्ड और विद्या=तत्त्वज्ञान को इन्होंने नरक की प्राप्ति का हेतु माना है और यहां आकर उसी विद्या शब्द के अर्थ देवताओं की उपासना के किये हैं और वेद देवताओं की उपासना द्वारा किसी स्थल में भी मुक्ति की प्राप्ति कथन नहीं करता किन्तु यह कहता है कि ["तमेवविदित्वाति-मृत्युमेति"] यजु० ३१। १८=एकमात्र परमात्म ज्ञान से ही मुक्ति होती है, फिर देवताओं के ज्ञान से अमृत की प्राप्ति कैसे ? वस्तुतः इनकी भूल का कारण यह है कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने उक्त मंत्रों में अविद्या के अर्थ कर्म के किये हैं और उनको ऐसे अर्थ करना शोभा भी देता था क्योंकि उनके मत में सम्पूर्ण संसार ही अविद्या में है वास्तव में कुछ नहीं, पर न जाने इन आजकल के

वैदिकों ने शङ्कर के अर्थों में क्या तत्त्व समझा जो उक्त वेद-विरुद्ध अर्थ का अनुसरण किया, ["अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"] यो० २। ५=नित्य में अनित्य, शुचि में अशुचि, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मबुद्धि ["अविद्या"] है, जब योगशास्त्र में स्पष्टतया अविद्या का यह अर्थ है तो फिर शङ्करमतानुसार अविद्या के अर्थ मानने का क्या कारण ? यदि यह कहा जाय कि अविद्या के अर्थ कर्मकाण्ड के न माने जायं तो ["विद्ययाऽमृतमश्नुते"] इस वाक्य की सङ्गति नहीं हो सकती ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्याज्ञान का कार्य्य होने से यहां जन्म को भी अविद्या कहा गया है और अविद्या से मृत्यु को तरने के अर्थ यह हैं कि उस देहेन्द्रियादि सङ्घात द्वारा मृत्यु को तर कर अर्थात् मृत्युपर्य्यन्त प्रारब्ध कर्मों के फल को भोगकर फिर तत्त्वज्ञान से मुक्ति को पाता है, यह भाव ["न्यायार्य्यभाष्य"] दूसरे सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है, इस लिए यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से तत्काल ही मुक्ति नहीं होती किन्तु प्रारब्ध कर्मों के फल को भोगकर मुक्ति होती है, एवं अविद्या के अर्थ मिथ्याज्ञान करने से कोई दोष नहीं।

और यदि यह कहा जाय कि अविद्या के परम्परा से चले आये हुए अर्थों को छोड़कर उक्त अर्थ करने ठीक नहीं, इसका उत्तर यह है कि ["सम्भूति"] के अर्थ परमात्मा के किसने किये हैं और ["विनाश"] के अर्थ प्रकृति के किसने किये हैं ? जब वादी ऐसे उच्छृङ्खल अर्थ करने में साहस करता है तो फिर अविद्या के यथार्थ अर्थ करने में क्यों भयभीत होता है।

सं०—अब आविद्यिक उपासनाओं का खण्डन करते हैं:—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥

पद०—अन्धं । तमः । प्रविशन्ति । ये । असम्भूतिं । उपासते । ततः । भूय इव । ते । तमः । ये । उ । सम्भूत्यां । रताः ।

अर्थ

ये=जो	भूय इव=अधिक
असम्भूतिं=प्रकृति की	ते=वह
उपासते=उपासना करते हैं वह	तमः=अन्धकार को प्राप्त होते हैं
अन्धं, तमः=अन्धकार को	ये=जो
प्रविशन्ति=प्राप्त होते हैं	सम्भूत्यां=प्रकृति के कार्यों में उपासनाभाव में
उ=फिर	
ततः=उनसे	रताः=रत हैं ।

भाष्य—जो पुरुष असम्भूति=प्रकृति को ईश्वर मानकर उपासना करते हैं वह अन्धतम=गाढ़ अन्धकार को प्राप्त होते हैं और जो सम्भूति अर्थात् प्रकृति के कार्य्यों की ईश्वरभाव से उपासना करते हैं वह और भी अन्धतम को प्राप्त होते हैं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि असम्भूति=प्रकृति के उपासक अन्धतम को प्राप्त होते हैं और सम्भूति=हिरण्यगर्भ की उपासना करने वाले उनसे भी बढ़कर अन्धतम को प्राप्त होते हैं। और आधुनिकवैदिकजीवन वाले यह अर्थ करते हैं कि जो असद्रूप इस चराचर जगत् की उपासना करते हैं वह अन्धतम को प्राप्त होते हैं और उनसे बढ़कर वह अन्धतम को प्राप्त है जो अद्वितीय ब्रह्म के उपासक हैं, ऐसे उपासक देवताओं के उपासकों से भी अधिक अन्धकार में पड़ते हैं, क्योंकि वह शुद्ध ब्रह्म की

उपासना से कोई लाभ नहीं उठा सकते। एवं प्रसिद्ध अर्थों को छोड़कर मिथ्यार्थसागर में कई एक गोते खाते हैं।

मंत्र में स्पष्ट रीति से इस जड़वर्ग कार्य्यकारण की उपासना को निन्दनीय कथन किया है, और जिन लोगों ने यहां ["सम्भूति"] के अर्थ ईश्वर के किये हैं कि केवल ईश्वर की उपासना करने वाले भी अन्धतम को प्राप्त होते हैं यह उनकी भूल है, न जाने उन्होंने यह अपूर्व अर्थ कहां से लिये हैं :—

सं०—अब उक्त कार्य्यकारण से लाभ उठाने के लिये उनके स्वरूप का विवेक कथन करते हैं :—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

पद०—अन्यत् । एव । आहुः । सम्भवात् । अन्यत् । आहुः । असम्भवात् । इति । शुश्रुम । धीराणां । ये । नः । तत् । विचचक्षिरे ।

अर्थ

अन्यत्=और
एव=निश्चय करके
आहुः=कहते हैं कि
सम्भवात्=प्रकृति के कार्य्य से
अन्यत्=अन्य फल है और
असम्भवात्=प्रकृति से अन्य फल
आहुः=कथन करते हैं
इति=यह
धीराणां=धीरों से
शुश्रुम=सुना है
ये=जो
नः=हमको
तत्=उसका
विचचक्षिरे=व्याख्यान करते हैं

भाष्य—प्रकृति का और फल है तथा प्रकृति के कार्य्य का और फल है, यह वचन धीर परमात्मा से सुना है, बहुवचन यहां विवक्षित नहीं, क्योंकि परमात्मा में बहुवचन छान्दस है अर्थात् वेद में एकवचन के स्थान में भी बहुवचन हो जाता है, शङ्करमत में सम्भव के अर्थ हिरण्यगर्भ के हैं और असम्भव के अर्थ प्रकृति के हैं जो अव्याकृत=उत्पन्न नहीं होती।

पूर्व मंत्र में सम्भूति=परमेश्वर की उपासना से नरक प्राप्ति मानने वाले सम्भव के अर्थ परमेश्वर और असम्भव के अर्थ प्रकृति के करते हैं, पर यहां सम्भव के अर्थ परमात्मा के करना सर्वथा अयुक्त है।

सं०—अब कार्य्यकारणरूप दोनों पदार्थों के तत्त्वज्ञान का फल कथन करते हैं:—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

पद० -सम्भूतिं। च। विनाशं। च। यः। तत्। वेद। उभयं। सह। विनाशेन। मृत्युं। तीर्त्वा। सम्भूत्या। अमृतं। अश्नुते।

अर्थ

सम्भूतिं=कार्य्य
च=और
विनाशं=कारण
तत्=उक्त
उभयं=दोनों को
सह=एक काल में ही
यः=जो
वेद=जानता है वह
विनाशेन=कारणावस्था से
मृत्युं=मृत्यु को
तीर्त्वा=तर कर
सम्भूत्या=कार्य्य से
अमृतं=अमृत को
अश्नुते=भोगता है।

भाष्य—प्रकृति की ईश्वर भाव से उपासना करने वाले असृत = चिरकाल तक अमरणरूप प्रकृतिलयता को प्राप्त होते हैं अर्थात् चिरकाल तक प्रकृति में लीन होकर रहते हैं, प्रकृति में लीन होने का नाम ही अन्धतम है, और प्राकृत पदार्थों की ईश्वर भाव से उपासना करने वाले कुछ काल तक मृत्यु का अतिक्रमण कर जाते अर्थात् स्थूल शरीर से रहित होकर उन्हीं प्राकृत पदार्थों में लीन हो जाते हैं, प्राकृत पदार्थों में कुछ काल तक लीन हो जाने का नाम ही अत्यन्त अन्धतम अवस्था है।

यहां मायावादी सम्भूति के साथ अकार का छेद करते हैं अर्थात् असम्भूति पढ़ते हैं और उसके अर्थ पूर्ववत् प्रकृति के करते हैं, और विनाश के अर्थ हिरण्यगर्भ के करते हैं, साकार ईश्वर का नाम इनके मत में हिरण्यगर्भ है जिसको पौराणिक लोग ब्रह्मा भी कहते हैं, उस हिरण्यगर्भ की साकार उपासना द्वारा मृत्यु को तर कर असम्भूति = अव्याकृत प्रकृति अर्थात् प्रकृतिलयता को प्राप्त होते हैं। और नानादेवोपासक वैदिकों के मत में उक्त मन्त्र के अर्थ यह हैं कि (सम्भूति) शुद्धब्रह्म और (विनाश) यह नाम रूप वाला जगत्, इन दोनों को मिलाकर जो उपासना करता है वह (विनाशेन) विनाश धर्म वाले नाना देवताओं की उपासना से मृत्यु को तर कर फिर शुद्धब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति को पाता है।

हमारे विचार में उक्त मन्त्रों में हिरण्यगर्भ तथा नाना देवोपासना का गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता, क्योंकि उक्त छओं मन्त्रों में स्पष्ट रीति से जड़ उपासना का खण्डन किया गया है फिर नाना देवोपासना की तो कथा ही क्या, उक्त उपासना सम्बन्धी अर्थ करने वालों को इस बात का अंशमात्र भी ध्यान नहीं आया कि इस अध्याय में परमात्मा के अकाय, अव्रण

आदि विशेषण कथन किये गये हैं फिर उनके हिरण्यगर्भादि रूप कैसे ? और यदि प्रकृति के साथ मिलाकर ही उपासना करना इष्ट था तो फिर वेद ने उसका शुद्धरूप क्यों वर्णन किया है, इससे स्पष्ट पाया जाता है कि नाना देवोपासना तथा हिरण्य-गर्भ के अर्थ करना सर्वथा विरुद्ध हैं।

सं०—जिन मिथ्या प्रलोभनों से परमात्मा का स्वरूप ढका हुआ है अब उनकी निवृत्ति कथन करते हैं:----

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पद०----हिरण्मयेन । पात्रेण । सत्यस्य । अपिहितं । मुखम् । तत् । त्वं । पूषन् । अपावृणु । सत्यधर्माय । दृष्टये ।

अर्थ

हिरण्मयेन, पात्रेण=सुवर्णरूप ज्योतिर्मय ढकने से
सत्यस्य=सत्य का
मुखं=मुख
अपिहितं=ढका हुआ है
पूषन्=हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पोषक परमात्मन्
तत्=उसको
त्वं=तु
सत्यधर्माय=सत्यधर्म के
दृष्टये=दर्शन के लिए
अपावृणु=खोलदे

भाष्य – वित्तैषणारूप पात्र से जिनके लिए ब्रह्म का स्वरूप ढका हुआ है उनकी मोहनिवृत्ति के लिए इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन् हमारे मोह को निवृत्त करो ताकि हम आपके दर्शन करें, हिरण्मय पात्र यहां सब प्रकार के लोभ का उपलक्षण है।

तात्पर्य्य यह है कि परमात्मस्वरूप के जिज्ञासु को किसी प्रकार का भी प्रलोभन न होना चाहिए।

सं०—अब सबको पुष्टि देने हारे परमात्मा के साथ तद्धर्मतापत्ति द्वारा जीव का आत्मत्व वर्णन करते हैं:—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

पद०—पूषन्। एकर्षे। यम। सूर्य्य। प्राजापत्य। व्यूह। रश्मीन। समूह। तेजः। यत्। ते। रूपं। कल्याणतमं। तत्। ते। पश्यामि। यः। असौ। असौ। पुरुषः। सः अहम्। अस्मि।

अर्थ

पूषन्=हे पुष्टिकारक
एकर्षे=हे एक मात्र गतिशील
यम=हे सबको नियम में रखने वाले
सूर्य्य=हे सर्वोत्पादक
प्राजापत्य=हे सब के स्वामिन् परमात्मन्
रश्मीन्=उक्त हिरण्मय पात्र की प्रलोभन रूप रश्मियों को
व्यूह=उपसंहार कर
समूह=भले प्रकार उपसंहार कर ताकि
ते=तेरा
तेजः=तेजोमय
रूपं=रूप
यत्=जो
कल्याणतमं=अतिकल्याण का दाता है
ते=तेरे
तत्=उस रूप को
यः=जो
असौ, असौ=वह, वह
पुरुषः=पुरुष है
सः=वह
अहम, अस्मि=मैं होऊं, इस भाव से
पश्यामि=देखू

भाष्य इस मन्त्र में परमात्मा के कल्याणादि गुणों का वर्णन करके इस बात का वर्णन किया है कि जो उक्त कल्याणादि गुणों वाला पुरुष है वह मैं होऊं अर्थात् परमात्मा के कल्याणादि गुणों को धारण करके मैं वह पुरुष होऊं, यहां तद्धर्मतापत्ति द्वारा उसके अपहतपाप्मादि धर्मों को लाभ करके तद्रूप होना वेद ने वर्णन किया है जिसके अर्थ जीव के ब्रह्म बन जाने के नहीं किन्तु ब्रह्म के भावों को लाभ करने के हैं जैसा कि ["शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"] ब्र० सू० १।१।३० इत्यादि सूत्रों में महर्षि व्यास ने वर्णन किया है कि ईश्वर के गुणों को लाभ करके ही वामदेवादिकों ने अपने आपको ब्रह्मरूप कथन किया है।

इस मन्त्र के ["सोहमस्मि"] वाक्य पर मायावादी अपनी माया बहुत फैलाते हैं अर्थात् ["वह परमात्मा मैं हूं"] इस प्रकार जीव को ज्यों का त्यों ब्रह्म बना देना इसी मन्त्र से निकालते हैं, यदि यही भाव उक्त मन्त्र का होता तो उससे प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता थी, और जब ज्यों का त्यों पूर्ण ब्रह्म हो चुका तो फिर आगे के दो मन्त्रों में पापनिवृत्ति की प्रार्थना क्यों की गई है ? क्या ब्रह्म बनने पर भी पाप बना रहता है ? और जो लोग यह अर्थ करते हैं कि जिस समय जीव अपने शरीर तथा सब प्राकृत पदार्थों का ध्यान भूल जाता है उस समय का यह कथन है कि जो वह परमात्मरूप पुरुष है वह मैं हूं।

यह अर्थ इनके मत में इसलिये ठीक नहीं कि प्रकृति को छोड़कर केवल परमात्मा का ध्यान करना अन्धतम नरक को प्राप्त कराता है, और यह भूल तो सबसे भली है जिससे भूल कर ब्रह्म ही ब्रह्म दीखे फिर अन्धतम की प्राप्ति क्यों ?

वास्तव में उक्त वाक्य के अर्थ तद्धर्मतापत्ति के हैं अर्थात् जब जीव परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण कर लेता है तब उसके भावों से अपने आपको कथन करता है, जैसा कि उक्त सूत्र में वर्णन कर आये हैं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन ["वेदान्तार्य्यभाष्य"] तथा ["गीतायोगप्रदीपार्य्य-भाष्य"] में किया है, और जो लोग इस आदित्यमण्डल में सिद्ध पुरुषों के दर्शन मानते हैं वह सर्वथा वेदविरुद्ध अर्थ करते हैं।

सं०—अब उक्त ज्ञानी के शारीरिक मोहत्याग की अवस्था तथा देहत्यागानन्तर शारीरिक संस्कार का वर्णन करते हैं—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतँ स्मर ॥१७॥

पद०—वायुः। अनिलं। अमृतं। अथ। इदं। भस्मान्तं। शरीरम्। ओं। क्रतो। स्मर। क्लिबे। स्मर। कृतं। स्मर।

अर्थ

जब वायुः=प्राणवायु
अनिलं=बाह्यवायु को जो
अमृतं=अमृत है उस कारणा-
वस्था को प्राप्त होता है
अथ=तदनन्तर
इदं=यह
शरीरं=शरीर
भस्मान्तं=दाहयोग्य हो जाता है
ओं=ओ३म् का
क्रतो=हे जीव
स्मर=स्मरण कर
क्लिबे=अपने भविष्य के लिये
स्मर=स्मरण कर
कृतं=किये हुए कर्मों को
स्मर=स्मरण कर

भाष्य—शरीर का अन्तिम संस्कार भस्मान्त ही है, अर्थात

दाहक्रिया के अनन्तर फिर शरीर का कोई संस्कार शेष नहीं रहता, मृत्यु समय जीव का कर्तव्य अपने शुभाशुभ कर्मों का का ध्यान है अथवा दाह संस्कार के अनन्तर शुभाशुभ कर्मों का स्मरण कराने वाला शास्त्र मृत्युकाल में वा अनन्तर जीवों को सुनाना चाहिये।

प्राणवायु का अपने कारण में लय हो जाने का कथन अन्य तत्त्वों का उपलक्षण है अर्थात् सब तत्त्व अपने २ कारण मे लय हो जाते हैं केवल जीवात्मा ही शेष रहता है जैसा कि ["देहीनित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्यभारत"] गी० २। ३० में वर्णन किया है कि आत्मा का नाश नहीं होता और यहां उस आत्मा का "क्रतु" शब्द से कथन किया है।

सं० – अब पुण्यात्मा पुरुष की प्रयाणकाल में प्रार्थना कथन करते हैं:—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८॥

पद०—अग्ने। नय। सुपथा। राये। अस्मान्। विश्वानि देव। वयुनानि। विद्वान्। युयोधि। अस्मत्। जुहुराणं। एनः भूयिष्ठाम्। ते। नम, उक्तिं। विधेम।

अर्थ

अग्ने = हे प्रकाशस्वरूप
देव = दिव्यशक्तिसम्पन्न परमात्मन् आप हमारे
विश्वानि = सब
वयुनानि = नामकर्मों को
विद्वान् = जानते हुए

अस्मान्=हम सब को	अस्मात्=हम सब से
राये=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये	युयोधि=दूर करें, हम सब
सुपथा=शुभमार्ग से	ते=आपको
नय=लेचलें, और	भूयिष्ठां=बहुत बहुत
जुहुराणं=अतिकुटिल	नम,उक्ति=नमस्कार
एनः=पापों को	विधेम=करते हैं।

भाष्य—हे सर्वशक्तिसम्पन्न प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप हमारे सब कर्मों तथा मनोरथों को जानते हुए हम सब को आत्मोन्नति के लिये शुभमार्ग से चलायें और हमसे सम्पूर्ण पापों को दूर करें, हम आपको वारंवार मन, वाणि तथा शरीर से नमस्कार करते हैं।

यहां ["अग्नि"] शब्द के परमात्मा अर्थ में सर्ववादी सम्मत हैं, केवल शवलवादियों के मत में मृत्यु का मार्ग बतलाने वाला अग्नि देवताविशेष कथन किया जाता है, पर ऐसे अध्यास वैदिकधर्म में नहीं पाये जाते, अतएव अग्नि के अर्थ यहां परमात्मा के ही हैं भौतिक वा पौराणिक अधिष्ठात्री देवता के नहीं।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे उपनिषदार्य्यभाष्ये, ईशोपनिषत् समाप्ता

ओ३म्

। अथ केनोपनिषद्-प्रथमःखण्डः ।

सङ्गति--प्रकृति से पृथक्भूत परमात्मा के निरूपणानन्तर अब यह कथन करते हैं कि परमात्मा की उपासना एकमात्र उस के स्वरूपभूत ज्ञान से ही हो सकती है अन्य जड़ देवतादि साधनों से नहीं, इस भाव को स्फुट करने के लिये पूर्वपक्ष द्वारा उक्त उपनिषद् का प्रारम्भ किया जाता है:--

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

पद०—केन । इषितम् । पतति । प्रेषितम् । मनः । केन । प्राणः प्रथमः । प्रैति । युक्तः । केन । इषिताम् । वाचम् । इमाम् । वदन्ति । चक्षुः । श्रोत्रम् । कः । उ । देवः । युनक्ति ।

अर्थ

केन=किस से
प्रेषितं=प्रेरित हुआ
मनः=मन
इषितं=स्वविषय के प्रति
पतति=जाता है और
केन=किस से
प्रथमः=सब इन्द्रियों से प्रथम चेष्टा करने वाला
प्राणः=प्राणवायु
युक्तः=युक्त हुआ
प्रैति=गमन करता है और
केन=किस से

इषितां = प्रेरित
इमां = इस
वाचं = वाणी को लोग
वदन्ति = बोलते हैं, और
चक्षुः, श्रोत्रं = चक्षु तथा श्रोत्र को
उ = प्रसिद्ध
देवः = दिव्यशक्ति वाला
कः = कौन
युनक्ति = प्रेरणा करता है

भाष्य—["चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति"] इस वाक्य से स्पष्ट है कि इस उपनिषद् में शरीरादि अखिल सङ्घातों के रचयिता विषयक यह प्रश्न है कि कौन देव चक्षु, श्रोत्र को शरीर के साथ नियुक्त करता है और कौन प्राण, मन तथा वाणी का नियम करने वाला है कि चक्षु से रूप का ही ग्रहण हो रस का नहीं, इत्यादि यह प्रश्न परमात्मा विषयक है अर्थात् परमात्मा की कृपा से ही सब इन्द्रिय अपने २ विषय को ग्रहण करते हैं अन्यथा नहीं।

कई एक आधुनिक वेदान्ति तथा आधुनिक टीकाकार इस पूर्वपक्ष को जीवविषयक लगाते हैं, यों तो मन आदिकों का प्रेरक मनुष्य शरीर का अधिष्ठाता जीव भी है परन्तु वह देहेन्द्रिय-सङ्घात का निर्माता न होने के कारण "केन" शब्द से जीव के कर्तृत्व का ग्रहण करना ठीक नहीं।

सं—अब उस मन आदिकों के नियन्ता देव का वर्णन करते हैं:—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥२॥

पद०—श्रोत्रस्य। श्रोत्रम् मनसः। मनः। यत्। वाचः। ह।

वाचम् । सः । उ । प्राणस्य । प्राणः । चक्षुषः । चक्षुः । अतिमुच्य । धीराः । प्रेत्य । अस्मात् । लोकात् । अमृताः । भवन्ति ।

अर्थ

यत् = जो
श्रोत्रस्य = श्रोत्र का
श्रोत्रं = श्रोत्र
मनसः = मन का
मनः = मन
वाचः = वाणी का
वाचं = वाणी
प्राणस्य = प्राण का
प्राणः = प्राण
चक्षुषः = चक्षु का
चक्षुः = चक्षु है
सः = उसको
उ = निश्चयपूर्वक
अतिमुच्य = सब पदार्थों से भिन्न जानते हुए
धीराः = बुद्धिमान् लोग
अस्मात्, लोकात् = इस अवस्था से
प्रेत्य = पृथक् होकर
अमृताः = मुक्ति को
भवन्ति = प्राप्त होते हैं ।

भाष्य—श्रोत्र का भी श्रोत्र परमात्मा इसलिये है कि श्रोत्रादि सब इन्द्रियों का वह निर्माता है, उसी की सत्ता से श्रोत्र में श्रवण शक्ति, मन में मननशक्ति, वाणी में वाचनशक्ति, आंख में दर्शनशक्ति और प्राण में जीवन शक्ति है, जो इस संघात-रूप शरीर और सम्पूर्ण विश्व का निर्माता है उसका विवेक करना अत्यन्त आवश्यक है और उसका विवेक ही एकमात्र मुक्ति का साधन है ।

कई एक भाष्यकार इस श्लोक में जीवात्मा को इद्रियों से पृथक् जानने में लगाते हैं कि जब जीव अपने आपको शरीर से पृथक् समझ लेता है तो वह मुक्त हो जाता है, यह बात सर्वथा वेदविरुद्ध है, क्योंकि वेद में ईश्वर के तत्त्वज्ञान से मुक्ति कथन की है जीव को इन्द्रियों से पृथक् जानने में नहीं, जैसा कि

["वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं"] यजु० ३१ । १८ इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट है कि एकमात्र परमात्मा के ज्ञान से ही मुक्ति होती है अन्यथा नहीं, इसलिये इस श्लोक को जीव विषयक लगाना ठीक नहीं ।

सं०—अब परमात्मा को इन्द्रियागोचररूप से कथन करते हैं: —

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्य-देव तद्विदितादथो अविदितादधि । इतिशुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

पद०—न । तत्र । चक्षुः । गच्छति । न । वाक् । गच्छति । नो । मनः । न । विजानीमः । यथा । एतत् । अनुशिष्यात् । अन्यत् । एव । तत । विदितात् । अथो । अविदितात् । अधि । इति । शुश्रुम । पूर्वेषाम् । ये । नः । तत् । व्याचचक्षिरे ।

अर्थ

तत्र = उस ब्रह्म में
चक्षुः = नेत्र
न,गच्छति = नहीं जा सकता
न, वाक् गच्छति = न वाणी जा सकती है
नो, मनः = न मन जा सकता है
न, विद्मः = हम नहीं जानते
न, विजानीमः = और न विशेष रूप से जान सकते हैं
यथा = जिससे
अनुशिष्यात् = शिष्यादिकों को उपदेश किया जाय
तत् = वह ब्रह्म
विदितात् = ज्ञान वस्तु से

अन्यत्, एव = अन्य ही है　　　शुश्रुम = सुनते हैं
अथो = और　　　　　　　　　ये = जो
अविदितात् = अज्ञातपदार्थ से　　नः = हमको
अधि = ऊपर है　　　　　　　　तत् = उसका
इति = इस प्रकार　　　　　　　व्याचचक्षिरे = उपदेश करते
पूर्वेषां = पूर्वाचार्य्यों से हम　　　आये हैं।

भाष्य - निराकार होने के कारण ब्रह्म चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं, न वाणी का विषय है और मन चञ्चल होने के कारण न उसका विषय है अर्थात् असंस्कृत मन उसको प्राप्त नहीं हो सकता, गुरु ने शिष्य को कहा कि हे शिष्य परमात्मा मन, वाणी आदि का विषय नहीं, मैं तुम्हें किस प्रकार उपदेश करूं, क्योंकि जो कुछ हमने जाना है उससे परमात्मा भिन्न है और जो कुछ हमने नहीं जाना उसके ऊपर है, इस कार्य्यरूप जगत् और कारणरूप प्रकृति से भी परे है अर्थात् उसका अधिष्ठाता है, ब्रह्मविषयक ऐसा ही उपदेश हम ने पूर्वाचार्य्यों से सुना है।

सं० — ननु -- शब्दप्रमाण का विषय होने से ब्रह्म निर्विशेष नहीं किन्तु सविशेष है, क्योंकि शब्द किसी न किसी आकार-विशिष्ट वस्तु को ही वर्णन करता है निर्विशेष को नहीं, इस आशय से शिष्य को आशङ्का हुई कि विदिताविदित से ब्रह्म भिन्न कैसे ? उत्तरः----

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥४॥

पद० — यत् । वाचा । अनभ्युदितम् । येन । वाक ।

अभ्युद्यते । तत् । एव । ब्रह्म । त्वम् । विद्धि । न । इदम् । यत् । इदम् । उपासते ।

अर्थ

यत् = जो	ब्रह्म = परमात्मा
वाचा = वाणी से	विद्धि = जान
अनभ्युदितं = प्रकाशित नहीं होता	यत् = जो
येन = जिससे	इदं = यह चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय मूर्त्त जगत् है
वाक् = वाणी	इदं = यह जिसकी लोग
अभ्युद्यते = प्रकाशित होती है	उपासते = उपासना करते हैं वह ब्रह्म
तत्, एव = उसको ही	न = नहीं
त्वं = तू	

भाष्य—स्वतःप्रकाश होने के कारण ब्रह्म वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु वाणी उससे प्रकाशित होती है और जो अज्ञानी लोग साकार के सहारे जिसकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं ।

आधुनिक वेदान्ती इसके यह अर्थ करते हैं कि इन श्लोकों में उपाधिविशिष्टरूप की उपासना का कथन किया है ? इसका उत्तर यह है कि इससे भी तो मूर्त्तरूप की ही उपासना का निषेध हुआ, क्योंकि उपाधि इनके मत में माया है और मूर्त्तत्व धर्म माया में है ब्रह्म में नहीं, इसी अभिप्राय से इन श्लोकों में मायिकरूप का निषेध किया है ।

तात्पर्य्य यह है कि इन श्लोकों में जड़ पदार्थों की उपासना का निषेध किया गया है और यह निषेध मूर्त्तिमात्र का उपलक्षण है अर्थात् किसी मूर्त्ति द्वारा परमेश्वर की उपासना नहीं करनी चाहिये, इसी अभिप्राय से वाणी आदिकों का

प्रकाशक ब्रह्म को कथन किया है अर्थात् वागादि इन्द्रिय उससे प्रकाशित होते हैं।

सं०—अब ब्रह्म को मन का प्रकाशक कथन करते हैं—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥५॥

पद०—यत् । मनसा । न । मनुते । येन । आहुः । मनः । मतम् । तत् । एव । ब्रह्म । त्वम् । विद्धि । न । इदम् । यत् । इदम् । उपासते ।

अर्थ

यत्=जिसको	तत्=उसी को
मनसा=मन से कोई पुरुष	त्वं=तू
न=नहीं	एव=निश्चय करके
मनुते=जानता और	ब्रह्म=परमात्मा
येन=जिससे	विद्धि=जान, और जो
मनः=मन	यत्, इदं=इस मन से जानने योग्य सुखादि की
मतं=जाना गया है ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग	उपासते=उपासना करते हैं
आहुः=कथन करते हैं	इदं, न=यह ब्रह्म नहीं

भाष्य—इस मन्त्र में यह कथन किया है कि सूक्ष्म होने के कारण ब्रह्म मन का भी अविषय है और वह ब्रह्म मन को जानता है, यद्यपि मन सूक्ष्म है परन्तु वह मन का ज्ञाता है मन उसका ज्ञाता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि असंस्कृत मन उसको नहीं पा सकता, और इसी प्रकार पूर्व यह भी कथन किया गया है कि अवैदिक

वाणी भी उसको नहीं कथन कर सकती, क्योंकि वह अवैदिक वाणी और असंस्कृत मन का विषय नहीं, इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय ब्रह्मवल्ली खण्ड० ६।१ में कथन किया है कि ["यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"]=उससे अवैदिक वाणियें और मन निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसको नहीं पा सकता।

सं०—अब ब्रह्म को चक्षु इन्द्रिय का अविषय कथन करते हैं—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

पद०—यत् । चक्षुषा । न । पश्यति । येन । चक्षूंषि । पश्यति तत् । एव । ब्रह्म । त्वम् । विद्धि । न । इदम् । यत् । इदम् । उपासते ।

अर्थ

यत्=जिसको	एव=निश्चय करके
चक्षुषा=चक्षु से	त्वं=तू
न, पश्यति=कोई नहीं देख सकता, और	ब्रह्म=परमात्मा
येन=जिसकी सत्ता में	विद्धि=जान
चक्षूंषि=चक्षु	यत्, इदं=जो इस चक्षुग्राह्यरूप की
पश्यति=देखता है	उपासते=उपासना करते हैं
तत्=उसी को	इदं, न=यह ब्रह्म नहीं ॥

भाष्य—जिसको हम चक्षु से विषय नहीं कर सकते और चक्षु जिसकी सत्ता पाकर रूप को विषय करता है उसी को तू

ब्रह्म जान अन्य को नहीं, यहां "चक्षूंषि" यह बहुवचन छान्दस है अर्थात् पश्यति का कर्त्ता "चक्षु" एकवचन चाहिये था बहुवचन नहीं परन्तु वैदिक संस्कृत के समान बहुवचन है जिसके अर्थ एकवचन के करने चाहियें।

सं०---अब ब्रह्म को श्रोत्र का अविषय कथन करते हैं:—

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥७॥

पद०—यत्। श्रोत्रेण। न। शृणोति। येन। श्रोत्रम्। इदम्। श्रुतम्। तत्। एव। ब्रह्म। त्वं। विद्धि। न। इदम्। यत। इदम्। उपासते।

अर्थ

यत्=जिसको
श्रोत्रेण=श्रोत्र से
न, शृणोति=कोई नहीं सुनता
येन=जिससे
इदं=यह
श्रोत्रं=श्रोत्र
श्रुतं=सुनता है
तत्=उसको
एव=निश्चय करके
त्वं=तू
ब्रह्म=परमात्मा
विद्धि=जान
यत्, इदं=जो इसकी
उपासते=उपासना करते हैं
इदं, न=यह ब्रह्म नहीं है॥

भाष्य—कर्णशष्कुलीवर्ती श्रोत्र इन्द्रिय से ब्रह्म नहीं सुना जाता किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय ब्रह्म की सत्ता को पाकर श्रवणशक्ति को लाभ करता है, उक्त इन्द्रिय में स्वतन्त्र श्रवणशक्ति नहीं; यदि उसमें स्वतन्त्र सुनने की शक्ति होती तो सन्निहित मृत्युकाल में भी श्रोत्र सुनता पर उस समय श्रोत्र सुन नहीं सकता, वाणी

बोल नहीं सकती, आंख देख नहीं सकती, इससे यह कथन किया है कि वह ब्रह्म श्रोत्रादिकों का विषय नहीं किन्तु श्रोत्रादि सब इन्द्रिय उसकी सत्ता को पाकर अन्य पदार्थों के प्रकाशित करने की शक्ति को लाभ करते हैं॥

सं०---अब प्राणों को भी प्राणनचेष्टा देने वाला ब्रह्म को ही कथन करते हैं:----

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥८॥

पद०—यत्। प्राणेन। न। प्राणिति। येन। प्राणः। प्रणीयते। तत्। एव। ब्रह्म। त्वं। विद्धि। न। इदम्। यत्। इदम्। उपासते।

अर्थ

यत्=जो
प्राणेन=प्राण से
न, प्राणिति=चेष्टा नहीं करता
येन=जिससे
प्राणः=प्राण
प्रणीयते=चेष्टा करता है
तत्, एव=उसको ही
ब्रह्म=परमात्मा
त्वं=तू
विद्धि=जान
यत, इदं=जो इस श्वासप्रश्वास रूप वायु की
उपासते=उपासना करते हैं
इदं, न=यह ब्रह्म नहीं है।

भाष्य--इस श्लोक में ब्रह्म विषयक प्राणाधीन चेष्टा का निषेध किया है और प्राणों की चेष्टा ब्रह्माधीन कथन की है अर्थात् परमात्मा की सत्ता से ही प्राणादि चेष्टा करते हैं अन्यथा नहीं, और ब्रह्म जीव के समान प्राणों का सहारा नहीं चाहता, जो प्राणों का सहारा नहीं चाहता उसी की तू उपासना कर अन्य की नहीं।

भाव यह है कि उक्त पांच श्लोकों में स्पष्ट रीति से जड़ उपासना का निषेध किया है फिर भी जड़ोपासनावादी उक्त पांचों के अन्यथा अर्थ करके जड़ोपासना सिद्ध करते हैं, जैसा कि कोई कहता है यह उपासना का प्रकरण नहीं किन्तु ज्ञेय वस्तु के बोधन का प्रकरण है, कोई कहता है कि इनमें जीव चेतन को ही सब का प्रकाशक सिद्ध किया है, किसी का कथन है कि जीव को इन्द्रियों से भिन्न कथन करने के अभिप्राय से उक्त श्लोक हैं. एवंविध कई प्रकार से वादी लोग भ्रान्त हैं, वस्तुतः यदि उक्त श्लोकों का तात्पर्य्य ब्रह्म से भिन्न उपासना के निषेध में और ब्रह्म की उपासना में तात्पर्य्य न होता तो ["नेदं यदिदमुपासते"]=यह नहीं जिसकी तुम उपासना करते हो, यह वाक्य उक्त श्लोकों के अन्त में पुनः २ न पढ़ा जाता, इस वाक्य के पुनः २ पढ़ने का अभिप्राय यही है कि ब्रह्म से भिन्न की उपासना पुरुष को कदापि नहीं करनी चाहिये, और "उपासना" शब्द के अर्थ भी उसके सामीप्य को लाभ करना है, परमात्मा का सामीप्य उसकी उपासना द्वारा ही उपलब्ध होसकता है जड़ उपासना से नहीं, इसी अभिप्राय से वेद में भी ["न तस्य प्रतिमास्ति"] यजु० ३२।३ ["नैनंमूर्ध्वं न तिर्य्यञ्च"] यजु० ३२।२ इत्यादि मंत्रों में जड उपासना का बल-पूर्वक निषेध करके:—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतँ स्मर॥

यजु० ४०।१५

इत्यादि मंत्रों में "ओ३म्" अक्षर द्वारा ब्रह्म निराकार की उपासना का विधान किया गया है:—

इति प्रथमःखण्डः

— ❀ —

द्वितीयः खण्डः

सं—अब शिष्य के प्रति गुरु ब्रह्म की सूक्ष्मता कथन करने के लिये पुनः उपदेश करते हैं:—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ ६ ॥

पदः—यदि। मन्यसे। सुवेद। इति। दभ्रम्। एव। अपि। नूनम्। त्वम्। वेत्थ। ब्रह्मणः। रूपम्। यत्। अस्य। त्वम्। यत्। अस्य। देवेषु। अथ। नु। मीमांस्यम्। एव। ते। मन्ये। विदितम्।

अर्थ

हे शिष्य	वेत्थ = जानता है
यदि = जो	अथ = और
त्वं = तू	नु = निश्चय करके
अस्य, ब्रह्मणः = इस ब्रह्म का	यत् = जा
यत् = जो	अस्य = इसका
रूपं = स्वरूप है उसको	रूपं = स्वरूप
सुवेद = भले प्रकार जानता हूँ	देवेषु = दिव्य पदार्थों में है वह मैं
इति = ऐसा	ते = तेरे लिये
मन्यसे = मानता है तो	मीमांस्यं, एव = विचार करने योग्य ही
नूनं = निश्चय करके	मन्ये = मानता हूं ॥
त्वं = तू	
दभ्रं, एव = अल्प ही	

भाष्य—इस श्लोक में गुरु का शिष्य के प्रति यह कथन है कि हे शिष्य यदि तू ब्रह्म के ज्ञान को सुवेद = सुखाला मानें तो

यह तेरा जानना अल्प है, क्योंकि ब्रह्म सब दिव्यरूपों में मीमांसा करने से जाना जा सकता है अर्थात् सूर्य्य, अग्नि वायु आदि जितने दिव्य शक्ति वाले पदार्थ हैं उनमें व्याप्य-व्यापकभाव तथा नियाम्य नियामकभावरूप से जब ब्रह्म की मीमांसा की जाती है तब ब्रह्म जाना जा सकता है अन्यथा नहीं, इस मंत्र में ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता कथन की है।

तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म सूक्ष्म है और अपने सूक्ष्मरूप से सर्वगत है इसलिये उसका ज्ञान "इदंता" करके नहीं हो सकता, इसलिये शिष्य के "इदंता" रूपी ज्ञान का इस मन्त्र में निषेध किया है, यद्यपि "इदंता" का निषेध पूर्व के पांच श्लोकों में भी किया गया है परन्तु इसमें "इदंता" का ज्ञान अल्प कथन करने से इस बात को स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्म "इदंता" रूप से ज्ञान का विषय नहीं।

सं०—अब शिष्य ब्रह्म के जानने में हेतु कथन करता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥१०॥

पद०—न। अहं। मन्ये। सुवेद। इति। नो। न वेद। इति। वेद। च। यः। नः। तत्। वेद। तत् वेद। नो। न। वेद। इति। वेद। च।

अर्थ

सुवेद=सुखपूर्वक जाना जाता है	मन्ये=मानता और
इति=यह	न, वेद=नहीं जानता
हं=मैं	इति=यह भी
न=नहीं	न=नहीं

च=और	वेद=जानता है, और वह
वेद=जानता हूं	जानना इस प्रकार है कि
यः=जो	न, वेद=नहीं जानता
नः=हममें से	इति=यह
तत्=उस ब्रह्म को	नो=नहीं
वेद=जानता है	च=किन्तु
तत्=उसको	वेद=जानता हूँ

भाष्य—शिष्य ने अपने जानने का प्रकार यह बतलाया कि मैं ब्रह्म के ज्ञान को सुवेद=सुखाला नहीं मानता और नाही यह मानता हूं कि ब्रह्म नहीं जाना जाता किन्तु यह मानता हूँ कि जो हममें से ब्रह्म को जानता है वह दृढ़तापूर्वक ब्रह्मज्ञान का कथन कर सकता है।

भाव यह है कि जो पुरुष ब्रह्मज्ञान की योग्यता न रखते हुए अपने आपको उसका अनधिकारी पाकर यह कथन करते हैं कि हम ब्रह्म को नहीं जानते वह उसको नहीं जान सकते और जो साधन सम्पन्न होकर ब्रह्म को जानते हैं वह जानने का अभिमान कर सकते हैं अन्य नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म को जानने के लिये अधिकार की आवश्यकता है और अधिकारी पुरुष उसके ज्ञान को कथन कर सकता है अर्थात जैसा जानता है वैसा ही लोगों के प्रति कथन कर सकता है यही उसके ज्ञातृत्व का प्रमाण है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं, इसलिये शिष्य ने यह कहा कि मैं उसको नहीं जानता और जीव का अपना आप है इसलिये कहा कि मैं जानता हूं, यह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय न होता तो ["दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"] कठ०

१ । ३ । १२ इत्यादि वाक्यों में उसको ज्ञान का विषय न कथन किया जाता, और यदि "अपना आप" होता तो ["केनेषितं"] इत्यादि वाक्यों में उस विषयक प्रश्न न किया जाता, इससे सिद्ध है कि यह प्रकरण ब्रह्म ज्ञान का है जीव के अपने स्वरूप भूत ज्ञान का नहीं ।

सं०—अब ब्रह्म के बोध का अनुष्ठान कथन करते हैं—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥११॥

पद० - यस्य । अमतम् । तस्य । मतम् । मतम् । यस्य । न । वेद । सः । अविज्ञातम् । विजानताम् । विज्ञातम् । अविजानताम् ।

अर्थ

यस्य = जिसका
अमतं = अमत है
तस्य = उसका
मतं = मत है
यस्य = जिसका
मतं = मत है
सः = वह
न, वेद = ब्रह्म को नहीं जानता, क्योंकि
विजानतां = जानने वालों को
अविज्ञातं = अविज्ञात है और
अविजानतां = न जानने वालों को
विज्ञातं = विज्ञात हैं ॥

भाष्य—जो पुरुष ब्रह्म को विशेषणविशेष्यरूप से जानते हैं अर्थात गुणगुणिभाव से ब्रह्म के ज्ञाता हैं परन्तु जिन्होंने अनुष्ठान रूप से ब्रह्मज्ञान को अपने आप में अनुभूत नहीं किया केवल शब्दार्थमात्र से ब्रह्म के ज्ञाता हैं वह उसको नहीं जानते और जो शब्दार्थमात्र से ही ज्ञाता नहीं किन्तु जिन्होंने ब्रह्म के

अपहतपाप्मादि भावों को अपने आप में धारण किया है वही जानते हैं अन्य नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि वाचकज्ञानी लोग उसको ठीक २ नहीं जानते किन्तु जो वाणीमात्र से ज्ञान का अभिमान नहीं करते किन्तु वास्तव में उसके स्वरूप का अनुभव करते हैं वह उसको जानते हैं अन्य नहीं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जो ब्रह्म को ज्ञान का विषय मानता है अर्थात ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इस प्रकार त्रिपुटिरूप से जिसकी भेद बुद्धि है वह ब्रह्म को नहीं जानता और जिसका उक्त प्रकार से भेदमत नहीं है वह उसको जानता है, यदि यह अर्थ ठीक भी माने जायं तब भी जानने से उनके मत में फिर भी भेद बुद्धि हुई, क्योंकि उनके मत में चेतन ज्ञाता नहीं किन्तु ज्ञानस्वरूप है फिर यह कथन करना कि न जानने वालों में ब्रह्म विज्ञात है अर्थात् जाना गया है, यह कैसे ? क्योंकि इनके मत में ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं, इसलिये भेद के खण्डन में जो उक्त मंत्र लगाया गया है वह ठीक नहीं॥

सं०—अब उक्त अनुष्ठानज्ञान का फल कथन करते हैं:—

प्रतिबोधविदितंमतममृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्य्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥१२॥

पद०—प्रतिबोधविदितम। मतम्। अमृतत्वम्। हि। विन्दते। आत्मना। विन्दते। वीर्य्यम्। विद्यया। विन्दते। अमृतम्।

अर्थ

प्रतिबोधविदितं=ब्रह्मज्ञान के अनुष्ठान से जाना गया जो मतं=आत्मतत्त्व है उससे हि=निश्चय करके

अमृतत्वं = मोक्ष विन्दते = प्राप्त होता है
विन्दते = प्राप्त होता है और विद्यया = विद्या से
आत्मना = आत्मा से अमृतं = मुक्ति को
वीर्य्यं = बल विन्दते = प्राप्त होता है ॥

भाष्य—जो पुरुष प्रतिबोध से अपना मत स्थिर करते हैं अर्थात् बारंबार निदिध्यासन करके ब्रह्म के गुणों को अपने में धारण कर लेते हैं वह अमृत = मुक्ति को लाभ करते हैं, क्योंकि मुक्ति आत्मिक बल और ब्रह्मज्ञान से मिलती है, इसलिये आत्मिक बल से ब्रह्मज्ञान का अनुष्ठान करना और विद्या = ब्रह्म के यथार्थज्ञान द्वारा मृत्यु से छूटना अमृत है और यह अमृत-पद ब्रह्म के साक्षात्कार से मिलता है वाक्यजन्य ज्ञान से नहीं, इसी अभिप्राय से इस श्लोक में प्रतिबोध पद पढ़ा है।

सार यह निकला कि केवल वाणीमात्र ब्रह्म को अभिमत करने वालों से वह नहीं जाना जाता और जिनका मानना वाणीमात्र से ही अभिमत नहीं किन्तु प्रतिबोध से अभिमत है वह अमृत को पाते हैं अन्य नहीं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि प्रतिबोध के अर्थ अपने आपको ब्रह्म समझ लेने के हैं, यदि यह अर्थ माने जायं तब भी तो एक प्रकार का मत हुआ, और पूर्व श्लोक में कथन किया गया है कि जिसका मत है वह ब्रह्म को नहीं जानता बिना मत वाला ही जानता है, यह अर्थ जीव को ब्रह्म मानने वाले ब्रह्मवादियों के मत में कदापि सङ्गत नहीं हो सकते, क्योंकि जीव को ब्रह्म मानना भी तो एकमत है, इसलिये उक्त अर्थ ठीक नहीं ॥

सं०—अब इसी जन्म में ब्रह्मज्ञान का महत्व कथन करते हैं:—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ १३ ॥

पद०—इह । चेत् । अवेदीत् । अथ । सत्यम् । अस्ति । न । चेत् । इह । अवेदीत् । महती । विनष्टिः । भूतेषु । भूतेषु । विचिन्त्य । धीराः । प्रेत्य । अस्मात् । लोकात् । अमृताः । भवन्ति ॥

अर्थ

इह=इस जन्म में	अवेदीत्=जाना गया तो
चेत्=यदि	महती=बड़ी
अवेदीत्=परमात्मा जाना गया है तो	विनष्टिः=हानि है,
	धीराः=धीर पुरुष
सत्यं=अमृत	भूतेष,भूतेष=सब प्राणियों में
अस्ति=है	विचिन्त्य=विचार कर
अथ=और	अस्मात्, लोकात्=इस लोक से
चेत्=यदि	प्रेत्य=देहत्यागानन्तर
इह=यहां पर	अमृताः=मुक्त
न=नहीं	भवन्ति=हो जाते हैं ॥

भाष्य—जो धीर पुरुष व्याप्यव्यापक भाव से प्राणिमात्र में परमात्मा की सत्ता को अनुभव करते हैं वह मरणानन्तर मुक्ति को अवश्यमेव पाते हैं और जो ऐसा नहीं करते वह महती-विनष्टि=नाश को प्राप्त हो जाते हैं ।

सार यह निकाला कि इसी जन्म में पुरुष को परमात्मपरायण होना चाहिये, यदि ऐसा न करेगा तो वह नाश को प्राप्त होगा, इसलिये इस जन्म में ही परमात्मज्ञान की उपलब्धि के

लिये यत्न करना इस श्लोक में कथन किया गया है, और इससे यह बात भी स्पष्ट हो गई कि पूर्व श्लोकों में जो ज्ञान कथन किया गया है वह परमात्मज्ञान है जीवात्मा का अपना ज्ञान नहीं, क्योंकि यदि जीवात्मा का आत्मभूत ज्ञान होता तो ["भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः"] इस वाक्य में सब भूतों में व्यापक परमात्मज्ञान से मुक्ति का कथन न किया जाता; इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ["यस्यमतं तस्यमतं"] ["प्रतिबोध विदितंमतं"] इन श्लोकों में जो मायावादियों ने जीव को ब्रह्म बनाने का यत्न किया है वह सर्वथा निष्फल है।

इति द्वितीयःखण्डः

——※——

तृतीयः खण्डः

सं०—अब अग्न्यादि भौतिक पदार्थों से ब्रह्म की उत्कृष्टता बोधन करने के लिये अलङ्कारूप से ब्रह्म का विजय कथन करते हैं:—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त । त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १४ ॥

पद० ब्रह्म । ह । देवेभ्यः । विजिग्ये । तस्य । ह । ब्रह्मणः । विजये । देवाः । अमहीयन्त । ते । ऐक्षन्त । अस्माकम् । एव । विजयः । अस्माकम् । एव । अयं । महिमा । इति ।

अर्थ

ब्रह्म=सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा ने	अमहीयन्त=पूजे गये
ह=निश्चयपूर्वक	ते=वह देव
देवेभ्यः=अग्न्यादि देवताओं से	अस्माकम्, एव=हमारी ही
विजिग्ये=जय प्राप्त किया	अयं=यह
तस्य; ब्रह्मणः=उस ब्रह्म के	महिमा=महत्व है
विजये=विजय प्राप्त करने पर	इति=ऐसा
देवाः=उक्त देव	ऐक्षन्त=मानने लगे

भाष्य—जब ब्रह्म परमात्मा ने अग्न्यादि तत्त्वों द्वारा सृष्टि उत्पन्न की तो इस उत्पत्तिरूप विजय में अग्न्यादि देवताओं की पूजा हुई अर्थात् अग्न्यादि देवतारूपों में लोग उनका सत्कार करने लगे, इससे उक्त अग्न्यादिकों को यह अभिमान हुआ कि यह उत्पत्ति रूप विजय हमारा ही है अर्थात् पञ्चभूतात्मक ही यह सब जगत् है इससे भिन्न कोई परमात्मा नहीं, इस प्रकरण में नास्तिकमत के खण्डनार्थ इस आख्यायिका को रचा है कि अग्न्यादि तत्त्वों ने अपना विजय माना, प्रकृतिमात्र को कारण समझने वाले अब भी इसी प्रकार से भ्रान्त हैं कि स्वभावसिद्ध ही इस सृष्टि का निर्माण हुआ है प्रकृत्यात्मक जड़वर्ग से भिन्न अन्य कोई ईश्वर नहीं, इस भाव को दूर करने के लिये यह प्रकरण चलाया गया है कि ब्रह्म ने देवताओं के लिये विजय किया।

सं०—अब अग्न्यादि भूतों की अहंकृति भंजनार्थ अलङ्कार द्वारा ब्रह्म में यक्षरूप का उपन्यास करते हैं—

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न-व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥ १५ ॥

पदः—तत् । ह । एषाम । विजज्ञौ । तेभ्यः । ह । प्रादुर्बभूव । तत् । न । व्यजानन्त । किम् । इदम् । यक्षम् । इति ।

अर्थ

तत्=वह ब्रह्म
ह=निश्चय करके
एषां=अग्न्यादि देवताओं के
विजज्ञौ=तात्पर्य को जान गया
तेभ्यः=उनके लिये
ह=निश्चय करके
प्रादुर्बभूव=प्रकट हुआ उन्होंने
इदं=यह
यक्षं=पूज्य पदाथ
किं=कौन है
इति=इस प्रकार
तत्=उसको
न व्यजानन्त=नहीं जाना ।

भाष्य—परमात्मा ने अपने अस्तित्व बोधन के लिये अपने पूज्य रूप का आविर्भाव किया, जिसको जड़ अग्न्यादिकों ने नहीं जाना, क्योंकि परमात्मा का सर्वोपरि होना जड़ पदार्थ कब जान सकते हैं ।

भाव यह है कि परमात्मा के आस्तित्व को चेतन जीव ही जान सकता है अग्न्यादि नहीं, परमात्मा का यक्षरूप से प्रकट होना इस श्लोक में उपचार से कथन किया गया है जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में अग्नि परमात्मा का मुख, चन्द्र सूर्य्य नेत्र, दिशायें श्रोत्र और वेद वाणी, यह रूपक बांधकर उपचार से कथन है अर्थात् परमात्मा के नेत्र, श्रोत्र, मुख और वाणी कहे जा सकते हैं तो उक्त प्रकार से ही कहे जा सकते हैं अन्यथा नहीं, इस उपचार को रूप का उपन्यास करना कहते हैं,

इसकी व्याख्या ब्र० सू० १।२।२३ में की है, एवं इस स्थल में भी अलङ्कार है यक्ष कोई व्यक्तिविशेष न था और नाही अग्न्यादि वस्तुतः उसके पास गये, यह कथा केवल उपचार से है।

सं०—अब उस ब्रह्मज्ञान के लिये अग्नि का उपचाररूप से यक्ष के पास जाना कथन करते हैं—

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ १६ ॥

पद०—ते। अग्निम्। अब्रुवन्। जातवेदः। एतत्। विजानीहि। किम्। एतत्। यक्षम्। इति। तथा। इति।

अर्थ

ते=वह सब देवता
अग्निं=अग्नि को
अब्रुवन्=बोले कि
जातवेदः=हे अग्ने
एतत्=यह
यक्षं=यक्ष
किं, इति=कौन है
एतत्=इस को
विजानीहि=तू जान, अग्नि ने कहा
तथा, इति=बहुत अच्छा

भाष्य—इन्द्रादि देवों ने अग्नि को कहा कि हे जातवेद! तू जाकर यह ज्ञात कर कि यक्ष कौन है, ["जातं वेदो धनं-यस्मात् स जातवेदाः"]=जिससे धन पैदा हुआ हो उसका नाम ["जातवेद"]=अग्नि है, कलाकौशलादि कर्मों का मुख्य कारण से अग्नि धन की उत्पत्ति का कारण है अथवा प्रातः सायं अग्नि में हवनादि यज्ञ करने से वैदिकधर्मी धन के अधिकारी होते हैं, इसलिये भी अग्नि धनोत्पत्ति का कारण

है अथवा ["जाते जाते विद्यत इति जातवेदाः"]=प्रत्येक कार्य्य में विद्यमान होने से अग्नि का नाम ["जातवेद"] है, और ["यद्यते पूज्यते इति यक्षः"]=जो पूजा किया जाय उसका नाम ["यक्ष"] है।

पौराणिक लोग जैसे भूत, प्रेत, पिशाचादिकों की योनि-विशेष मानते हैं इसी प्रकार यक्षों की भी योनिविशेष मानते हैं परन्तु यहां योनिविशेष से तात्पर्य्य नहीं किन्तु पूज्य पदार्थ से तात्पर्य्य है, और इस उपनिषद् के उपक्रम तथा उपसंहार से भी यही सिद्ध होता है कि ["यक्ष"] यहां परमात्मा का नाम है और उसकी शक्ति बोधन करने के लिये अग्न्यादि तत्त्वों की शक्ति अल्प कथन की गई है।

सं०—अब उपचार रूप से अग्नि को यक्ष के पास भेजते हैं—

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति । अग्निर्वाऽ अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वाऽअहमस्मी-ति ॥ १७ ॥

पद०—तत् । अभ्यद्रवत् । तम् । अभ्यवदत् । कः । असि । इति । अग्निः । वै । अहम् । अस्मि । इति । अब्रवीत् । जातवेदाः । वै । अहम् । अस्मि । इति ।

अर्थ

अग्निः=अग्नि	अभ्यवदत्=यक्ष बोला कि
तत्=उस यक्ष के	कः, असि, इति=तू कौन है
अभ्यद्रवत्=सन्मुख गया	अब्रवीत्=अग्नि ने कहा
तं=अग्नि से	अहं=मैं

अग्नि, अस्मि:, इति = अग्नि हूँ   जातवेदा:, अस्मि, इति = जात-
वै = निश्चय करके   वेदा हूं
अहं = मैं

भाष्य – इस श्लोक में प्रश्नोत्तर की रीति से यक्ष ने अग्नि से पूछा कि तू कौन है ? अग्नि ने अभिमान सहित उत्तर दिया कि मैं जातवेदा हूं, उपनिषत्कार ने अग्नि तथा यक्ष का बोलना उपचार रूप से कथन किया है वस्तुतः यक्ष तथा अग्नि का वार्त्तालाप असम्भव है, कई लोग इस भ्रान्ति में भ्रान्त हैं कि अग्नि का अधिष्ठात्री देवता चेतन है उसमें वार्त्तालाप करने का सामर्थ्य हो सकता है, उनका यह कथन सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि यदि अधिष्ठात्री देवता चेतन था तो उसने ब्रह्म को क्यों न जाना, और उसमें देवत्व ही क्या जब वह ब्रह्म को नहीं जान सकता, यदि यह प्रश्न हम पर किया जाय कि तुम्हारे मत में भी तो अग्न्यादि देवता हैं ? इसका उत्तर यह है कि प्रकाशक होने के अभिप्राय से हमारे मत में अग्न्यादि देवता हैं चेतन होने के अभिप्राय से नहीं, और जिनके मत में अधिष्ठात्री देवता सब वस्तुओं के भिन्न २ हैं उनके मत में जीव के विभुवाद के समान वह सब देवता सर्वगत हैं फिर उन देवता और ईश्वर में क्या भेद ? यह नानादेववादियों का मत वेदोपनिषदों से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यदि अधिष्ठात्री देवता के अभिप्राय से अग्नि यक्ष के पास जाता तो उसके आगे जलाने के लिये तृण न रखा जाता, तृण रखने से यह स्पष्ट सिद्ध है कि यहां भौतिकाग्नि का ग्रहण है और उसी का उपचाररूप से यक्ष के पास जाना कथन किया गया है।

सं०—अब यक्ष का अग्नि से पूछना कथन करते हैं—

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ सर्वं दहेयं-यदिदं पृथिव्यामिति ॥ १८ ॥

पद०—तस्मिन् । त्वयि । किं । वीर्यम् । इति । अपि । इदम् । सर्वम् । दहेयम् । यत् । इदम् । पृथिव्याम् । इति ।

अर्थ

यक्ष बोला कि
तस्मिन्, त्वयि=तुझ अग्नि में
किं=क्या
वीय, इति=सामर्थ्य है
तत्=जो
इदं=कुछ
पृथिव्यां=पृथिवी में है
अपि=निश्चय करके
इदं, सर्वं=इस सब को
दहेयम्=जला सकता हूं
इति=यह सामर्थ्य है ॥

भाष्य—यक्ष के पूछने पर अभिमान सहित अग्नि का उत्तर यह था कि जो कुछ पृथिवी में है उस सब को जला सकता हूं ॥

सं०—अब यक्ष अग्नि के सामर्थ्य की तुलना करते हैं:—

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्व-जवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१६॥

पद०—तस्मै । तृणं । निदधौ । एतत् । दह । इति । तत् । उपप्रेयाय । सर्वजवेन । तत् । न । शशाक । दग्धुं । सः । ततः । एव । निववृते । न एतत् । अशकम् । विज्ञातुम् । यत् । एतत् । यक्षम् । इति ।

अर्थ

तस्मै=उस अग्नि के लिये यक्ष ने	न=न हुआ
तृणं=एक तिनका	सः=वह अग्नि
निदधौ=धर कर कहा कि	ततः, एव=उससे
एतत्=इस को	निववृते=निवृत्त होकर अन्य देवताओं से कहने लगा
दह, इति=जलादे, तब अग्नि	यत्=जो
सर्वजवेन=सारे वेग से	एतत्=यह
तत्=उस तृण के	यक्षं, इति=यक्ष है
उपप्रेयाय=समीप गया	एतत्=इसके
तत्=उसको	विज्ञातुं=जानने को मैं
दग्धुं=जलाने को	न, अशकं=समर्थ नहीं।
शशाक=समर्थ	

भाष्य—ब्रह्म के सामर्थ्य के आगे अग्नि एक शुष्क तृण भी नहीं जला सका वस्तुतः यह बात ठीक है, अतिवृष्टि में वही अग्नि होता है जो हतसामर्थ्य हो जाता है, मृत्युकाल में वही जाठराग्नि होता है जो किसी वस्तु के पाचन करने का सामर्थ्य नहीं रखता, एवं सूक्ष्म विचार करने से सिद्ध होता है कि भौतिक तत्त्वों की शक्ति ब्रह्म के आगे तुच्छ है, केवल प्राकृत लोग अथवा मन्दमति चार्वाकादि लोग अनन्तशक्तिसम्पन्न निखिलब्रह्माण्डों के कर्त्ता ब्रह्म की शक्ति को भुलाकर इन तुच्छ तत्त्वों की शक्ति में फसे हुए हैं, यह उनकी भूल है वस्तुतः ब्रह्म की शक्ति के आगे इनकी कुछ सामर्थ्य नहीं, उक्त अज्ञानियों के अज्ञानकृत अभिमान को दूर करने के लिये ही यक्ष और अग्न्यादि तत्त्वों के सामर्थ्य की तुलना है॥

सं०—अब यक्ष के पास वायु को भेजने के लिये तैयार करते हैं:—

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति ॥ २० ॥

पद:—अथ। वायुम्। अब्रुवन्। वायो। एतत्। विजानीहि। किम्। एतत्। यक्षम्। इति।

अर्थ

अथ=अग्नि के अनन्तर सब देव
वायुं=वायु को
अब्रुवन्=बोले
वायो=हे वायु तू
एतत्=यह
यक्षं=यक्ष
किं इति=कौन है
एतत्=इसको
विजानीहि=तू जान

भाष्य—उक्त प्रकार से अग्नि के अनन्तर फिर सब देवताओं ने वायु को यक्ष के पास जाने के लिये तैयार किया और वायु ने उसके पास जाना स्वीकार किया।

सं०—अब वायु का यक्ष के पास जाना कथन करते हैं:—

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ २१ ॥

पद०—तत्। अभ्यद्रवत्। तम्। अभ्यवदत्। कः। असि। इति। वायुः। वै। अहम्। अस्मि। इति। अब्रवीत्। मातरिश्वा। वै। अहम्। अस्मि। इति।

अर्थ

वायु	अहं=मैं
तत्=उस यक्ष के	वायुः=वायु
अभ्यद्रवत्=सन्मुख गया	अस्मि, इति=हूँ
तं=उस वायु को	अहं=मैं
अभ्यवदत्=यक्ष बोला कि	वै=निश्चय करके
कः, असि,इति=तू कौन है	मातरिश्वा=अन्तरिक्षगामी
अब्रवीत्=वायु बोला कि	अस्मि, इति=हूं
वै=निश्चय करके	

भाष्य—वायु ने यक्ष के पूछने पर अभिमान सहित कहा कि मैं अत्यन्त वेगवान् वायु हूं और ["मातरि आकाशे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा"]=आकाश में गति करने के कारण मुझे ["मातरिश्वा"] भी कहते हैं।

सं० --अब यक्ष उसके सामर्थ्य को पूछते हैं:—

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदँ-सर्वमाददीयं-यदिदं पृथिव्यामिति ॥ २२ ॥

पद०—तस्मिन्। त्वयि। किम्। वीर्यम्। इति। अपि। इदम्। सर्वम्। आददीयम्। यत्। पृथिव्याम्। इति।

अर्थ

तस्मिन्, त्वयि=पूर्वोक्त गुणों वाले तुझ वायु में	पृथिव्यां=पृथिवी में है
	अपि=निश्चय करके
किं, वीर्यं=क्या बल है	इदं, सर्वं=इस सब को
यत्, इदं=यह जो कुछ	आददीयम्=उड़ा ले जासकता हूँ

सं०—अब यक्ष वायु के बल की तुलना करते हैं:—

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ २३ ॥

पद०—तस्मै । तृणम् । निदधौ । एतत् । आदत्स्व । इति । तत् । उपप्रेयाय । सर्वजवेन । तत् । न । शशाक । आदातुम् । सः । ततः । एव । निववृते । न । एतत् । अशकम् । विज्ञातुम् । यत । एतत् । यक्षम । इति ।

अर्थ

तस्मै=यक्ष ने उस वायु के लिए
तृणं=एक तृण
निदधौ=रखकर कहा कि
एतत्=इसको
आदत्स्व, इति=उड़ा, वायु
सर्वजवेन=सारे वेग से
तत्=उस तृण के
उपप्रेयाय=समीप प्राप्त हुआ परन्तु
तत्=उसको
आदातुं=उड़ाने को
न, शशाक=समर्थ न हुआ
सः=वह वायु
ततः, एव=उस तृण के उड़ाने से
निववृते=निवृत्त हुआ और अन्य देवों से आकर कहा कि
यत्=जो
एतत्=यह
यक्षं=यक्ष
इति=है
एतत्=इसके
विज्ञातुं=जानने को
न, अशकम्=मैं समर्थ नहीं हूँ

भाष्य—यक्ष ने वायु के सन्मुख एक शुष्क तृण रखकर कहा कि इसको उड़ा, वायु ने सम्पूर्ण वेग से उसके उड़ाने का

यत्न किया परन्तु न उड़ा सका तब लज्जित होकर और देवताओं से कहने लगा कि मैं इसके जानने में असमर्थ हूं अर्थात् इस के सामर्थ्य के सन्मुख मुझ में कुछ शक्ति नहीं है ॥

सं० अब इन्द्र को देवता यक्ष के पास भेजते हैं:—

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥२४

पद०—अथ । इन्द्रम् । अब्रुवन् । मघवन् । एतत् । विजानीहि । किम् । एतत् । यक्षम् । इति । तथा । इति । तत् । अभ्यद्रवत् । तस्मात् । तिरोदधे ।

अर्थ

अथ=इस के अनन्तर सब देवता
इन्द्रं=जीवात्मा को
अब्रुवन्=बोले कि
मघवन्=हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न जीवात्मन्! तू
एतत्=यह
यक्षं=यक्ष
किं, इति=कौन है
एतत्=इस को
विजानीहि=जान, इन्द्र
तथा, इति=तथास्तु कहकर
तत्=उस यक्ष के
अभ्यद्रवत्=सन्मुख गया
तस्मात्=उस इन्द्र से यक्ष
तिरोदधे=छिप गया

भाष्य –["इन्द्र"] शब्द के अर्थ यहां जीवात्मा के हैं और ऐश्वर्य्य सम्पन्न होने से उसी को ["मघवा"] भी कहते हैं, जीवात्मा जब यक्ष के पास गया तो यक्ष उससे छिप गया।

तात्पर्य्य यह है कि विद्याविहीन जीव परमात्मा के भावों को पाना चाहता है तो उनको पा नहीं सकता, इस अभिप्राय से छिप जाना कथन किया है।

सं०—अब विद्या की सहायता से जीवात्मा को ब्रह्मप्राप्ति कथन करते हैं—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताᳬं होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ २५ ॥

पद०—सः । तस्मिन् । एव । आकाशे । स्त्रियम् । आजगाम । बहुशोभमानाम् । उमाम् । हैमवतीम् । ताम् । ह । उवाच । किम् । एतत् । यक्षम् । इति ।

अर्थ

सः=वह जीवात्मा	आजगाम=आया
तस्मिन्, एव=उस ही	ह=प्रसिद्ध
आकाशे=आकाश में	तां=उस से
बहुशोभमानां=बहुत शोभा वाली	उवाच=बोला कि
हैमवती=शान्त्यादि गुणों से सम्पन्न	एतत्=यह
उमां=ब्रह्म विद्यारूपी	यक्षं=यक्ष
स्त्रियं—स्त्री के समीप	किं, इति=कौन है

भाष्य—उसी समय जीवात्मा ने एक विद्यारूपी स्त्री को देखा जो सत्यादि गुणों से सम्पन्न होने के कारण शोभा वाली और शान्त्यादि गुणों के सहित होने से मानो हिमालय की तनया थी, यहां ब्रह्मविद्या में स्त्रीभाव और हिमालय की पुत्री होना अलङ्कार से निरूपण किया है वस्तुतः कोई स्त्री विशेष न थी ।

["उमा"] यहां पार्वती का नाम नहीं किन्तु ["उं परमात्मानं माति प्रमाणयति इत्युमा"]=जो परमात्मा को बतलाये उसका नाम ["उमा"] है, इस व्युत्पत्ति से "उमा" नाम ["ब्रह्मविद्या"] का है, और ["हैमं विद्यते यस्या सा हैमवती"]=जिस में हिम के भाव हों उसका नाम ["हैमवती"] तथा ["हन्ति उष्माणमिति हिमम्"]=जो सन्ताप को दूर करे उसका नाम ["हिम"] है, इस प्रकार शान्त्यादि गुण सम्पन्न होने से ब्रह्मविद्या को ["हैमवती"] कहा गया है।

इति तृतीयःखण्डः

चतुर्थः खण्डः

सं०—अब उक्त ब्रह्मविद्या द्वारा जीव को ब्रह्मप्राप्ति कथन करते हैं:—

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २६ ॥

पद०—सा । ब्रह्म । इति । ह । उवाच । ब्रह्मणः । वै । एतत् । विजये । महीयध्वम् । इति । ततः । विदाञ्चकार । ब्रह्म । इति ।

अर्थ

सा=वह ब्रह्मविद्या
ब्रह्म, इति=यह ब्रह्म है
ह=प्रसिद्ध
उवाच=बोली
वै=निश्चय करके
ब्रह्मणः,=ब्रह्म की
एतत्=इस
विजये=विजय में

महीयध्वं=तुम पूजा को लाभ करो
इति=यह ब्रह्मविद्या ने कहा
ततः=इस वाक्य से जीवात्मा
विदाञ्चकार=ब्रह्म के तत्व को समझ गया कि
ब्रह्म, इति=यह ब्रह्म है ॥

भाष्य—उस ब्रह्मविद्या ने इन्द्रादि देवों को उपदेश किया कि तुम भूल में पड़े हुए हो यह यक्ष ब्रह्म है, इसी के विजय=जीत में तुम्हें अपनी जीत समझना चाहिये, इस कथन को चेतन होने के कारण जीवात्मा ने समझ लिया।

भाव यह है कि जब ब्रह्मविद्या से अलंकृत होकर जीवात्मा ब्रह्म के तत्त्व को समझना चाहता है तो वह ब्रह्म के अस्तित्वरूप तत्त्व को पा लेता है फिर उसको यह भ्रान्ति नहीं रहती कि अग्न्यादि संघात से ही यह सब चेतनाचेतनात्मक संसारवर्ग बना हुआ है इससे भिन्न कोई ईश्वर अथवा जीव नहीं, और जिन प्राकृत तथा लोकायतिक लोगों को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति नहीं वह नाना प्रकार से इस संशयसागर में निमग्न हैं कि अग्न्यादि जड़ तत्वों से भिन्न कोई ईश्वर नहीं, इस उपनिषद् में ब्रह्मविद्या द्वारा ईश्वर प्राप्ति कथन करके नास्तिक भाव को भले प्रकार दूर किया है और जो लोग इससे यक्षावतार सिद्ध करते हैं अथवा हिमालय की पुत्री का इन्द्र=जड़ विजली को उपदेश करना कथन करते हैं वह सर्वथा भूल में पड़े हुए हैं, भला हिमालय की पुत्री का जड़ बिजली को उपदेश करना कैसे सम्भव है और विजली रूप इन्द्र को हिमालय की पुत्री का आकाश में मिलना और इस ब्राह्मी उपनिषद् में इसकी क्या सङ्गति ? इत्यादि पूर्वोत्तर समालोचना करने से स्पष्ट सिद्ध है कि अग्न्यादि तत्वों की न्यूनता बतलाने के लिये और ब्रह्म का सर्वोपरि बल बोधन करने के लिये यह आख्यायिका है जिसको साकारवादी भूलकर

यज्ञावतार में लगाते हैं और युक्ति यह है कि यज्ञ चौबीस अवतारों में कोई अवतार नहीं फिर इस यज्ञ की कथा से यज्ञावतार निकालना कब सम्भव हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म ने ही यज्ञावतार धारण किया? तो उत्तर यह है कि ब्रह्म चैतन्यभाव से यज्ञरूप में परिणत हुआ अथवा यज्ञरूप में प्रविष्ट हुआ? यदि परिणाम से यज्ञ-रूप मानें तो ठीक नहीं, क्योंकि कूटस्थनित्य ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकता और यदि प्रवेश मानें तो सर्वगत ब्रह्म का प्रवेश नहीं हो सकता, इन युक्तियों से भी अवतार की कल्पना करना यहां सर्वथा निर्मूल है।

सं०—अब इन्द्रादि देवों की अन्य देवों से उत्कृष्टता कथन करते हैं:—

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते-ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २७ ॥

पद०—तस्मात्। वै। एते। देवाः अतितराम्। इव। अन्यान्। देवान्। यत्। अग्निः। वायुः। इन्द्रः। ते। हि। एनत्। नेदिष्ठम्। पस्पर्शुः। ते। हि। एनत्। प्रथमः। विदाञ्चकार। ब्रह्म। इति।

अर्थ

यत्=जो
अग्निः, वायुः, इन्द्रः=अग्नि, वायु, इन्द्र
ते=यह तीनों
हि=निश्चय करके
एनत्=इस ब्रह्म के
नेदिष्ठं=अत्यन्त समीप
पस्पर्शुः=जानने वाले हुए, क्योंकि
हि=निश्चय करके

ते = उक्त तीनों ने ही
एनत् = इस यत्त को
प्रथमः = सब से प्रथम
ब्रह्म, इति = ब्रह्म है ऐसा
विदाञ्चकार = जाना
तस्मात् = इसी कारण
एते, देवा = यह तीनों देवता
अन्यान् देवान् = अन्य देवों की अपेक्षा
अतितराम्, इव = श्रेष्ठ हैं ॥

भाष्य—इस श्लोक में अन्य देवों की अपेक्षा अग्नि, वायु, इन्द्र = जीवात्मा को श्रेष्ठ इसलिये कथन किया है कि सब से प्रथम इन्होंने ही ब्रह्म को जाना और इनके सम्वाद की आख्यायिका से ही इस जीवात्मा को ब्रह्मज्ञान हुआ, इसलिये यह औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं ॥

सं०—अब इनकी अपेक्षा से इन्द्र की श्रेष्ठता कथन करते हैं-

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान्
स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श सह्येनत्प्रथमो
विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २८ ॥

पद०—तस्मात् । वै । इन्द्रः । अतितराम् । इव । अन्यान् । देवान् । सः । हि । एनत् । नेदिष्ठम् । पस्पर्श । सः । हि । एनत् । प्रथमः । विदाञ्चकार । इति ।

अर्थ

तस्मात् = जिस कारण
वै = निश्चय करके
इन्द्रः = जीवात्मा
एनत् = इस ब्रह्म के
नेदिष्ठम् = अतिसमीप
पस्पर्श = जानने वाला होने के कारण और
सः, हि = उस ही ने
एनत् = इस यत्त को
ब्रह्म, इति = ब्रह्म है

प्रथमः=सब से प्रथम
विदाञ्चकार=जाना
तस्मात्=इस कारण
सः=वह इन्द्र
अन्यान्, देवान=और देवों की अपेक्षा
अतितराम्, इव=अतिश्रेष्ठ है

भाष्य—इन्द्र=जीवात्मा ने ब्रह्म के तत्त्व को ठीक २ समझा, इसीलिये वह अग्न्यादिकों की अपेक्षा से अति श्रेष्ठ है।

सं०—अब ब्रह्मज्ञान विषयक विद्युत का दृष्टान्त देकर उस को स्फुट करते हैं:—

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतोव्यद्युतदा इतीति न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥ २९ ॥

पद०—तस्य। एषः। आदेशः। यत्। एतत्। विद्युतः। व्यद्युतत्। आ। इति। न्यमीमिषत्। आ। इति। अधिदैवतम्।

अर्थ

तस्य=उस ब्रह्मज्ञान का
एषः=यह
आदेशः=दृष्टान्त है
यत्=जो
एतत्=यह स्वयंप्रकाश ब्रह्म
विद्युतः=बिजली के
आ=सदृश
व्यद्युतत्=चमका
इति=तथा
आ, न्यमीमिषत्=आंख की झमक के सदृश प्रतीत हुआ
इति=इस प्रकार
अधिदैवतम्, इति=देवता विषयक उपमा है।

भाष्य—ब्रह्म का साक्षात्कार विजुली की चमक अथवा आंख की झमक के सदृश होता है।

भाव यह है कि जब उपासक ब्रह्माकार वृत्ति धारण करता है तो आंख की झमक काल तक क्षण भर ही ब्रह्म के गुणों को

अनुभव करके फिर वृत्ति अन्य पदार्थाकार होजाती है, एवं बिजली की चमक के सदृश क्षणमात्र ब्रह्म का अवभास होता है चिरकाल तक नहीं अर्थात् व्याप्यव्यापक भाव से भौतिक देवों में जब परमात्मा का व्यापकभाव अनुभव किया जाता है तो क्षणमात्र अवभास होता है अधिक नहीं ॥

सं०—अब ब्रह्मज्ञान में मन का दृष्टान्त कथन करते हैं:—

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥ ३० ॥

पद०—अथ। अध्यात्मम्। यत्। एतत्। गच्छति। इव। च। मनः। अनेन। च। एतत्। उपस्मरति। अभीक्ष्णम्। सङ्कल्पः।

अर्थ

अथ=आधिदैवत दृष्टान्त के अनन्तर
अध्यात्मं=मन को ब्रह्म विषयक ज्ञान का अवभासक कथन करते हैं
यत्=जो
एतत्=इस ब्रह्म विषयक
मनः=मन
गच्छति, इव=चलता हुआ सा जान पड़ता है
च=और
अनेन=इस मन से
सङ्कल्पः=सङ्कल्प उठकर
अभीक्ष्णम्=बारंबार
एतत्=इस ब्रह्म को
उपस्मरति=उपासक स्मरण करता है ॥

भाष्य—जब ब्रह्माकारवृत्ति होती है तो मन जाता हुआ प्रतीत होता है वस्तुतः वह कहीं जाता नहीं किन्तु चित्तवृत्ति निरोध द्वारा वहां ही ब्रह्म का अवभास होता है, एवं बारंबार

चित्तवृत्ति निरोध द्वारा जो ब्रह्म का चिन्तन किया जाता है इस आदेश को अध्यात्म कहते हैं, आत्मा शब्द के अर्थ यहां अनेक हैं परन्तु मन विषयक होने से इस आदेश का नाम "अध्यात्म" है।

भाव यह है कि जिसको ब्रह्मप्राप्ति और दुःखों से मुक्त होने की इच्छा हो वह पुरुष इस प्रकार परमात्मा का ध्यान करे कि मानो मेरा मन ज्योतिःस्वरूप परमात्मा की ओर चला जा रहा है, मेरा संकल्प सदैव परमात्मप्राप्ति की ओर उद्यत रहे, हे परमात्मन् ऐसी कृपा करो कि मैं अपना चित्त आप ही में लगाकर नित्य आप ही का स्मरण करूं।

सं०—अब उक्त उपासना का फल कथन करते हैं:—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एत-देवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणिभूतानि संवाञ्छन्ति।३१।

पद०—तत्। ह। तद्वनम्। नाम। तद्वनम्। इति। उपासित-व्यम्। सः। यः। एतत्। एवम्। वेद। अभि। ह। एनम्। सर्वाणि। भूतानि। संवाञ्छन्ति।

अर्थ

तत्, ह=वह ब्रह्म जिसका यत्न रूप से वर्णन कर आये हैं
तद्वनम्=योगी जनों को सेव्य होने के कारण
तद्वनम्=तद्वन नाम से
नाम=प्रसिद्ध है, वह
इति=इस प्रकार
उपासितव्यं=उपासनीय है
सः=सो
यः=जो पुरुष
एतत्=उक्त ब्रह्म को
एवम्=इस प्रकार

वेद = जानता है
एनं = उसकी
सर्वाणि, भूतानि = सब प्राणी
अभि, संवाञ्छन्ति = इच्छा करते हैं ॥

भाष्य — जो उक्त भक्ति योग्य परमात्मा की उपासना करता है उसका सब प्राणी मान करते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि उपासना योग्य की उपासना करने वाले को ही लोग भला समझते हैं अन्य को नहीं "एवं वेद" शब्द से यह पाया जाता है कि परमात्मा की उपासना का प्रकार ब्रह्मरूप से कथन किया गया है अन्यरूप से नहीं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यक्ष कोई ब्रह्म से भिन्न अवतार विशेष न था किन्तु ब्रह्म का ही यक्ष नाम से कथन किया गया है, अन्यथा ब्रह्मोपासना की विशेषता कथन न की जाती ॥

सं०—अब उक्त ब्रह्मविद्या की दृढ़ता के लिये शिष्य और प्रश्न करता है :—

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं-
वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ३२ ॥

पद०—उपनिषदम् । भोः । ब्रूहिं । इति । उक्ता । ते । उपनिषद् । ब्राह्मीम् । वाव । ते । उपनिषदम् । अब्रूम । इति ।

अर्थ

हे शिष्य तुमने कहा कि
भोः = हे गुरो
उपनिषदं = ब्रह्मविद्या को
ब्रूहि, इति = कहिये, सो
ते = तेरे लिये
उपनिषद् = ब्रह्मविद्या
उक्ता = कही गई
वाव = निश्चय करके
ते = तेरे प्रति
ब्राह्मीम्, उपनिषदम् = ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उपनिषद्
अब्रूम = हम कथन कर चुके हैं

भाष्य—शिष्य का गुरु के प्रति कथन था कि हे गुरो! ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये, इसके उत्तर में आचार्य्य कहते हैं कि तुम्हारी जिज्ञासानुसार ब्रह्मविद्या भले प्रकार कही गई अर्थात् "केनेषितं" इस उत्थानिका से लेकर सम्पूर्ण उपनिषद् द्वारा ब्रह्म का वर्णन किया गया।

सं०—अब गुरु उक्त ब्रह्मविद्या विषयक साधनों को शिष्य के प्रति कथन करता है—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ३३ ॥

पद०—तस्यै। तपः। दमः। कर्म। इति। प्रतिष्ठा। वेदाः। सर्वाङ्गानि। सत्यम्। आयतनम्।

अर्थ

तस्यै=उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये
तपः=तितिक्षा शीतोष्ण की सहनशीलता
दमः=इन्द्रियों का निग्रह
कर्म=वैदिक कर्मानुष्ठान
इति=यह तीन मुख्य साधन हैं, और इन्हीं में
वेदाः=चारों वेद
सर्वाङ्गानि=छओं अङ्ग
सत्यं=सत्य भाषण यह सब ब्रह्मविद्या के
आयतनम्=सहारा हैं

भाष्य—ब्रह्मविद्या की प्राप्ति तप, दम और वैदिककर्मों के अनुष्ठाता को ही होती है अन्य को नहीं, और जो पुरुष इनका अनुष्ठान नहीं करता उसमें ब्रह्मविद्या की स्थिति नहीं होती अर्थात् ऋग्वेदादि चारों वेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र और ज्योतिःशास्त्र, इन वेदवेदाङ्गों के

स्वाध्याय और सत्यभाषण से शून्य पुरुष ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं।

सं०—अब ब्रह्मविद्या का फल कथन करते हैं—

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते-स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥३४॥

पद०- यः । वै । एताम् । एवम् । वेद । अपहत्य । पाप्मानम् । अनन्ते । स्वर्गे । लोके । ज्येये । प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति ।

अर्थ

यः=जो पुरुष
वै=निश्चय करके
एतां=इस ब्रह्मविद्या को
एवं=इस प्रकार
वेद=जानता है, वह
पाप्मानम्=पापरूपमल को
अपहत्य=नष्ट करके
अनन्ते=विनाशरहित
ज्येये=सबसे उत्तम
स्वर्गे, लोके=सुखात्मक अवस्था में
प्रतितिष्ठति=स्थिर होता है

भाष्य—श्लोक में "प्रतितिष्ठति" पाठ दो बार ग्रन्थ की समाप्ति के लिये आया है, जो पुरुष तपस्वी तथा जितेन्द्रिय होकर इस उपनिषद् का अभ्यास करता है वह परमात्मा के सुखस्वरूप में स्थित होता है।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये
केनोपनिषत्
समाप्ता

ओ३म्

।अथ कठोपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते।

सङ्गति—पूर्व केनोपनिषद् में परमात्मा का अस्तित्व और उससे भिन्न की उपासना का निषेध भले प्रकार निरूपण किया गया, अब इस उपनिषद् में नचिकेता के उपाख्यान द्वारा वैदिक कर्मों का कर्तव्य तथा जीव ईश्वर का भेद निरूपण करते हैं:—

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस । १ ॥

पद०—उशन् । ह । वै । वाजश्रवसः । सर्ववेदसं । ददौ । तस्य । ह । नचिकेताः । नाम । पुत्रः । आस ।

अर्थ

उशन्=फल की इच्छा करते हुए
ह, वै=यह प्रसिद्ध है कि
वाजश्रवसः=वाजश्रवा ऋषि के पुत्र उद्दालक ने विश्वजित् याग में
सर्ववेदसं=अपने सब धनादि पदार्थों को
ददौ=देदिया,
तस्य=उसका
ह=प्रसिद्ध तेजस्वी
नचिकेताः=नचिकेता
नाम=नाम वाला
पुत्रः=पुत्र
आस=था।

भाष्य—वाजश्रवा ऋषि के पुत्र उद्दालक ने विश्वजित्=सर्व मेध नामक याग जिसको संन्यास संस्कार भी कहते हैं, उसमें

अपने सब पदार्थ ऋत्विगादि को दक्षिणा में देदिये अर्थात् अपना सर्वस्व दान कर दिया, यह संन्यासावस्था का वैदिक संस्कार है कि संन्यासी शरीर से भिन्न किसी पदार्थ से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध न रखे, "वाज" नाम अन्न का है, उसके दान से जिसका श्रव=यश फैला हो उसका नाम ["वाजश्रवाः"] और उसकी सन्तान का नाम ["वाजश्रवस"] है, इस प्रकार उद्दालक को वाजश्रवस कहा गया है,उसका नचिकेता नामक एक पुत्र था।

सं०--अब उक्त दक्षिणा के दिये जाने पर नचिकेता के हृदय में जो भाव उत्पन्न हुआ उसका वर्णन करते हैं:--

तꣳ ह कुमारꣳ ह सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

पद०—तम्। ह। कुमारम्। ह। सन्तम्। दक्षिणासु। नीयमानासु। श्रद्धा। आविवेश। सः। अमन्यत।

अर्थ

तं=उस नचिकेता को
ह=यह प्रसिद्ध है कि
कुमारं, सन्तं=युवावस्था को न प्राप्त हुए बाल्यावस्था में ही
दक्षिणासु=दान किये हुए पदार्थों के
नीयमानासु=ऋत्विज् आदि ब्राह्मणों को यथायोग्य विभाग करते समय
श्रद्धा=आस्तिकतारूप बुद्धि
आविवेश=उत्पन्न हुई और
सः=वह नचिकेता
अमन्यत=विचारने लगा॥

भाष्य—यज्ञ में जब ऋत्विजों को उद्दालक यथायोग्य दान का विभाग कर रहा था उस समय नचिकेता पुत्र को यह श्रद्धा उत्पन्न हुई कि पिता ऋत्विजों के योग्य दक्षिणा नहीं देता।

सं०—अब नचिकेता का उस दक्षिणाविषयक विचार कथन करते हैं:—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स
गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

पद०—पीतोदकाः । जग्धतृणाः । दुग्धदोहाः । निरिन्द्रियाः । अनन्दाः । नाम । ते । लोकाः । तान् । सः । गच्छति । ताः । ददत् ।

अर्थ

जो गौयें	ताः उनको
पीतोदकाः=पानी पी चुकी हैं	ददत्=देने वाला
जग्धतृणाः=घास आदि भक्षण कर चुकी हैं	अनन्दा, नाम, ते=आनन्द रहित जो
दुग्धदोहाः=जिनका दूध दुहा जा चुका है, और जो	लोकाः=लोक हैं
	तान्=उनको
निरिन्द्रियाः=सन्तानोत्पत्ति में असमथ हो चुकी हैं	गच्छति=प्राप्त होता है ।

भाष्य—नचिकेता को उस समय यह विचार उत्पन्न हुआ कि जो गौयें सब कुछ खा पी चुकीं और दूध भी दे चुकीं अर्थात् ऐसी बूढ़ी गौयें जो न कुछ खा पी सकती हैं और न दूध देने के योग्य हैं ऐसी गौओं का दान करने से दाता को अनिष्ट फल की ही प्राप्ति होगी, फिर मेरा पिता ऐसी गौओं का क्यों दान करता है, इससे तो यह कदापि स्वर्ग का भागी नहीं हो सकता ।

सं०—अब नचिकेता पिता के समीप जाकर कथन करता है:—

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयꣳ होवाच, मृत्यवे त्वा ददामीति॥ ४॥

पद०—सः। ह। उवाच। पितरम्। तत। कस्मै। माम्। दास्यसि। इति। द्वितीयम्। तृतीयम्। ह। उवाच। मृत्यवे। त्वा। ददामि। इति।

अर्थ

सः, ह=वह नचिकेता
पितरं=पिता को
उवाच=बोला
तत=हे पिता
मां=मुझको
कस्मै=किसके लिये
दास्यसि=दोगे ?
इति, ह=यह बात
द्वितीयं=दो बार
तृतीयं=तीन वार पिता को कही, तब पिता क्रोधित होकर
तं=उससे
उवाच=बोला कि
मृत्यवे=मौत के लिये
त्वा=तुझको
ददामि, इति=दूंगा।

भाष्य - सर्ववेदस् याग में बूढ़ी गौओं के दान किये जाने पर नचिकेता के हृदय में यह श्रद्धा उत्पन्न हुई कि पिता ने कुछ दान नहीं दिया, इस प्रकार सोचता हुआ पिता से कहने लगा कि आप सब कुछ दान कर चुके हैं अब केवल मैं शेष रहा हूँ सो मुझे आप किसको देंगे ? बालक के बार २ कहने पर पिता उद्दालक ने क्रुद्ध होकर कहा कि तुझे मौत के लिये दूंगा।

सं०—पिता के इस वचन को सुनकर नचिकेता बोला कि:—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः
किंस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य
करिष्यति ।। ५ ।।

पद०—बहूनाम् । एमि । प्रथमः । बहूनाम् । एमि । मध्यमः । किंस्वित् । यमस्य । कर्तव्यम् । यत् । मया । अद्य । करिष्यति ।

अर्थ

बहूनां=बहुत से शिष्यों में मैं	किंस्वित्=क्या
प्रथमः=प्रथम कक्षा का	कर्तव्य=कर्तव्य है
एमि=हूं	यत्=जो
बहूनां=बहुतों से	मया=मुझसे
मध्यमः=मध्यम कक्षा का	अद्य=आज
एमि=हूं	करिष्यति=करेगा ।
यमस्य=मृत्यु का	

भाष्य—पिता की ऐसी क्रूर आज्ञा सुनकर नचिकेता ने विचारा कि कइयों की अपेक्षा से मैं मुख्य हूँ और कइयों की अपेक्षा से मध्यम हूं फिर पिता ने मुझको मृत्यु के लिये देना क्यों कहा ।

भाव यह है कि मैं ऐसा अयोग्य नहीं कि मेरा मर जाना ही पिता को इष्ट हो, फिर पिता ने ऐसा क्यों कहा, और मृत्यु का वह क्या काम है जो मेरे द्वारा किया जायगा, यहां मृत्यु से अभिप्राय किसी यमविशेष का नहीं किन्तु यह अभिप्राय है कि नचिकेता का मृत्यु के लिये दान कथन करके वैराग्य का उपदेश

किया जाय और मृत्यु की कथा द्वारा मरने के अनन्तर जीव के अस्तित्व का बोधन किया जाय, इसी अभिप्राय से यहां यम और यमलोक की कल्पना है वास्तव में नहीं। कई एक लोग इसके अर्थ यमाचार्य्य के करते हैं जिसके पास नचिकेता को विद्याध्ययन के लिये भेजा गया था, इस अर्थ में दोष यह है कि वस्तुतः यह आचार्य्य था तो फिर उसके पास जाने पर नचिकेता पिता को वैराग्य का उपदेश क्यों करता और इसी सङ्गति में मृत्यु के भाव क्यों वर्णन किये जाते? और जिनके विचार में विवस्वान्=सूर्य्य का पुत्र यम=काल है, उसको यहां यमरूप से वर्णन किया गया है तो उस काल को ब्रह्मविद्या में क्या अधिकार जिससे आगे जाकर नचिकेता ब्रह्मविद्या के प्रश्न करेगा? इसलिये, यम को काल की मूर्त्ति मानना ठीक नहीं, और नाही यम को देवताविशेष मानना ठीक है।

हमारे विचार में यहां यम मृत्यु का नाम है और यम कथा उपचार से कथन की गई है कि नचिकेता के लिये मृत्युने यह उपदेश किया मानो मरकर निचकेता ने यह देखा कि मरने के अनन्तर क्या होता है, इस भाव को बोधन करने के लिये उक्त कथा की कल्पना की गई है वास्तव में यम न कोई देवताविशेष था और न उस यमरूपी मृत्यु के पास नचिकेता गया, यह आख्यायिका केवल परलोक के सम्बन्ध बोधन करने के लिये मृत्यु के उपन्यास द्वारा कथन की गई है।

सं०—अब इस मृत्यु के भाव से नचिकेता पिता को वैराग्य का उपदेश करता है:—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

पद०—अनुपश्य । यथा । पूर्वे । प्रतिपश्य । तथा । परे । सस्यम् । इव । मर्त्यः । पच्यते । सस्यम् । इव। आजायते । पुनः ।

अर्थ

यथा=जिस प्रकार
पूर्वे=तुम्हारे पूर्वज पितापिता-
मह आदि आचरण करते
आये हैं
तथा=वैसा आप भी
अनुपश्य=देख कर शोक न
करो
परे=वर्त्तमान धर्मात्मा लोग
प्रतिपश्य=प्रतिज्ञा का पालन
करते हैं वैसा आप भी
करो
मर्त्यः=मरणधर्मा यह पुरुष
सस्यम्, इव=हरी खेती के
समान
पच्यते=जीर्ण होता अर्थात्
वृद्धावस्था को प्राप्त होकर
मरता है
पुनः=मरकर
सस्यम; इव=खेती के समान
आजायते=उत्पन्न होता है।

भाष्य—नचिकेता ने पिता की प्रतिज्ञापूर्ति के लिये यह उपदेश किया है कि हे पिता जो जन्मता है उस का मरण भी अवश्यंभावी है, इसलिये आप को मेरी मृत्यु से मोह नहीं होना चाहिये, इसी भाव से नचिकेता ने हरी खेती का दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार हरी खेती का पक कर नाश होना अवश्यंभावी है, इसी प्रकार इस असार संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं, इस भाव को दृष्टिगोचर करके तुम शोक मत करो और मुझे मृत्यु के पास भेजो ताकि मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा को पूर्ण करूं ।

सं०—अब नचिकेता का मरकर उपचार से यम के पास जाना कथन करते हैं:—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथि ब्राह्मणो गृहान् । तस्यै-ताँ शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैववस्तोदकम् ॥७॥

पदः—वैश्वानरः । प्रविशति । अतिथिः । ब्राह्मणः । गृहान् तस्य । एताम् । शान्तिम् । कुर्वन्ति । हर । वैवस्वत । उदकम् ।

अर्थ

वैवस्वत=हे विवस्वान् के पुत्र यम ! आपके
गृहान्=घर में
वैश्वानरः=अग्नि के समान तेजस्वी
ब्राह्मणः=ब्राह्मण
अतिथिः=अतिथि
प्रविशति=आया हुआ है
तस्य=उक्त अतिथि की गृहस्थ लोग
एतां=इस सत्कारपूर्वक
शान्तिं=प्रसन्नता को
कुर्वन्ति=करते हैं, अतः आप भी
उदकं=जलादि को
हर=प्राप्त कीजिये

भाष्य—अतिथि नचिकेता को वैश्वानर=अग्निरूप इस अभिप्राय से वर्णन किया गया है कि अतिथि अग्निरूप तेजस्वी होता है, यदि उसका सत्कार न किया जाय तो वह अग्नि के समान दाह कर देता है, इसलिये उसका सत्कार करना आवश्यक है।

सं०—अब अतिथि के सत्कार न करने से जो दोष उत्पन्न होते हैं उनको कथन करते हैं—

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृताञ्चेष्टापूर्त्ते पुत्र-पशूँश्च सर्वान् । एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

पद०—आशाप्रतीक्षे । सङ्गतम् । सूनृताम् । च । इष्टापूर्त्ते । पुत्रपशून् । च । सर्वान् । एतत् । वृंक्ते । पुरुषस्य । अल्पमेधसः । यस्य । अनश्नन् । वसति । ब्राह्मणः । गृहे ।

अर्थ

यस्य, पुरुषस्य=जिस पुरुष के
गृहे=घर में
ब्राह्मणः=ब्रह्मवेत्ता अतिथि
अनश्नन्=निराहार
वसति=वसता है
तस्य, अल्पमेधसः=उस अल्प-बुद्धि पुरुष के
आशाप्रतीक्षे=परोक्ष और इन्द्रियगोचर पदार्थों की इच्छा इन दोनों
सङ्गतं=ईश्वर की उपासना से होने वाला फल
सूनृतां=प्रियवाणी
च=और
इष्टापूर्त्ते=होमादि याग का नाम "इष्ट" तथा सामाजिक भलाई के लिये धर्मशाला, पाठशाला आदि स्थापन का नाम "आपूर्त्त" इनका फल
च=और
सर्वान्=सब
पुत्रपशून्=पुत्र और पशु
एतत्=इन सबका
वृङ्क्ते=सत्कार न किया हुआ अतिथि नाश करता है

भाष्य—इस श्लोक में अतिथि के सत्कार न करने से जो दोष होते हैं उनको कथन किया गया है अर्थात् जो अतिथि का सत्कार नहीं करते उनको अनिष्ट फल की प्राप्ति कथन की गई है, भाव यह है कि जिसके घर से अतिथि भूखा जाता है उसके उक्त शुभकर्मों के फल को भी वह अपने साथ ही ले जाता है, इसलिये अतिथि का यथायोग्य सत्कार करना चाहिये जिससे अपना सुकृत नष्ट न हो ।

नचिकेता को ब्राह्मण यहां उत्पत्ति के अभिप्राय से नहीं

कहा गया किन्तु ब्रह्मवेत्ता होने के अभिप्राय से "ब्राह्मण" कहा गया है, यद्यपि नचिकेता जिज्ञासुभाव से यम के पास ब्रह्मविद्या विषयक प्रश्न करेगा तथापि वह अब्रह्मवित् न था, क्योंकि यदि वह ब्रह्मवेत्ता न होता तो पिता के सर्वस्व दान देने पर भी अपने दान की प्रार्थना न करता और आगे तृतीय वल्ली में धर्माधर्म से अन्य परमात्मज्ञान विषयक प्रश्न क्यों करता, इत्यादि प्रश्नों से पाया जाता है कि वह ब्रह्मवेत्ता था, इसी अभिप्राय से उसको ब्राह्मण कहा गया है और ब्रह्मविद्या का जिज्ञासु होना केवल उपचार तथा अन्य जनों को ब्रह्मबोधन के अभिप्राय से कथन किया गया है।

सं०—अब उक्त भाव को सुनकर यम कथन करता है—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

पद०—तिस्रः। रात्रीः। यत्। अवात्सीः गृहे। मे। अनश्नन्। ब्रह्मन्। अतिथिः। नमस्यः। नमः। ते। अस्तु। ब्रह्मन्। स्वस्ति। मे। अस्तु। तस्मात्। प्रति। त्रीन्। वरान्। वृणीष्व।

अर्थ

ब्रह्मन्=हे ब्रह्मवित्
अतिथिः=आगमन तिथि नियत न होने के कारण आप "अतिथि" हैं, अतएव
नमस्यः=नमस्कार करने योग्य हैं
ते=आप को
नमः=प्रणाम

अस्तु=हो	अनश्नन्=बिना खाये पीये
ब्रह्मन्=हे ब्राह्मण	अवात्सीः=वसे
यत्=जो आप	तस्मात्=इस कारण
मे=मेरे	प्रति=एक २ रात के प्रति
गृहे=घर में	त्रीन् वरान्=तीन वर
तिस्रः, रात्रीः=तीन रात	वृणीष्व=मांगें।

भाष्य—पीछे ७वें श्लोक में कथन किये अनुसार नचिकेता यम के द्वार पर पहुंचा और पहुंचकर तीन रात तक आतिथ्य की प्रतीक्षा करता हुआ बिना अन्न जल के रहा, तब यम के मंत्रियों ने कहा कि जिसके घर में अतिथि भूखा निवास करता है उसके सर्व ऐश्वर्य नष्ट कर देता है, यह बात सुनकर यम बोला हे ब्रह्मन्! आप अतिथि होने से नमस्कार योग्य हैं अतः आपको प्रणाम करता हूं आप आशीर्वाद दें कि मेरा कल्याण हो पुनः अपने अपराध की क्षमा मांगते हुए यम ने एक २ रात्रि का एक २ वर देना स्वीकार किया।

कथा की सङ्गति मिलाने के लिये इस बात का ऊपर से अध्याहार करलिया जाता है कि तीन दिन यम कहीं घर से बाहर गया हुआ था इसलिये अतिथि नचिकेता का कुछ सत्कार नहीं हुआ, जिनके मत में यम काल है अथवा देवताविशेष है किंवा दण्डरूप एक कल्पित मूर्त्ति है उनके मत में तीन दिन तक घर से बाहर जाना कैसे सम्भव हो सकता है, यदि यह कहा जाय कि घर से बाहर जाना उपचार से है तो फिर इसका क्या प्रमाण है कि यम का कथन यहां उपचार से नहीं, हमारे मतमें तो यह कथा ब्रह्मबोधन के अभिप्राय से कल्पना की गई है इस लिये यम कोई विशेषव्यक्ति न था किन्तु नचिकेता के परलोक विषयक प्रश्नों के उत्तर देने वाला एक यम कल्पना किया गया

है, और व्युत्पत्तिलभ्यार्थ भी कथा के साथ ["यमयति व्यवस्थापयति धर्माधर्मं यः सः यमः"]=जिस से धर्माधर्म की व्यवस्था की जाय उसका नाम ["यम"] इस अभिप्राय से उत्तर दाता यम का कथन किया गया है, इसलिए हमारे मतानुसार उक्त कल्पना में कोई दोष नहीं, और मृत्यु का कथन उसमें इस अभिप्राय से सङ्गत है कि मानो नचिकेता ने परलोक में मृत्यु के पास जा कर पूछा, इस से उसका मृत्यु रूप कथन किया गया है ॥

सं०—अब नचिकेता यम से प्रथम वर मांगता है:—

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

पद०—शान्तसङ्कल्पः । सुमनाः । यथा । स्यात् । वीतमन्युः । गौतमः । मा । अभि । मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टम् । मा । अभि । वदेत् । प्रतीतः । एतत् । त्रयाणाम् । प्रथमम् । वरम् । वृणे ।

अर्थ

मृत्यो=हे मृत्यु
गौतमः=गोतम का पुत्र मेरा पिता उद्दालक
मा, अभि=मेरे प्रति
शान्तसङ्कल्पः=शान्त चित्त वाला
सुमनाः=प्रसन्न मन वाला
वीतमन्युः=क्रोध रहित
यथा=जैसा
स्यात्=होवे
त्वत्प्रसृष्टं=आपके भेजे हुए
मा, अभि=मुझको देखकर
प्रतीतः=पहचान कर कि यह वही मेरा पुत्र है जिसको मैंने मृत्यु के पास भेजा था
वदेत्=बोले

एतत्=यह
त्रयाणां=तीन वरों में से
प्रथमं=पहला
वरं=वर
वृणे=चाहता हूं ॥

भाष्य - यम का उक्त कथन सुनकर नचिकेता ने कहा कि आप पहला वर मुझको यह दें कि जिससे मेरा पिता मुझपर प्रसन्न हो जावे अर्थात् इस अन्तर में उत्पन्न हुए क्रोध को त्याग कर पूर्ववत् वर्तने लगे और आपके भेजे हुए मुझको पहचानकर कि मेरा पुत्र वही नचिकेता है जिसको मैंने मृत्यु के पास भेजा प्रीतिपूर्वक बातचीत करे और उनको यह ज्ञात न हो कि मैं मृत्यु की बिना आज्ञा ही यहां आया हूं किन्तु यह जाने कि मैं मृत्यु की आज्ञा पाकर आया हूं, पहला वर मैं आपसे यही मांगता हूं।

नचिकेता का प्रथम वर मांगने का अभिप्राय यह था कि मेरा पिता मुझको कहीं भूत होकर आया हुआ ही न समझे किंतु जीता जागता आया हुआ समझे, इस कथन से यह बात स्पष्ट है कि मृत्यु से बचा हुआ समझे और इस अर्थ को दृढ़ करने वाला "त्वत्प्रसृष्टम्" यह पद भी पड़ा है जिससे पाया गया कि मृत्यु की कथा केवल आरोपित है ठीक नहीं।

सं०—अब नचिकेता के वर मांगने पर यम कथन करता है—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः । सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

पद०--यथा । पुरस्तात् । भविता । प्रतीतः । औद्दालकिः ।

आरुणिः । मत्प्रसृष्टः । सुखम् । रात्रीः । शयिता । वीतमन्युः । त्वाम् । ददृशिवान् । मृत्युमुखात् । प्रमुक्तम् ।

अर्थ

आरुणिः=अरुण का पुत्र तेरा पिता
औद्दालकिः=उद्दालक
यथा=जैसे
पुरस्तात्=पहले था वैसे ही
मत्प्रसृष्टः=मेरे विदित कर देने से
प्रतीतः=तुझ पर विश्वास करने वाला
भविता=होगा, और मेरे भेजे हुए तुझको पाकर
रात्रीः=रात्रियों में
सुखं=सुख से
शयिता=सोवेगा और
वीतमन्युः=क्रोध से रहित हो कर
त्वां=तुझको
मृत्युमुखात्=मौत के मुंह से
प्रमुक्तम्=छुटा हुआ
ददृशिवान्=देख कर प्रसन्न होगा ॥

भाष्य—नचिकेता की उक्त प्रार्थना सुनकर यम ने कहा कि हे नचिकेता तुम्हारा पिता पहले के समान तुम पर प्रसन्न हो जायगा जब कि वह यह देखेगा कि नचिकेता को मृत्यु ने छोड़ दिया है और अपनी सुख की नींद सोवेगा ॥

सं०—अब उक्त वर के अनन्तर स्वर्गविषयक प्रश्न करने के लिये नचिकेता स्वर्ग का प्रकरण चलाता है:—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

पद०—स्वर्गे । लोके । न । भयम् । किञ्चन । अस्ति । न । तत्र । त्वम् । न । जरया । बिभेति । उभे । तीर्त्वा । अशनाया-पिपासे । शोकातिगः । मोदते । स्वर्गलोके ।

अर्थ

स्वर्गे, लोके=स्वर्गलोक में
किञ्चन=कुछ भी
भयं=भय
न, अस्ति=नहीं है
न, तत्र=न वहां पर
त्वं=तू यम है और
न=न कोई
जरया=बुढ़ापे से
बिभेति=डरता है
अशनायापिपासे=भूख और प्यास
उभे=दोनों क
तीर्त्वा=तरकर
शोकातिगः=शोक से पार हुआ २ पुरुष
स्वर्गलोके=स्वर्गलोक में
मोदते=हर्ष को लाभ करता है ।

भाष्य—वैदिक कर्मजन्य सुख की अवस्था को लाभ करने के लिये नचिकेता द्वितीय वर की याचना करता हुआ मृत्यु से कहता है कि स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है, वहां पर न कोई रोग होता है, न बुढ़ापा सताता है और न वहां पर तू मृत्यु ही आक्रमण कर सकता है, वहां पर जीवात्मा शोकरहित होकर आनन्द करता है ।

स्वर्गलोक के अर्थ यहां लोकविशेष के नहीं किन्तु अवस्था-विशेष के हैं और जो इसमें वृद्धावस्था का अभाव बोधन किया गया है वह उपचार से है, इसी अवस्था को भूलकर पौराणिक भावों से लोगों ने स्वर्ग के अर्थ स्थानविशेष के किये हैं और उस स्थानविशेष में नाना प्रकार के भोगों की प्राप्ति वह लोग मानते हैं, जैसा कि कौषीतकी में ब्रह्मलोक के यात्री के लिये

पांच २ सौ अप्सराओं का उपस्थित रहना लिखा है और वहां पर विजरा नाम वाली एक नदी मानी है जिसके पार होने से स्वर्ग का यात्री बूढ़ा नहीं होता, इत्यादि पौराणिक भाव हैं, स्वर्ग के अर्थ सुख के हैं और ["लोक्यतेऽनेनेति लोकः"]=जिससे उसका अनुभव किया जाय उसका नाम ["लोक"] है, इस व्युत्पत्ति से लोक के अर्थ अवस्थाविशेष के हैं स्थानविशेष के नहीं, अतएव स्थानविशेष के अर्थ करना भूल है और इस अर्थ की पुष्टि ["ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते"] छान्दोग्य के इस वाक्य से भी होती है जिसके अर्थ ["ब्रह्मैवलोकः"]=ब्रह्म ही लोक है अर्थात् उस अवस्था में उपासक तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्म के भावों को धारण करता है, इसलिये उक्त कथन किया है।

स्वामी शङ्कराचार्य्य भी इस स्थान में यही उक्त अर्थ करते हैं न कि ब्रह्म का लोक, एवं लोक शब्द के अर्थ स्थानविशेष के नहीं और जो आगे के श्लोकों में स्वर्गलोक के अधिकारियों को अमृत बोधन किया है वह उपचार से है अर्थात् वैदिककर्म करने वाले जीवन्मुक्ति द्वारा मृत्यु से रहित हो जाते हैं॥

सं०—अब नचिकेता वैदिककर्मजन्य सुख की उपलब्धि के लिये उसके साधनभूत अग्निविषयक प्रश्न करता है :—

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषिमृत्योप्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

पद०—सः । त्वम् । अग्निम् । स्वर्ग्यम् । मृत्यो । प्रब्रूहि । तम् । श्रद्दधानाय । मह्यम् । स्वर्गलोकाः । अमृतत्वम् । भजन्ते । एतत् द्वितीयेन । वृणे । वरेण ।

अर्थ

मृत्यो=हे मृत्यु
सः, त्वं=सो तू
स्वर्ग्यम्, अग्नि=स्वर्ग की अग्नि को
अध्येषि=जानता है
तं=उसको
श्रद्दधानाय=श्रद्धा रखते हुए
मह्यम्=मेरे लिये
प्रब्रूहि=कथन कर, जिसके-अनुष्ठान करने से
स्वर्गलोकाः=स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष
अमृतत्वं=अमृत को
भजन्ते=प्राप्त होते हैं
एतत्=यह
द्वितीयेन=दूसरे
वरेण=वर से
वृणे=मांगता हूँ

भाष्य—नचिकेता फिर कहता है कि तू उस स्वर्ग=सुख के साधनभूत वैदिकाग्नि को भले प्रकार जानता है, इसलिये कृपा करके मुझ श्रद्धालु के प्रति उसका उपदेश कीजिये जिससे मैं भी स्वर्ग का अधिकारी बनूं, यह मैं आपसे दूसरा वर मांगता हूं।

यहां अग्नि शब्द का अर्थ वैदिकाग्नि है और वह सुख का साधनभूत इस प्रकार है कि जब उस अग्नि द्वारा वैदिक कर्म किये जाते हैं तो उससे सुखविशेष की प्राप्ति होती है, इसलिये उसको "स्वर्ग्यम्" विशेषण दिया है कि अग्नि स्वर्ग का साधन है।

कई एक लोग यहां अग्नि के अर्थ ज्ञानाग्नि करते हैं उनके मत में आगे के श्लोक कदापि नहीं लग सकते, क्योंकि उनमें भौतिकाग्नि का वर्णन पाया जाता है और उनमें हवनकुण्ड की ईंटों की चिनावट भी कथन की गई है जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां ज्ञानाग्नि का वर्णन नहीं, और युक्ति यह है कि अग्नि से यहां ज्ञानाग्नि का तात्पर्य्य होता तो तीसरा वर आत्मविषयक

प्रश्न न किया जाता, इससे सिद्ध है कि यह दूसरा वर वैदिक-कर्मों के कर्तव्य के अभिप्राय से है, और जो इस वर में यह कथन किया है कि हे नचिकेता आज से यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी, यह इस अभिप्राय से है कि नचिकेता ने उस अग्नि में वैदिक कर्म किया इससे उसका नाम नाचिकेताग्नि पड़ गया, जिसके अर्थ नचिकेता की प्रदीप्त की हुई अग्नि है कोई विशेष अग्नि नहीं किन्तु आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीनों प्रकार की अग्नियों का सामान्य रूप से ग्रहण है, क्योंकि इन अग्नियों में वैदिक कर्म किये जाते हैं।

कई भाष्यकार इसके यह अर्थ करते हैं कि नचिकेता ने जो यज्ञविशेष किया उसकी अग्नि का नाम नाचिकेताग्नि है, यह बात भी सर्वथा युक्ति रहित है, क्योंकि यदि उक्त अग्नि के यह अर्थ होते तो स्वर्गमात्र के साधन अग्निविषयक प्रश्न न किया जाता, इससे सिद्ध है कि उक्त तीनों ही अग्नियें वैदिक कर्मों द्वारा सुख का साधन हैं, इसलिये यहां अग्निमात्र का कथन है किसी विशेषाग्नि का नहीं।

सार यह है कि नचिकेता का यह दूसरा वर वैदिककर्मों के कर्तव्य समझने का है।

सं०—अब यम नचिकेता के प्रति अग्नि को वैदिककर्मों का मूलभूत कथन करता है—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्॥ १४॥

पद०—प्र। ते। ब्रवीमि। तत्। उ। मे। निबोध। स्वर्ग्यम्।

अग्निम् । नचिकेतः । प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिम् । अथो । प्रतिष्ठाम् । विद्धि । त्वम् । एनम् । निहितम् । गुहायाम् ।

अर्थ

नचिकेतः=हे नचिकेता	प्रब्रवीमि=कहता हूँ
स्वर्ग्यम्, अग्निम्=स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को	मे=मेरे से
	निबोध=सुन
प्रजानन्=जानता हुआ	अथो=इसके अनन्तर
ते=तेरे लिये	त्वं=तू
तत्=उसको	एनम्=इस अग्नि को जो
अनन्तलोकाप्तिम्=अनन्त सुखों की प्राप्ति का साधन है और	गुहायां=वैदिक कर्मियों के अन्तःकरण में
प्रतिष्ठां=वैदिक कर्मों की	निहितं=स्थित
प्रतिष्ठां=सहारा	विद्धि=जान
उ=भी है	

भाष्य—यम नचिकेता से कहता है कि स्वर्ग की साधनभूत अग्नि को जिसका मुझे पूर्ण प्रकार से अनुभव है उसका तेरे प्रति उपदेश करता हूं तू सावधान होकर सुन, यह अग्नि अनन्त सुखों की प्राप्ति का साधन है अर्थात् ब्रह्मचर्य्य से लेकर चारों आश्रमों में इसी के द्वारा वैदिक कर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है और यही वैदिक कर्मों की प्रतिष्ठा है अर्थात् गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिसंस्कार पर्य्यन्त सब कर्म इसी के द्वारा किये जाते हैं, इसलिये अग्नि को प्रतिष्ठा कथन किया गया है ।

मायावादी प्रतिष्ठा के यह अर्थ करते हैं कि विराट् रूप से यह अग्नि सारे जगत् का आश्रयभूत है इसलिये इसको प्रतिष्ठा

कथन किया गया है, यह अर्थ शब्दार्थ से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि प्रतिष्ठा के अर्थ जगदाश्रय के नहीं किन्तु प्रधानता के अभिप्राय से यहां प्रतिष्ठा शब्द आया है, यदि मायावादी माया-मोह को दूर करके केन० ४। ८ श्लोक पर दृष्टि डाल लेते तो ऐसे अन्यथा अर्थ कदापि न करते, उक्त श्लोक में वेद तथा वेदाङ्गों को ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा कथन किया है न कि आधार को, और कई एक टीकाकार इस भौतिकाग्नि को ही सारे जगत की प्रतिष्ठा मानते हैं जिससे यह सन्देह बना ही रहता है कि अग्नि सारे जगत् की प्रतिष्ठा कैसे ? प्रतिष्ठा शब्द के साथ किसी अन्य पद का स्पष्ट सम्बन्ध नहीं किन्तु जगदादि पदों का अध्याहार किया जाता है तो फिर वैदिक कर्मों की प्रतिष्ठा अर्थ करना ही सत्यार्थ है अन्य नहीं।

और यदि "अनन्तलोकाप्ति" पद की सन्निधि से जगत् की प्रतिष्ठा अर्थ किया जाय तब भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त पद के अर्थ सुखप्राप्ति के हैं लोकविशेष के नहीं, इसलिये इस अर्थ से भी अग्नि वैदिककर्माधार ही सिद्ध होता है, क्योंकि वैदिककर्मों से ही सुख की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं।

सं०—उक्त प्रकार से वैदिकाग्नि का स्तवन करके अब नचिकेता के प्रति यम अग्निचयन का प्रकार कथन करते हैं:—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्य-वदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरे-वाह तुष्टः ॥ १५ ॥

पद०—लोकादिम्। अग्निम्। तम्। उवाच। तस्मै। याः।

इष्टकाः। यावतीः। वा। यथा। वा। सः। च। अपि। तत्। प्रत्यवदत्। यथा। उक्तम्। अथ। अस्य। मृत्युः। पुनः। एव। आह। तुष्टः।

अर्थ

तस्मै=उस नचिकेता के प्रति
लोकादिं=लोक के आदिभूत
तं=उस
अग्निं=अग्नि का
उवाच=व्याख्यान किया
याः=जो
वा=या
यावतीः=जितनी
वा=अथवा
यथा=जिस प्रकार से
इष्टकाः=ईंटें चिननी चाहियें अथवा जिस प्रकार अग्नि-चयन करना चाहिये यह सब वर्णन यम ने किया
च=और
सः, अपि=उस नचिकेता ने भी
यथा=जिस प्रकार
उक्तम्=उपदेश किया था
तत्=उसको
प्रत्यवदत्=यम के प्रति अनुवाद करके सुनाया
अथ=इसके अनन्तर
अस्य=नचिकेता को
मृत्युः=यम
तुष्टः=प्रसन्न होकर
पुनः=फिर
आह=बोला।

भाष्य---यम ने नचिकेता के प्रति उक्त अग्नि का सविस्तर व्याख्यान किया और हवनकुण्ड में ईंटें चिननी तथा अग्निचयन की विधि भी बतलाई, जिसको नचिकेता ने भले प्रकार समझ कर उसका ज्यों का त्यों अनुवाद भी कर दिया जिससे यम उस पर बहुत प्रसन्न हुआ।

इस श्लोक में जो अग्नि को लोकादि कथन किया गया है वह जीवलोक का आदिभूत होने के अभिप्राय से है अर्थात् गर्भाधान से लेकर श्मशानान्त जीवलोक के सब कर्मों का मूल-

भूत अग्नि है इसी अभिप्राय से इसको लोकादि विशेषण दिया गया है।

मायावादी इसके फिर वही अर्थ करते हैं कि हिरण्यगर्भ होकर अग्नि पृथिव्यादि लोकों का आधार है, भवतु, इनके मत में भौतिकाग्नि का हिरण्यगर्भ होना अथवा ब्रह्म बनना क्या आश्चर्य्य की बात है, क्योंकि इनके मत में अघटनघटनापटीयसी माया सब असम्भव अर्थों का एकमात्र भाण्डार है, इसी रीति से हवनकुण्ड की अग्नि भी इनके मत में लोकलोकान्तरों का आधार है।

और कई एक टीकाकार सब से प्रथम उत्पन्न होने के कारण अग्नि को लोकादि कहते हैं, उनका यह कथन औपनिषदसिद्धांत से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि ["तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः"] तैत्ति० ब्रह्म० अनु० १ इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि आकाश और वायु के अनन्तर अग्नि उत्पन्न हुआ, फिर अग्नि की उत्पत्ति सब से प्रथम कैसे, अतएव अग्नि को इसी अभिप्राय से लोकादि कथन किया गया है कि वह गर्भाधानादि संस्कार द्वारा जीवलोक का आदि है॥

सं०---नचिकेता का वैदिक कर्म में नैपुण्य देखकर अब यम वक्ष्यमाण वर दान देता है:---

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरन्तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भविताऽय-मग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥१६॥

पद०—तम्। अब्रवीत्। प्रीयमाणः। महात्मा। वरम्। तव। इह। अद्य। ददामि। भूयः। तव। एव। नाम्ना। भविता। अयम्। अग्निः। सृङ्काम्। च। इमाम्। अनेकरूपाम्। गृहाण।

अर्थ

नचिकेता की योग्यता देखकर
महात्मा=उच्च भाव वाले महात्मा
यम
प्रीयमाणः=प्रसन्न होकर
तं=उस नचिकेता से
अब्रवीत्=बोले कि
भूयः=फिर
इह=इस दूसरे वर के प्रसङ्ग में
तव=तेरे लिए
अद्य=आज
वरं=वर को
ददामि=देता हूं
अयं=यह
अग्निः=अग्नि
तव, एव=तेरे ही
नाम्ना=नाम से प्रसिद्ध
भविता=होगा
च=और
इमां=इस
अनेकरूपां=अनेक रूपों वाली
सृङ्कां=माला को
गृहाण=गृहण कर ।

भाष्य—यम नचिकेता पर प्रसन्न होकर यह वरदान देता है कि यह अग्नि तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगा और इस ब्रह्म विद्या की प्रतिपादक शब्दरूप मांला को तू ग्रहण कर ।

भाव यह है कि नाचिकेताग्नि की प्रसिद्धि इसलिये है कि ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ, इन तीनों आश्रमों में आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नाम से तीन अग्नियों को चयन करने वाला और माता, पिता तथा आचार्य्य इन तीन उपदेष्टाओं के सत्संग तथा उपदेश से यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीनों कर्मों के यथायोग्य करने वाला नचिकेता उक्त वैदिकाग्नि को जानकर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हुआ, एवंविध प्रसिद्धिरूपी यश वाली माला यहां कथन की गई है अन्य नहीं ।

सं०—अब उक्त यश को लाभ करने वाले पुरुष के लिये फल कथन करते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू । ब्रह्मजज्ञन्देवमीड्यं विदित्वा-निचाय्येमाᳬंशान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

पद०—त्रिणाचिकेतः । त्रिभिः । एत्य । सन्धिम् । त्रिकर्मकृत् । तरति । जन्ममृत्यू । ब्रह्मजज्ञम् । देवम् । ईड्यम् । विदित्वा । निचाय्य । इमाम् । शान्तिम् । अत्यन्तम् । एति ।

अर्थ

त्रिणाचिकेतः=जिसने तीन वार अग्नि का चयन किया है वह पुरुष
त्रिभिः=माता, पिता तथा आचार्य्य के साथ
सन्धिं=सत्संगति को
एत्य=प्राप्त होकर
त्रिकर्मकृत्=यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों का करने वाला
जन्ममृत्यू=जन्म और मृत्यु से
तरति=पार हो जाता है
ब्रह्मजज्ञं=वेद प्रतिपादित ज्ञान के उत्पन्न करने वाले
ईड्यं=स्तुति के योग्य
देवं=परमात्मा को
विदित्वा=जानकर और
निचाय्य=निश्चय करके
अत्यन्तं=अतिशय
शान्तिं=शान्ति को
एति=प्राप्त होता है

भाष्य—इस श्लोक में परमात्मज्ञान से शान्ति का कथन किया है जैसा कि ["वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं"] यजु० ३१ । १८ में एकमात्र परमात्मज्ञान ही मुक्ति का कारण कथन किया गया है, इसी प्रकार यहां भी परमात्मज्ञान को ही मुक्ति का कारण कथन किया है, और वह इस प्रकार कि ["ब्रह्मणो जायत इति ब्रह्मजः"]=जिसकी ब्रह्म से प्रसिद्धि हो

उसका नाम ["ब्रह्मज"] और ["ब्रह्मजश्चासौज्ञश्चेति-ब्रह्मजज्ञः"]=वेदप्रतिपाद्य सर्वज्ञाता का नाम ["ब्रह्मजज्ञ"] है, इस प्रकार यहां "ब्रह्मजज्ञ" परमात्मा का नाम है।

कई एक टीकाकारों का यह कथन है कि ब्रह्मजज्ञ नाम अग्नि का है और वही अग्नि सर्वपूज्य है और इसी अभिप्राय से उसको "ईड्यम्" कहा है, इनके मत में अग्नि की पूजा करना सिद्ध होता है परमात्मा की नहीं, और जो वह लोग इसका यह परिष्कार करते हैं कि यहां चेतनाग्नि की पूजा अभीष्ट है जड़ की नहीं, यह उनका कथन भी उनको मूर्त्तिपूजा की परिधि से बाहर नहीं जाने देता, क्योंकि उनके मत में चेतनाग्निभी अग्नि का अभिमानी देवताविषय है, जिसका उपपादन हम शवलवाद निराकरण में भले प्रकार कर आये हैं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होने के कारण अग्नि को "ब्रह्मजज्ञ" कथन किया है, यह अर्थ करने पर भी ब्रह्मजज्ञ अग्नि नहीं हो सकता, क्योंकि अग्नि किसी का ज्ञाता नहीं, और जो उन्होंने यह लिखा है कि यहां विराट्रूप से अग्नि का अभिप्राय है इससे भी अग्नि चेतनदेव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि परमात्मा के शरीर शरीरी-भाव से भी इनका भौतिक विराट्वर्ग जड़ ही सिद्ध होता है चेतन नहीं, इस प्रकार शब्दार्थ मीमांसा करने से यहां ["ब्रह्मजज्ञ"] के अर्थ परमात्मदेव के ही हैं जड़ अग्नि के नहीं।

सं०—अब प्रकारान्तर से उक्त कर्म का फल कथन करते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् । स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

पद०—त्रिणाचिकेतः । त्रयम् । एतत् । विदित्वा । यः । एवम् । विद्वान् । चिनुते । नाचिकेतम् । सः । मृत्युपाशान् । पुरतः । प्रणोद्य । शोकातिगः । मोदते । स्वर्गलोके ।

अर्थ

यः=जो
विद्वान्=ज्ञानवान्
त्रिणाचिकेतः=उक्त प्रकार से तीन वार अग्नि का चयन करने वाला पुरुष
एतत्, त्रयं=इन तीन प्रकारों को
विदित्वा=जानकर
एवं=इस प्रकार
नाचिकेतं=नाचिकेत अग्नि को
चिनुते=चयन करता है
सः=वह
मृत्युपाशान्=मौत के पाशों को
पुरतः=शरीर त्याग से प्रथम ही
प्रणोद्य=छोड़कर
शोकातिगः=शोक से रहित होकर
स्वर्गलोके=सुख की अवस्था में
मोदते=आनन्द करता है ॥

भाष्य—जो पुरुष ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में माता, पिता और आचार्य्य इन तीनों शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त करके उक्त तीनों प्रकार के कर्मों का यथाविधि सेवन करता हुआ उक्त नाचिकेत अग्नि का चयन करता है अर्थात् जिस वैदिकाग्निविषयक नचिकेता का प्रश्न था और नचिकेता

के नाम से जो अग्नि प्रसिद्ध है उस अग्नि का चयन=अग्न्याधान करता है वह पुरुष शरीर त्याग से प्रथम ही मौत के बन्धनों को तोड़कर जीवन्मुक्ति के सुख को भोगता है।

हम यह पूर्व श्लोकों में भी भले प्रकार वर्णन कर आये हैं कि "स्वर्गलोके" के अर्थ इस प्रकरण में लोकविशेष के नहीं, और यहां उक्त श्लोक में इस अर्थ की ["पुरतः"] शब्द से और भी दृढ़ता पाई जाती है; "पुरतः" के अर्थ प्रथम के हैं, प्रश्न-किससे प्रथम? उत्तर—शरीर त्याग से प्रथम, यदि कोई पुरुष शरीरत्याग से बीस वर्ष प्रथम उक्त अग्नि के अनुष्ठान द्वारा मृत्यु के बन्धन को काट देता है फिर क्या वह मरने के पश्चात् स्वर्गलोक में जाता है अथवा जीता हुआ ही "मोदते स्वर्गलोके" ऐसा कहा जा सकता है, यदि जीते हुए को ही स्वर्ग प्राप्ति मानी जाय तो स्वर्ग लोक विशेष नहीं और यदि मरने के पश्चात् स्वर्ग मिलता है तो उसको मृत्यु की पाशें प्रथम ही काट देने का कोई फल विशेष नहीं अर्थात् वह जीवन्मुक्ति को लाभ नहीं कर सकता, इस प्रकार मीमांसा करने से स्वर्गलोक के अर्थ यहां सुख की अवस्था विशेष के हैं लोकविशेष के नहीं ॥

सं०—अब उक्त द्वितीय वर का उपसंहार करते हैं:—

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निन्तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

पद०—एषः। ते। अग्निः। नचिकेतः। स्वर्ग्यः। यम्। अवृ-

णीथाः । द्वितीयेन । वरेण । एतम् । अग्निम् । तव । एव । प्रवक्ष्यन्ति । जनासः । तृतीयम् । वरम् । नचिकेतः वृणीष्व ।

अर्थ

नचिकेतः = हे नचिकेता
एषः = यह
अग्निः = अग्नि
स्वर्ग्यः = स्वर्ग का उपयोगी
एतं = इस
अग्निं = अग्नि को
तव, एव = तुम्हारे ही नाम से
जनासः = लोग
ते = तुम्हारे लिये कहा गया
यं = जिस को
द्वितीयेन, वरेण = दूसरे वर से
अवृणीथाः = तुमने मांगा था
प्रवक्ष्यन्ति = कथन करेंगे
नचिकेतः = हे नचिकेता
तृतीयं, वरं = तीसरे वर को
वृणीष्व = मांग ।

भाष्य—यम कहता है कि हे नचिकेतः ! स्वर्ग का साधन यह वैदिकाग्नि अर्थात् जो अग्नि वैदिककर्मों का हेतु होने से स्वर्ग का साधन है जिसको तैने दूसरे वर से मांगा था । मैंने तेरे लिये दिया और इसको तेरे ही नाम से प्रसिद्ध भी किया, अब तू तीसरा वर मांग ।

सं०—पिता की प्रसन्नता तथा वैदिककर्मों के ज्ञानानन्तर, अब नचिकेता आत्मज्ञान के याथात्म्यविषयक तृतीय वर को मांगता है :—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नाय-मस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

पद०—या । इयम् । प्रेते । विचिकित्सा । मनुष्ये । अस्ति ।

इति। एके। न। अयम्। अस्ति। इति। च। एके। एतत्। विद्याम्। अनुशिष्टः। त्वया। अहम्। वराणाम्। एषः। वरः। तृतीयः।

अर्थ

मनुष्ये, प्रेते=प्राणी के मरने पर	विचिकित्सा=संशय होता है सो
अयं=यह आत्मा	त्वया=आपसे
अस्ति, इति=है	अनुशिष्टः=शिक्षा पाया हुआ
एके=कई एक ऐसा मानते हैं	अहं=मैं
च=और	एतत्=इस आत्मज्ञान को
न, अस्ति, इति=आत्मा नहीं है	विद्यां=जानूं
एके=कई एक ऐसा मानते हैं, इस प्रकार	वराणां=वरों में
	एषः=यह
या=जो	तृतीयः=तीसरा
इयं=यह	वरः=वर है।

भाष्य—उक्त दोनों वरों को पाकर नचिकेता मृत्यु से कहता है कि हे मृत्यु! प्राणी के मरने पर जो यह सन्देह होता है कि देहादि से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है वा नहीं अर्थात् कई एक लोग कहते हैं कि जीवात्मा है और कइयों का कथन है कि जीवात्मा नहीं, इसमें क्या तत्त्व है? इसको मैं आपसे उपदेश पाकर जानना चाहता हूँ यही मुझे तीसरा वर दान दीजिये।

नचिकेता ने मृत्यु से यह प्रश्न इसलिये किया कि इसका उत्तर ठीक २ मृत्यु ही दे सकता है अर्थात् काल भगवान् ही इस तत्त्व को ठीक २ बतला सकता है अन्य नहीं, इसीलिये यहां मृत्यु के अलंकार से इस बात को वर्णन किया गया है अथवा कोई पुरुष मरकर लौट के आया हो तो वह ठीक २

बतला सकता है, इसी अभिप्राय से नचिकेता का मरकर लौटना कथन किया गया है, यह कथा वास्तव में अलङ्काररूप से वर्णन की गई है, जैसा कि हम पूर्व कथन कर आये हैं।

इस कथा को पौराणिक लोग इस प्रकार वर्णन करते हैं कि नासकेत मरकर लौट आया था और उसने आकर वहां के सब दुःख वर्णन किये कि प्राणी को अमुक २ दुःख वहां होते हैं, यह ठीक नहीं, वास्तविक इस कथा का तात्पर्य्य वही है जो पीछे कथन कर आये हैं, इसका हमारे पास और दृढ़ प्रमाण यह है कि इस तीसरे प्रश्न के उत्तर से यम यहां तक भागा कि नचिकेता और कोई वर मांगले पर इसको न मांगे, इससे पाया जाता है कि इस बनावटी यम वा मृत्यु को इसका ठीक २ उत्तर नहीं आता था यदि यह तात्विक यम होता जिसके पास सब मरकर परलोक में जाते हैं तो फिर उत्तर देने से क्यों घबराता, इससे सिद्ध है कि यह कथा अलंकार से है वास्तविक नहीं।

सं०—अब नचिकेता के प्रति यम कथन करता है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

पद०—देवैः। अत्र। अपि। विचिकित्सितम्। पुरा। नहि। सुविज्ञेयम्। अणुः। एषः। धर्मः। अन्यम्। वरम्। नचिकेतः। वृणीष्व। मा। मा। उपरोत्सीः। अति। मा। सृज। एनम्।

अर्थ

पुरा=पहले देवैः=देवताओं ने
अत्र=इस आत्मा के विषय में अपि=भी

विचिकित्सितं=संशय किया था
हि=निश्चय करके
एष:=यह
धर्म:=धर्म
अणु:=अतिसूक्ष्म होने से
सुविज्ञेयं=सुगमता से जानने योग्य
न=नहीं, अतएव
नचिकेत:=हे नचिकेता तू
अन्यं, वरं=और वर को
वृणीष्व=मांग
मा=मुझ से
मा, उपरोत्सी:=इस वर मांगने का हठ न कर
मा=मेरे प्रति
एनं=इस वर को
अति, सृज=छोड़दे।

भाष्य—यम ने कहा कि प्रमथ समय में भी इस विषय पर बड़े २ विद्वानों ने सन्देह किया कि मरने के अनन्तर जीवात्मा रहता है वा नहीं, परन्तु पूर्णरूप से इसकी मीमांसा नहीं कर सके, यह धर्म अतिसूक्ष्म है अर्थात इस तत्त्व का जानना अति कठिन है, इसलिये हे नचिकेता ! तु कोई और वर मांग इसकी हठ छोड़ दे।

सं०—अब नचिकेता कथन करता है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

पद०—देवैः । अत्र । अपि । विचिकित्सितम् । किल । त्वम् । च । मृत्यो । यत् । न । सुविज्ञेयम् । आत्थ । वक्ता । च । अस्य । त्वादृक् । अन्यः । न । लभ्यः । न । अन्यः । वरः । तुल्यः । एतस्य । कश्चित् ।

अर्थ

मृत्यो=हे मृत्यु	अस्य=इसका
अत्र=इस विषय पर	वक्ता=कथन करने वाला
देवैः, अपि=बड़े २ विद्वानों ने भी	त्वादृक्=तेरे समान
विचिकित्सितं=संशय किया था	अन्यः=और
च=और	न, लभ्यः=नहीं मिल सकता
त्वं=तू	च=और
किल=भी	एतस्य=इसके
यत्=यह	तुल्यः=समान
सुविज्ञेयं=सुगमता से जानने योग्य	अन्यः=और
न=नहीं,	कश्चित्=कोई
आत्थ=कहता	वरः=वर
	न=नहीं है।

भाष्य—नचिकेता ने कहा कि हे यम यह माना कि पहले देवताओं ने भी इसमें सन्देह किया था और तू भी इसको सुखाला नहीं समझता पर तुम्हारे जैसा वक्ता भी इस विषय में अन्य कोई नहीं मिल सकता और न इसके बराबर और कोई वर है, नचिकेता ने ठीक कहा जब यम के द्वार पर जाकर ही इसका पता न लगा कि मरने के अनन्तर क्या होता है तो फिर और कौन इस सन्देह को दूर कर सकता है।

सं०—एवं विध बार २ पूछने के अनन्तर यम उक्त वर से इनकार करने के अभिप्राय से अब यह प्रलोभन देता है:—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून्
हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं

वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो
यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

पद०—शतायुषः। पुत्रपौत्रान्। वृणीष्व। बहून्। पशून्। हस्तिहिरण्यम्। अश्वान्। भूमेः। महत्। आयतनम्। वृणीश्व। स्वयम्। च। जीव। शरदः। यावत्। इच्छसि।

अर्थ

शतायुषः=सौवर्ष पर्य्यन्त जीने वाले	भूमेः=भूमि के
पुत्रपौत्रान्=पुत्र पुत्रों को	महत्=बड़े
वृणीष्व=मांग, और	आयतनं=राज्य को
बहून्, पशून्=बहुत से गाय और बैल आदि पशु	वृणीष्व=मांग
अश्वान्=घोड़े	च=और
हस्तिहिरण्यं=हाथी और सुवर्ण तथा	स्वयं=तू भी
	शरदः=जितने वर्ष चाहे उतने वर्ष
	जीव=जीवन=जीना मांग।

भाष्य—यम ने प्रलोभन सहित उत्तर दिया कि चिरजीवी पुत्र पौत्र, हस्ती आदि पशु, सुवर्ण आदि बहुमूल्य रत्न, पृथ्वी पर बड़ा राज्य यह सब मुझ से मांग, अपना जीना भी जितना चाहता है मांग पर मरने के अनन्तर क्या होता है यह वर न मांग।

सं०—अब यम और प्रलोभन देता है:—

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं
चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्व-

मेधि कामानान्त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

पद०—एतत् । तुल्यम् । यदि । मन्यसे । वरम् । वृणीष्व । वित्तम् । चिरजीविकाम् । च । महाभूमौ । नचिकेतः । त्वम । एधि । कामानाम् । त्वा । कामभाजम् । करोमि ।

अर्थ

यदि=जो
एतत्=इस वक्त वर के
तुल्यं=समान
वरं=निम्नलिखित वर को
मन्यसे=मानता है तो
वित्तम्=धन
च=और
चिरजीविकां=सदा की आजीविका को
वृणीष्व=मांग
नचिकेतः=हे नचिकेता
त्वं=तू
महाभूमौ=बड़े राज्य पर
एधि=प्राप्त हो
त्वा=तुझको
कामानां=सम्पूर्ण कामनाओं का
कामभाजम्=भोग करने वाला
करोमि=करता हूं ।

भाष्य—अब पुनः यम कहता है कि हे नचिकेता यदि तू उक्त वर के समान सदा की आजीविका, धन की प्राप्ति चाहता है तो उसको मांग और यदि इन सब से बढ़कर सार्वभौम राज्य का अभिलाषी है तो वह भी मैं तेरे लिये दे सकता हूं और जो तेरी अन्य कोई कामना हो उसे भी पूर्ण कर सकता हूं पर मरने के पश्चात् क्या होता है यह बात मत पूछ ।

सं० —अब यम और प्रलोभन देता है:—

येये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँ श्छन्दतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः

सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व न-
चिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

पद०- ये । ये । कामाः । दुर्लभाः । मर्त्यलोके । सर्वान् । कामान् । छन्दतः । प्रार्थयस्व । इमाः । रामाः । सरथाः । सतूर्याः । नहि । ईदृशाः । लम्भनीयाः । मनुष्यैः । आभिः । मत्प्रत्ताभिः । परिचारयस्व । नचिकेतः । मरणम् । मा । अनुप्राक्षीः ।

अर्थ

मर्त्यलोके=इस लोक में
ये, ये=जो जो
कामाः=कामनायें
दुर्लभाः=दुर्लभ हैं उन
सर्वान्=सब
कामान्=कामनाओं को
छन्दतः=स्वेच्छापूर्वक
प्रार्थयस्व=मांग
इमाः=ये जो
सरथाः=रथादि यानों सहित
सतूर्याः=वादित्रादि सहित
रामाः=स्त्रियां हैं
आभिः=इन
मत्प्रत्ताभिः=मेरी दी हुई स्त्रियों से
परिचारयस्व=अपनी सेवा कराओ
हि=निस्सन्देह
ईदृशाः=ऐसी स्त्रियां
मनुष्यैः=साधारण मनुष्यों से
न, लम्भनीयाः=अप्राप्त हैं
नचिकेतः=हे नचिकेता
मरणं=मौत को
मा=मत
अनुप्राक्षीः=पूछ ।

भाष्य—यम ने कहा कि हे नचिकेता जो २ कामनायें इस लोक में दुर्लभ हैं उन सब को यथारुचि मांग और जो वादित्रादि सहित स्त्रियां हैं इनको अपनी सेवा के लिये मांग पर मरना मत पूछ ।

इस लोक में जो यहां के दुर्लभ भोग कथन किये गये हैं वह इस अभिप्राय से हैं कि जो इस प्रदेश में नहीं मिल सकते अन्य प्रदेशों में मिलते हैं वह भी मैं तुम्हारे लिये उपस्थित कर दूंगा पर मरना न पूछ।

और जो लोग "मर्त्यलोक में दुर्लभ" वाक्य से स्वर्गलोक के भोगों का अर्थ करते हैं वह इतना नहीं सोचते कि स्वर्गलोक में खड़ा हुआ तो नचिकेता यम से बातचीत ही कर रहा है फिर उसके लिये स्वर्गलोग के भोग दुर्लभ ही क्या, और मरकर नचिकेता यम से प्रश्न कर रहा है फिर मरकर जीवात्मा रहता है वा नहीं ? इस विषयक प्रश्न ही क्या, इत्यादि समालोचना से स्पष्ट है कि वास्तव में यम कोई पौराणिक यमपुरी का यम न था और नाही नचिकेता मरकर वहां गया वस्तुतः मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा का अस्तित्व बोधन करने के लिये यह कथा कल्पना की गई है।

सं०—अब उक्त प्रलोभनों का नचिकेता उत्तर देता है :—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

पद०—श्वोभावाः । मर्त्यस्य । यत् । अन्तक । एतत् । सर्वेन्द्रियाणाम् । जरयन्ति । तेजः । अपि । सर्वम् । जीवितम । अल्पम् । एव । तव । एव । वाहाः । तव । नृत्यगीते ।

अर्थ

अन्तक=हे मृत्यु
यत्=जिस लिये
श्वोभावाः=जो भोग सर्वदा रहने वाले नहीं और

मर्त्यस्य=मनुष्य के
सर्वेन्द्रियाणां=सब इन्द्रियों के
एतत्=इस
तेजः=तेज को
जरयन्ति=क्षय कर देते हैं
सर्वं, अपि, जीवितं=सब जीवन भी
अल्पं, एव=अल्प ही है इसलिये
तव, एव=तेरे ही लिये शुभ हों और जो
वाहाः=रथादि कथन किये हैं और
नृत्यगीते=नाचना गाना भी
तव=तेरे लिये ही रहें।

भाष्य– नचिकेता ने भोगों के तुच्छ होने में यह हेतु दिये कि एक तो यह पदार्थ श्वोभावा=कल को रहने वाले नहीं अर्थात् अनित्य हैं, दूसरे यह कि ये भोग भोगी लोगों की इन्द्रियों को शिथिल कर देते हैं, तीसरी बात यह है कि जीना भी थोड़े दिनों का है, इसलिये यह भोग तुम्हारे ही लिये शुभ हों मुझे इनकी इच्छा नहीं।

सं०—अब नचिकेता उक्त भोगों के तुच्छ होने में और हेतु कथन करता है :-

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्त-मद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्य-सि त्वं वरस्तु मे वरणीयःस एव॥ २७॥

पद०—न। वित्तेन। तर्पणीयः। मनुष्यः। लप्स्यामहे। वित्तम्। अद्राक्ष्म। चेत्। त्वा। जीविष्यामः। यावत्। ईशिष्यसि। त्वम्। वरः। तु। मे। वरणीयः। सः। एव।

अर्थ

मनुष्यः=मनुष्य
वित्तेन=धन से
न,तर्पणीयः=तृप्त नहीं हो सकता

चेत्=जो
त्वा=तुझ यम को
अद्राक्ष्म=मैंने देख लिया है
वित्तं=ऐश्वर्य्य भोग को
लप्स्यामहे=प्राप्त होंगे
त्वं=तू
ईशिष्यसि=चाहोगे तबतक
यावत्=जबतक
जीविष्यामः=जींवेंगे, अतः
मे=मुझको
वरः, तु=वर तो
सः, एव=वह ही
वरणीयः=लाभ करने योग्य है।

भाष्य-नचिकेता ने कहा कि मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता, इसलिए मुझे धन की इच्छा नहीं, और यदि इच्छा हुई भी तो तुम्हारे संग से धन मिलजायगा और जीना तो तुम्हारे आधीन ही है, क्योंकि तुम यम=जीने के स्वामी हो, इसलिए उक्त प्रलोभनों को छोड़कर वर तो मेरे मांगने योग्य वही है कि मरने के पश्चात् क्या होता है।

सं०—अब नचिकेता और हेतु कथन करता है:—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

पद०—अजीर्यताम्। अमृतानाम्। उपेत्य। जीर्यन्। मर्त्यः। कधःस्थः। प्रजानन्। अभिध्यायन्। वर्णरतिप्रमोदान्। अतिदीर्घे। जीविते। कः। रमेत।

अर्थ

अजीर्यतां=वृद्ध न होने वाले
अमृतानां=जीवन्मुक्तों को
क्वधःस्थः=पृथिवी के अधोभाग में स्थित
मर्त्यः=मरणधर्मा पुरुष
जीर्यन्=शरीरादि के नाश का अनुभव करता हुआ

वर्णरतिमोदान्=नाना प्रकार के राग रंग क्रीड़ा और विषय सुख को
अभिध्यायन्=दुःखप्रद जानता हुआ
कः=कौन
प्रजानन्=बुद्धिमान्
अतिदीर्घे जीविते=बहुत बड़े जीवन में
रमेत=रमे।

भाष्य—नचिकेता ने कहा कि जब पुरुष किसी मरण रहित दिव्य शक्तिवाले जीवन्मुक्त पुरुष को प्राप्त हो तो ऐसा कौन पुरुष है कि फिर संसार के रागरंगों की इच्छा करे और उससे आध्यात्मिक लाभ न उठावे अर्थात् कोई मूर्ख ऐसा होतो हो बुद्धिमान् ऐसा नहीं कर सकता।

सं०—अब नचिकेता उस मुख्य प्रयोजन का कथन करता है जो यम से प्रष्टव्य था:—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सा-म्पराये महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यन्तस्मान्न-चिकेता वृणीते॥ २६॥

पद०—यस्मिन्। इदम्। विचिकित्सन्ति। मृत्यो। यत्। साम्पराये। महति। ब्रूहि। नः। तत्। यः। अयम्। वरः। गूढम्। अनुप्रविष्टः। न। अन्यम्। तस्मात्। नचिकेताः। वृणीते।

अर्थ

मृत्यो=हे यम
यस्मिन=जिस समय में
इदं=यह
विचिकित्सन्ति=सन्देह करते हैं कि आत्मा कोई है वा नहीं? यदि है तो मरने के अनन्तर क्या होता है

यत्=जो
महति=बड़ी
साम्परायेपरमार्थ दशा में स्थित है
तत्=उस आत्मज्ञान का
नः=मेरे प्रति
ब्रूहि=उपदेश कर
यः=जो
अयं=यह
गूढं=गूढ़ है वह तू मुझे कह
वरः=यही वर
अनुप्रविष्टः=मेरे चित्त में व्याप रहा है
तस्मात्=उससे
अन्यं=भिन्न वर
नचिकेताः=मैं नचिकेता
न, वृणीते=नहीं मांगता।

भाष्य—नचिकेता के कहा कि हे यम! जिस आत्मा के विषय में लोग सन्देह करते हैं कि मरने के अनन्तर जीवात्मा रहता है अथवा नहीं, इस विषय में तुम मुझे कहो, यह वर गूढ़ता को प्राप्त हैं अर्थात् बहुत गूढ़ है, इससे भिन्न मैं अन्य कोई वर नहीं मांगना चाहता।

प्रथमा वल्ली समाप्ता

——※——
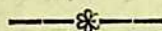
। अथ द्वितीया वल्ली प्रारभ्यते ।

सं०—नाना प्रलोभनरूप मोहसागर से पार हुए नचिकेता को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझकर अब यम विद्या अविद्या का भेद कथन करता है:—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य

साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥३० ॥

पद०—अन्यत् । श्रेयः । अन्यत् । उत् । एव । प्रेयः । ते । उभे । नानार्थे । पुरुषम् । सिनीतः । तयोः । श्रेयः । आददानस्य । साधु । भवति । हीयते । अर्थात् । यः । उ । प्रेयः । वृणीते ।

अर्थ

श्रेयः=कल्याण का मार्ग
अन्यत्=और है
उत=और
प्रेयः=धनैश्वर्य्यादि अभ्युदय-रूप मार्ग
अन्यत्=और
एव=ही है
ते=वे श्रेय और प्रेय
उभे=दोनों
नानार्थे=भिन्न २ फल वाले
पुरुषं=पुरुष को
सिनीतः=बांध लेते हैं
तयोः=इन दोनों में से
श्रेयः=कल्याण के
आददानस्य=स्वीकार करने वाले को
साधु=अच्छा फल
भवति=होता है
यः, उ=और जो
प्रेयः=प्यारी वस्तुओं को
वृणीते=ग्रहण करता है वह
अर्थात्=मनुष्यजन्म के फल से
हीयते=गिर जाता है अर्थात् पतित हो जाता है ॥

भाष्य—पूर्व श्लोकों में वर्णित ऐसे २ प्रलोभन देने पर भी जब नचिकेता अपने मांगे हुए वर से न हटा तब यम उसको आत्म-ज्ञान का अधिकारी समझ कर उपदेश करता है कि हे नचिकेता ! इस संसार में मनुष्य के सन्मुख दो लक्ष्य हैं, एक श्रेय=विद्या और दूसरा प्रेय=अविद्या, और इन्हीं को प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृत्ति

मार्ग भी कहते हैं, श्रेय मार्ग में चलने से मनुष्य का कल्याण होता है, चाहे मनुष्य को तितिक्षा आदि के कारण वह प्रिय प्रतीत न हो परन्तु भविष्यत् में अवश्य ही कल्याणप्रद होता है और दूसरा प्रेय जिसमें पड़कर मनुष्य अत्यन्त दुःखी हो जाता है, यह मार्ग चाहे मनुष्य के मन को प्रिय प्रतीत होता है परन्तु भविष्यत् में कल्याणप्रद नहीं होता अर्थात् हानिकारक होता है, उक्त दोनों लक्ष्यों के वशीभूत होकर पुरुष कार्य्य में प्रवृत्त होता है परन्तु जो श्रेय को छोड़कर प्रेय=सुखप्रद पदार्थों में लग जाता है वह धर्म, अर्थ काम, मोक्षरूपी मनुष्य जन्म के फल-चतुष्टय से गिर जाता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह प्रेय पदार्थों के प्रलोभन में कदापि न फंसकर नित्यप्रति श्रेय के लिये यत्न करता रहे।

सं०—अब प्रेय पदार्थों में न फंसने वाले धीरपुरुष का कथन करते हैं :—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥ ३१ ॥

पद०—श्रेयः। च। प्रेयः च। मनुष्यम्। एतः। तौ। सम्परीत्य। विविनक्ति। धीरः। श्रेयः। हि। धीरः। अभि। प्रेयसः। वृणीते। प्रेयः। मन्दः। योगक्षेमात्। वृणीते।

अर्थ

श्रेयः=कल्याण का मार्ग च=और

प्रेयः=मनको प्रिय प्रतीत होने वाला विषयों का मार्ग, यह दोनों
मनुष्य=पुरुष को
एतः=कर्तव्यरूप से प्राप्त हैं
धीरः=धीरपुरुष
तौ=उन दोनों को
सम्परीत्य=विचार करके
विविनक्ति=विवेक करता है
धीरः, हि=धीर पुरुष ही
प्रेयसः प्रवृत्ति मार्ग से
श्रेयः=कल्याण के मार्ग को
अभि, वृणीते=सब ओर से ग्रहण करता है
च=और
मन्दः=अविवेकी पुरुष
योगक्षेमात्=धन के उपार्जन तथा रक्षण से
प्रेयः=प्रवृत्तिमार्ग को ही
वृणीते=स्वीकार करता है।

भाष्य—यम ने कहा कि हे नचिकेता! कल्याणकारी और सुखकारी यह दो पदार्थ पुरुष को कर्तव्यरूप से प्राप्त हैं, इन दोनों में से धीरपुरुष सुखकारी पदार्थ को छोड़कर हितकारी का ग्रहण करता है और जो अविवेकी है वह अपना निर्वाह समझकर प्यारी वस्तु का ही ग्रहण करके सदा के लिये सुख से वञ्चित रहता है, अप्राप्त की प्राप्ति का नाम ["योग"] और प्राप्त की रक्षा का नाम ["क्षेम"] है, अविवेकी पुरुष योगक्षेम से विषयों के वशीभूत होकर सुखकारी पदार्थ का ग्रहण करता है।

सार यह निकला कि मन्दपुरुष शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन विषयों में फंस जाता है और इसीलिये हितकारी पदार्थों का ग्रहण नहीं कर सकता, और धीर पुरुष शमदमादि साधन सम्पन्न होकर मुक्ति को लाभ करता है, इस मार्ग में कितना ही तप और तितिक्षा उसे क्यों न करनी पड़े पर वह मुक्ति के मार्ग को नहीं छोड़ता, अतएव धीर पुरुष का यही

कर्तव्य है कि वह मोहकारक प्रियपदार्थों में न फसकर कल्याणकारी पदार्थों का ही सेवन करे ॥

सं०—उक्त प्रलोभनों में न फसने के कारण अब यम नचिकेता की प्रशंसा करता है—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः । नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्याम्मज्जन्ति बहवो मनुष्याः । ३ । ३२ ।

पद०—सः । त्वम् । प्रियान् । प्रियरूपान् । च । कामान् । अभिध्यायन् । नचिकेतः । अत्यस्राक्षीः । न । एताम् । सृङ्काम् । वित्तमयीम् । अवाप्तः । यस्याम् । मज्जन्ति । बहवः । मनुष्याः ।

अर्थ

नचिकेतः=हे नचिकेता
सः=वह
त्वं=तैंने जो कि तू श्रेय मार्ग का ग्रहण करने वाला है
प्रियान्=प्यारे पुत्र पौत्रादि
च=और
प्रियरूपान्=स्त्री आदि
कामान्=भोगों को
अभिध्यायन्=उनके असारता आदि दोषों का चिन्तन करके
अत्यस्राक्षीः=छोड़ दिया
एतां=इस भोगैश्वर्य्यरूप
सृङ्कां=माला में
न=नहीं
अवाप्तः=फसा
यस्यां=जिसमें
बहवः=बहुत
मनुष्याः=मनुष्य
मज्जन्ति=फस जाते हैं ।

भाष्य—यम कहता है कि हे नचिकेता ! तैंने सांसारिक

सुख भोगों को अनित्य और असार समझकर त्याग दिया अर्थात् जिस संसार सागर की माया मोहमयी अथवा वित्त-मोहमयी लहर में पड़ कर सहस्रों मनुष्य डूब जाते हैं उससे तू पार हुआ, तैने पुत्र, पौत्र तथा स्त्री आदि प्रलोभनों की अंश-मात्र भी अपेक्षा नहीं की, इसलिए मैं तुमको उत्तमाधिकारी=आत्म ज्ञान का अधिकारी समझता हूँ ॥

सं०—अब यम नचिकेता की प्रकारान्तर से प्रशंसा करता है:—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च
विद्येति ज्ञाता । विद्याऽभीप्सिनन्न-
चिकेतसं मन्ये न त्वा कामा
बहवो लोलुपन्त । ४ । ३३ ।

पद०—दूरम् । एते । विपरीते । विषूची । अविद्या । या । च । विद्या । इति । ज्ञाता । विद्याभीप्सिनम् । नचिकेतसम् । मन्ये । न । त्वा । कामाः । बहवः । लोलुपन्त ।

अर्थ

एते=श्रेय और प्रेय यह उक्त दोनों मार्ग
दूरं, विपरीते=अत्यन्त विरुद्ध
विषूची=भिन्न २ फल वाले हैं, इन दोनों को
अविद्या=विपरीत ज्ञान
च=और
विद्या=यथार्थज्ञान, इस नाम से विद्वानों ने
ज्ञाता=जाने हैं
नचिकेतसं=हे नचिकेता तुमको
विद्याभीप्सिनं=विद्या का जानने वाला=श्रेयपथगामी
मन्ये=मानता हूँ, क्योंकि,

त्वा=तुझको
बह्वः, कामाः=प्रलोभन वाले
बहुत पदार्थ भी
न, लोलुपन्त=लुभायमान नहीं
कर सके।

भाष्य—यम कहता है कि हे नचिकेता! श्रेय और प्रेय यह दो परस्पर विरुद्ध मार्ग हैं, जिनको विद्वान् लोग विद्या और अविद्या के नाम से कथन करते हैं अर्थात् यथार्थ ज्ञान का नाम ["विद्या"] और ["अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या"] यो० २। ५=अनित्य, अशुचि=अपवित्र शरीरादि में पवित्र बुद्धि, दुःख=दुखरूप विषय भोग में सुख बुद्धि, अनात्म=बुद्धि से लेकर पुत्र, पौत्र, स्त्री, तथा मित्रादि अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि का नाम ["अविद्या"] अर्थात् विपरीत ज्ञान का नाम ["अविद्या"] है, तुझको बहुत से प्रलोभन जो उक्त अविद्या से उत्पन्न होते हैं। प्रेय मार्ग में नहीं ले जा सके, इसलिये मैं तुमको विद्यापथानुरागी अर्थात श्रेयपथ प्रिय मानता हूँ।

मायावादियों के मत में अविद्या के अर्थ अज्ञान तथा मिथ्यामोहरूपी माया के हैं, जिसको यह संसार का बीज मानते हैं फिर उसकी निवृत्ति होना कब सम्भव है, क्योंकि इनके मत में अविद्या ब्रह्म का स्वाश्रय स्वविषय होकर सर्वदा बनी रहती है, उक्त श्लोक में नचिकेता को विद्याभिलाषी कथन करने अर्थात् नाना प्रकार के अनित्य पदार्थों में नित्य बुद्धि न करने से इस बात को स्पष्ट कर दिया कि यह संसार अविद्यामय=मिथ्या नहीं किन्तु अनित्य है।

सं०—अब उक्त अविद्या में रत पुरुष का कथन करते हैं:-

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः

पण्डितम्मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ ५ ॥ ३४ ।

पद०—अविद्यायाम् । अन्तरे । वर्त्तमानाः ।स्वयम् । धीराः । पण्डितम् । मन्यमानाः । दन्द्रम्यमाणाः । परियन्ति । मूढाः । अन्धेन । एव । नीयमानाः । यथा । अन्धाः ।

अर्थ

अविद्यायां=अविद्या के
अन्तरे=बीच में
वर्त्तमानाः=वर्त्तमान पड़े हुए
स्वयं=अपने आपको
धीराः=धीर और
पण्डितं, मन्यमानाः=पण्डित मानते हुए ऐसी
दन्द्रम्यमाणाः=अत्यन्त कुटिल-गति से
मूढाः=विक्षिप्त मन वाले चलते हैं
यथा=जैसे
अन्धेन, एव=अन्धे के साथ
नीयमानाः=चलने वाले
अन्धाः=अन्धे
परियन्ति=चलते हैं ।

भाष्य—प्रेय मार्ग में चलने वाले अविवेकी पुरुष जो चारों ओर से अविद्या में फंसे हुए होते हैं वह अपने अविवेक से अपने आपको धीर और पण्डित मानते हुए नाना प्रकार की बल छल वाली क्रियायें करते हैं, ऐसे पुरुषों की गति संसार में ऐसी ही होती है जैसी कि एक अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे की होती है अर्थात् जैसे एक अन्धे के पीछे चलकर अन्य अन्धों को अपने अभीष्टमार्ग का पाना कठिन है इसी प्रकार अविद्या के पीछे चलने वाले अविवेकी पुरुष को अपने लक्ष्य का पाना दुर्घट है ।

सं०—अब उक्त पुरुषों को यमपुरी की प्राप्ति कथन करते हैं :—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वश-मापद्यते मे ॥ ६ ॥ ३५ ॥

पद०—न । साम्परायः । प्रतिभाति । बालम् । प्रमाद्यन्तम् । वित्तमोहेन । मूढम् । अयम् । लोकः । न । अस्ति । परः । इति । मानी । पुनः पुनः । वशम् । आपद्यते । मे ।

अर्थ

वित्तमोहेन=धनरूपी मोह से
मूढम्=मोहग्रस्त
प्रमाद्यन्तं=मद को प्राप्त
बालम्=विवेक रहित पुरुष को
साम्परायः=परलोक का विचार
न, प्रतिभाति=नहीं होता
अयं, लोकः=यही लोक है
परः, नास्ति=परलोक नहीं है
इति=ऐसा
मानी=मानने वाला
पुनः पुनः=बारंबार
मे=मुझ यम के
वशं=वश को
आपद्यते=प्राप्त होता है ।

भाष्य—यम ने कहा कि हे नचिकेता ! जो पुरुष धनादि पदार्थों के मोह से मद को प्राप्त और विवेक रहित हैं उनको परलोक नहीं सूझता उनके विचार में यह संसार ही अनन्त सुख का साधन है, ऐसे लोग मेरे वश में पड़कर बारंबार मृत्यु-रूप दुःख को भोगते हैं अर्थात् अविवेक के कारण बार २ मृत्यु के वशीभूत होते हैं ।

भाव यह है जिसकी दृष्टि में परलोक नहीं वह मन्दकर्मों से नहीं डरता, इसीलिये तज्जन्य मृत्युरूपी दुःख को प्राप्त होता है और लोकापवाद का भय न होने के कारण नाना प्रकार के कुकर्म करके अनेक प्रकार की व्याधियों को प्राप्त होता है यही यम के वशीभूत होने का अर्थ है।

सं०--अब यम नचिकेता के प्रष्टव्य को कथन करता है:—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽ-पि बहवो यन्न विद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥ ३६ ॥

पद०—श्रवणाय। अपि। बहुभिः। यः। न। लभ्यः। शृण्वन्तः अपि। बहवः। यं। न। विद्युः। आश्चर्यः। अस्य। वक्ता। कुशलः। अस्य। लब्धा। आश्चर्यः। ज्ञाता। कुशलानुशिष्टः।

अर्थ

यः=जो परमात्मा
बहुभिः=बहुतों को
श्रवणाय=सुनने के लिये
अपि=भी
न, लभ्यः=प्राप्त नहीं होता
शृण्वन्तः, अपि=सुनते हुए भी
बहवः=अनेक पुरुष
यं=जिस परमात्मा को
न, विद्युः=नहीं जानते
अस्य=इस परमात्मा का
वक्ता=कथन करने वाला
कुशलः=कोई बड़ा निपुण विवेकी ही होता है
कुशलानुशिष्टः=विवेकी पुरुष से शिक्षा पाया हुआ
ज्ञाता=जानने वाला
आश्चर्य्यः=कोई विरला होता है।

भाष्य—बहुत से पुरुष तो शमदमादि साधन सम्पन्न न होने के कारण ब्रह्मविद्या के अधिकारी ही नहीं होते और जो अधिकारी होते हैं वह सुनते हुए भी इसके तत्व को नहीं पा सकते, क्योंकि वेदान्त वाक्यों में निपुण आचार्य्य किसी पूर्ण भाग्यों वाले को ही उपलब्ध होता है सब को नहीं, इसलिये ब्रह्मविद्या के सब श्रोताओं को ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता।

भाव यह है कि जिसका आचार्य्य वेदान्तवाक्यों में निपुण है और जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार किया हुआ है ऐसे आचार्य्य का शिष्य ही ब्रह्मविद्या को लाभ कर सकता है अन्य नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्मवेत्ता आचार्य्य से भिन्न यदि कोई ब्रह्मविद्या का उपदेश करता है तो उसकी निष्फलता कथन करते हैं:—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणु-प्रमाणात् ॥८॥३७॥

पद०—न। नरेण। अवरेण। प्रोक्तः। एषः। सुविज्ञेयः। बहुधा। चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते। गतिः। अत्र। न। अस्ति। अणीयान्। हि अतर्क्यम्। अणुप्रमाणात्।

अर्थ

अवरेण=साधारण
नरेण=पुरुष से
प्रोक्तः=उपदेश किये जाने पर
बहुधा=बारंवार

चिन्त्यमानः=निदिध्यासन किया हुआ भी
एषः=यह आत्मा
सुविज्ञेयः=सुगमता से जानने योग्य
न=नहीं
न अन्यप्रोक्ते=अल्पदर्शी पुरुष के कथन किये हुए
अत्र=इस आत्मतत्व में
गतिः=गमन
न, अस्ति=नहीं होता, क्योंकि वह ब्रह्म
अणुप्रमाणात्=सूक्ष्म से भी
अणीयान्=अतिसूक्ष्म है
हि=इसलिये
अतर्क्यं=तर्क का विषय नहीं

भाष्य—यदि कोई ऐसा पुरुष जिसने आत्मतत्व का साक्षात्कार न किया हो वह इसका उपदेश करे तो ऐसे पुरुष के कथन करने से यह आत्मतत्त्व ज्ञात नहीं हो सकता अर्थात् जो ब्रह्मज्ञान से रहित है उसके उपदेश से आत्मा नहीं जाना जाता, क्योंकि वह आत्मा आकाशादि सूक्ष्म पदार्थों से भी अतिसूक्ष्म है, इसलिये अपनी तर्क से भी पुरुष इसको नहीं पा सकता।

भाव यह है कि इस आत्मतत्व का वक्ता वह होना चाहिये जिसने इसका साक्षात्कार किया हो, अन्य नहीं, "अनन्यप्रोक्ते" के अर्थ अपने २ सम्प्रदाय के अनुसार लोग कई प्रकार से करते हैं, मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ["न अन्यः अनन्यः"]=जो ब्रह्म से भिन्न न हो उसका नाम ["अनन्य"] है, ऐसे ब्रह्मास्मि भाव वाले ब्रह्मवेत्ता द्वारा उपदेश किये हुए आत्मतत्व में गति=संशय विपर्य्यरूप ज्ञान नहीं होता, यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि यहां ब्रह्मास्मिभाव का कोई प्रकरण नहीं और नाही उक्त शब्द के यह अर्थ हैं, इसके अर्थ यह हैं कि ["न अन्यः अनन्यः"=जो अन्य न हो उसका नाम अनन्य है, प्रश्न—किससे अन्य न हो ? उत्तर—जिसका वर्णन पूर्व वाक्य

में है अर्थात् पूर्ववाक्य में ब्रह्मज्ञान से हीन पुरुष का वर्णन है जिसको "अवर" शब्द से कथन किया है उससे जो भिन्न न हो अर्थात् वही हो उसका नाम यहां ["अनन्य"] है, ऐसे पुरुष के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता।

मायावादी इसके दूसरे अर्थ यह करते हैं कि हे शिष्य! तू ब्रह्म से भिन्न नहीं, इस उपदेश के होने पर फिर कोई गति=संशय ज्ञानान्तर नहीं रहता, यह अर्थ भी सर्वथा अर्थाभास है, क्योंकि इसका यहां कोई प्रकरण नहीं, जैसा कि उक्त अर्थ में कथन किया है, और जिन लोगों ने इसके अर्थ यह किये हैं कि ईश्वर के अनन्य भक्त के कथन किये हुए आत्मतत्व उपदेश में संशयविपर्य्यय नहीं होता, इसमें दोष यह है कि "गति" शब्द के अर्थ यहां संशय विपर्य्यय ज्ञान के नहीं किन्तु प्राप्ति के हैं जो पदार्थ से स्पष्ट ज्ञात होते हैं कि अत्र=इस आत्मतत्व में उक्त आचार्य्य से भिन्न के कथन करने पर गति=ज्ञान नहीं होता, क्योंकि यह आत्मतत्व अतर्क्य है अर्थात् केवल अपनी तर्क से नहीं जाना जाता, यद्यपि "गति" शब्द के धात्वर्थ लेने से संशयविपर्य्यय ज्ञान का भी ग्रहण हो सकता है परन्तु गति शब्द का प्रयोग किसी स्थल में भी संशयविपर्य्यय में नहीं देखा जाता किन्तु यथार्थज्ञान अथवा ब्रह्मप्राप्ति में देखा जाता है, जैसा कि ["ब्रह्मावगति"]=ब्रह्म की प्राप्ति, इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है, हमारे अर्थों में और दृढ़ प्रमाण यह है कि अग्रिम श्लोक में अन्य के अर्थ नास्तिक से भिन्न के सब मानते हैं ईश्वर के नहीं, इससे सिद्ध है कि अनन्य के अर्थ जीवब्रह्म की एकता अथवा अनन्यभक्त के लेना ठीक नहीं।

सं०—अब उक्त आत्मतत्व ज्ञान को तर्कागम्य कथन करते हैं—

नैषातर्केणमतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञा-नाय प्रेष्ठ । यान्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ । ३८ ॥

पद०—न । एषा । तर्केण । मतिः । आपनेया । प्रोक्ता । अन्येन । एव । सुज्ञानाय । प्रेष्ठ । याम् । त्वम् । आपः । सत्यधृतिः । वत । असि । त्वादृक् । नः । भूयात् । नचिकेतः । । प्रष्टा ।

अर्थ

प्रेष्ठ=हे प्रियतम नचिकेता
एषा=यह
मतिः=बुद्धि
तर्केण=तर्क से
आपनेया=प्राप्त होने योग्य
न=नहीं
अन्येन, एव=नास्तिक से भिन्न आचार्य्य से ही
प्रोक्ता=कथन की हुई उक्त बुद्धि
सुज्ञानाय=आत्मज्ञान के लिये होती है
सत्यधृतिः=तू सत्य से निश्चय वाला
असि=है
त्वं=तू
यां=जिस बुद्धि को
आपः=प्राप्त है
नचिकेतः=हे नचिकेता
त्वादृक्=तेरे समान
नः=हमसे
प्रष्टा=पूछने वाला
भूयात्=नहीं होगा

भाष्य—"बत" श्लोक में हर्षसूचक अव्यय है, यम ने कहा कि हे नचिकेता यह ब्रह्मविषयिणी बुद्धि तर्क से प्राप्त होने योग्य नहीं किन्तु वेदवक्ता आचार्य्य के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती है अर्थात् हे प्रियतम नचिकेता जिस बुद्धि को तू प्राप्त हुआ है वह शास्त्रवित् आचार्य्य के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं और तेरे जैसा धैर्य्य वाला पुरुष अन्य कोई इसके पूछने वाला भी न होगा ।

भाव यह है कि नचिकेता को बारम्बार हटाने पर भी उसने अपने धैर्य्य को नहीं छोड़ा अर्थात् यम ने बारम्बार नचिकेता को कहा कि तू संसार के सब ऐश्वर्य्य लेले परन्तु इस आत्म-तत्व को मत पूछ, इस प्रकार के प्रलोभन देने पर भी नचिकेता ने एक न मानी, इसी लिये नचिकेता को "सत्यधृति" कहा गया है अर्थात् तेरे जैसा पूछने वाला अन्य कोई नहीं मिलेगा।

सं०—अब यम नचिकेता के वैराग्यभाव से अपनी न्यूनता कथन करता है—

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत् । ततो मया नचिकेत-श्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० । ३९ ॥

पद०—जानामि । अहम् । शेवधिः । इति । अनित्यम् । नहि । अध्रुवैः । प्राप्यते । हि । ध्रुवम् । तत् । ततः । मया । नचिकेतः । चितः । अग्निः । अनित्यैः । द्रव्यैः । प्राप्तवान् । अस्मि । नित्यम् ।

अर्थ

अहं=मैं
शेवधिः=कर्मफलजन्य निधि
अनित्यं=अनित्य है
इति=ऐसा
जानामि=जानता हूँ
हि=निश्चय करके
अध्रुवैः=अनित्य साधनों से
तत्=वह
ध्रुवं=निश्चल पद
न, प्राप्यते=नहीं मिलता
ततः=इसीलिये
मया=मैंने

नचिकेतः=हे नचिकेता तुम्हारे लिये कथन किया है वह
अग्निः=अग्नि
चितः=चयन किया है, इसलिये
अनित्यैः, द्रव्यैः=अनित्य पदार्थों से
नित्यं=नित्य ब्रह्म को
प्राप्तवान, अस्मि=प्राप्त हुआ हूं

भाष्य—यम ने कहा कि हे नचिकेता यह मैं जानता हूं कि काम्ययज्ञों से स्वर्गादि अनित्य पदार्थों की प्राप्ति होती है ब्रह्म की नहीं अर्थात् अनित्य साधनों से नित्य ब्रह्म अप्राप्य है परन्तु फिर भी मैंने काम्ययज्ञ किये जिससे मैं इस यमरूप पद को प्राप्त हुआ।

भाव यह है कि यद्यपि मैं जानता था कि सब निधियें अनित्य हैं परन्तु फिर भी मैंने यज्ञादि कर्म किये और उनके द्वारा इस पद को पाया, हे नचिकेता तूने सांसारिक पदवियों की कुछ परवाह नहीं की, इसलिये तुम में वैराग्य का भाव दृढ़ है अर्थात् सांसारिक पदार्थों को अनित्य समझने के भाव जो तुम में पाये जाते हैं वह मेरे में भी नहीं॥

सं०—अब यम नचिकेता की पुनः प्रशंसा करता है:—

कामस्याप्तिं जगतःप्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यम-भयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वाधृत्या धीरो नचिकेतोऽत्य-स्राक्षीः॥ ११। ४०॥

पद०—कामस्य। आप्तिम्। जगतः। प्रतिष्ठाम्। क्रतोः। अनन्त्यम्। अभयस्य। पारम्। स्तोममहत्। उरुगायम्। प्रतिष्ठाम्। दृष्ट्वा। धृत्या। धीरः। नचिकेतः। अत्यस्राक्षीः।

अर्थ

नचिकेत:=हे नचिकेता तैने
कामस्य=काम्यकर्मों की
आप्तिं=प्राप्ति को
जगत:=जगत् की
प्रतिष्ठां=प्रतिष्ठा को
क्रतो:=यज्ञादि के
अनन्त्यं=अनन्तफल को
अभयस्य=सांसारिक निर्भयता की
पारं=पारभूत काष्ठा को
उरुगायं=जिस पद की अति प्रशंसा है ऐसी
स्तोममहत्=बड़ीस्तुति और
प्रतिष्ठां=प्रतिष्ठा को
दृष्ट्वा=देखकर
धृत्या=धैर्य्य से
अत्यस्राक्षीः=त्याग दिया, अतएव
धीरः=तू धीर है।

भाष्य—यम कहता है कि हे नचिकेता! तुझको सांसारिक बड़ी से बड़ी कामनायें भी नहीं लुभायमान करसकीं अर्थात् तूने जगत् के सब प्रकार के आनन्दों को और सब प्रकार की प्रतिष्ठा को छोड़ा, इस लिये तू धीर है और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है।

सं०—अब यम नचिकेता के पूछे हुए आत्मतत्व को कथन करता है:—

तन्दुर्दर्शंगूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा-धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२।४१॥

पद०—तम्। दुर्दर्शम्। गूढम्। अनुप्रविष्टम्। गुहाहितम्। गह्वरेष्ठम्। पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन। देवम्। मत्वा। धीरः। हर्षशोकौ। जहाति।

अर्थ

धीरः=धीर पुरुष
अध्यात्मयोगाधिगमेन=परमात्मविषयक योग की प्राप्ति से
तं=उस
दुर्दर्शं=बड़े कष्ट से जानने योग्य
गूढं=जो बहुत गहराई में
अनुप्रविष्टं=प्रविष्ट है
गुहाहितं=बुद्धि में स्थित
गह्वरेष्ठं=जिसकी सूक्ष्मता का ज्ञान अत्यन्त गहरा है
पुराणं=सनातन है
देवं=ऐसे देव=परमात्मा को
मत्वा=समझकर
हर्षशोकौ=हर्ष शोक को
जहाति=त्याग देता है।

भाष्य--मृत्यु नचिकेता को आत्मतत्व का उपदेश करता है कि वह परमात्मा अतिसूक्ष्म और सर्वव्यापक होने से दुर्दर्श=बड़े कष्ट और यत्न से जानने योग्य है वह इन्द्रियों का विषय नहीं, केवल अध्यात्मयोग से जाना जाता है, परमात्मविषयक चित्तवृत्तिनिरोध का नाम "[अध्यात्मयोग]" है, इसी योग के द्वारा पुरुष शोक मोह से रहित होता है अन्यथा नहीं।

सं०—अब उक्त आत्मतत्व की प्राप्ति नचिकेता के लिये सुलभ कथन करते हैं:—

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणु-मेतमाप्य। स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये॥ १३।४२।

पद०—एतत्। श्रुत्वा। सम्परिगृह्य। मर्त्यः। प्रवृह्य। धर्म्यम्। अणुम्। एतम्। आप्य। सः। मोदते। मोदनीयम्। हि। लब्ध्वा। विवृतम्। सद्म। नचिकेतसं। मन्ये।

अर्थ

मर्त्यः=पुरुष
एतत्=इस
धर्म्यं=धर्मयुक्त परमात्मा को
श्रुत्वा=सुनकर
सम्परिगृह्य=भले प्रकार ग्रहण तथा
प्रवृह्य=निदिध्यासन करके
एतं=इस
अणुं=सूक्ष्म ब्रह्म को
आप्य=प्राप्त हो
सः=वह
मोदनीयं=आनन्दरूप परमात्मा को
लब्ध्वा=लाभ करके
मोदते=आनन्दित होता है उस आनन्दरूप परमात्मा का
नचिकेतसं=तुझ नचिकेता के लिये
विवृतं, सद्म=खुला हुआ मार्ग
मन्ये=मैं मानता हूँ।

भाष्य—यम ने कहा कि हे नचिकेता ! जिस सूक्ष्म से सूक्ष्म परमात्मा को पुरुष श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा बड़े प्रयत्न से लाभ करके आनन्द को प्राप्त होता है उस परमात्मा का मार्ग मैं तेरे लिये खुला हुआ मानता हूँ अर्थात् तू ऐसा उत्तमाधिकारी है कि जिसके लिए परमात्मप्राप्ति में कोई रुकावट नहीं।

मायावादी "सम्परिगृह्य" आदि शब्दों के यह अर्थ करते हैं कि जब जीव ब्रह्म के साथ अपनी एकता समझ लेता है तब वह आनन्दमय हो जाता है. इसी प्रकार ब्रह्मात्मभाव का मार्ग नचिकेता के लिए भी खुला हुआ है, यह अर्थ इसलिये सङ्गत नहीं कि न तो नचिकेता का यह प्रश्न था कि जीव ब्रह्म कैसे बनता है, और नाही इस बात की उसको जिज्ञासा थी फिर उस के लिये जीवब्रह्म की एकता विवृत सद्म=खुला हुआ द्वार कथन करना ठीक कैसे ? यह अर्थ केवल स्वमायावाद के मण्डनार्थ किये गए हैं वास्तव में जीव ब्रह्म की एकता का यहां गन्ध भी नहीं।

सं०—अब नचिकेता धर्माधर्म=पुण्य पाप से पृथक् करके समझने के लिये परमात्मविषयक प्रश्न करता है:—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृता-कृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्त-त्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥ ४३ ॥

पद०—अन्यत्र । धर्मात् । अन्यत्र । अधर्मात् । अन्यत्र । अस्मात् । कृताकृतात् । अन्यत्र । भूतात् । च । भव्यात् । च । यत् । तत् । पश्यसि । तत् । वद ।

अर्थ

धर्मात्=यज्ञादि कर्तव्य कर्मों से जो
अन्यत्र=पृथक्
अधर्मात्=शास्त्रनिषिद्ध हिंसादि कर्मों से जो
अन्यत्र=पृथक् है
अस्मात्=इस
कृताकृतात्=कार्य्य कारण से जो
अन्यत्र=भिन्न है
भूतात्=भूतकाल से
भव्यात्=भविष्यत् काल से
च=और वर्त्तमान काल से भी
अन्यत्र=अन्य है
यत्=जिसको
पश्यसि=देखते हो
तत्=उसको
वद=कहो ।

भाष्य—नचिकेता कहता है कि हे यम ! मुझको उस पदार्थ का उपदेश करो जो धर्म, अधर्म और उनके शुभाशुभ फल से रहित हो, कार्य्य कारण तथा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालों के बन्धन से रहित हो ।

प्रथमवल्ली में जो नचिकेता का यह प्रश्न था कि मरने के अनन्तर जीव का अस्तित्व कथन करो, उसका और इस प्रश्न

का भेद है, वह प्रश्न जीवविषयक और यह परमात्मविषयक है, इस भेद का कारण यह है कि यम ने जीवात्मा के अस्तित्व-विषयक प्रश्न के उत्तर देने से प्रथम इस बात को सूचित किया है कि हर्षशोक की निवृत्ति किस देव के जानने से होती है, यद्यपि नचिकेता के प्रष्टव्य में स्पष्टतया इस बीज की प्रतीति नहीं तथापि उसका तात्पर्य्य शोक मोह की निवृत्तिरूप फल के लाभ करने का है, इसी अभिप्राय से यम ने नचिकेता के प्रष्टव्य वर के उत्तर में प्रथम ईश्वर का निरूपण किया है इसके अनन्तर जीव के अस्तित्व का वर्णन है।

इसका मुख्य कारण यह है कि जिस पुरुष को परमात्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा नहीं उसका विश्वास जीवात्मा के अस्तित्व पर कदापि नहीं हो सकता, इस कारण प्रथम ईश्वर का वर्णन किया है।

और जो लोग ["अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मा०"] से जीव ईश्वर का साधारण वर्णन लेते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि इसमें चेतनमात्र से अभिप्राय है, यह उनकी भूल है, जीव धर्माधर्म से पृथक् कदापि नहीं हो सकता, यदि यह कहा जाय कि मुक्ति अवस्था में उक्त दोनों से पृथक् होता है, इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था में जीव धर्म से पृथक् नहीं होता, क्योंकि वैदिक लोगों के मत में मुक्ति धर्म का फल है, इससे जीव को धर्माधर्म से भिन्न नहीं कहा जा सकता, और युक्ति यह है कि यदि यहां जीव का वर्णन होता तो आगे के श्लोक में ["सर्वेवेदायत्पदमामनन्ति"] इस वाक्य से उपक्रम करके ओंकार का वर्णन न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि यहां जीव का वर्णन नहीं, और जो मायावादियों ने जीव ईश्वर के वर्णन को यहां मिला दिया है यह उनका अर्थाभास है अथवा यों कहो कि यह उनकी

स्वार्थपरता है, इस प्रकरण को आद्योपान्त देखने से यह बात निस्सन्देह सिद्ध हो जाती है कि इस प्रकरण में ईश्वर का वर्णन है जीव का नहीं, अस्तु मायावादियों के मोह पर हमें यहां इसलिये अनुकम्पा नहीं कि उनका मोह उनकी अनिर्वचनीय मायामोहिनी से छूटना अतिदुर्घट है पर भेदवादी अथवा ईश्वरवादी टीकाकारों पर हमें अत्यन्त अनुकम्पा आती है कि उन्होंने भी मायावादियों का अनुकरण करके इस प्रकरण को मिला जुला दिया है, यहां तक कि ["न जायते म्रियते वा"] इत्यादि श्लोक जो गीता में इस उपनिषद् से उद्धृत किये गये हैं उन पर भी जीवविषयक भाष्य किया है जिससे ईश्वरवादियों का जीवेश्वरभेदरूपी सिद्धान्त सर्वथा निर्बल हो जाता है, हमने अपने ["गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य"] में इस बात को बलपूर्वक सिद्ध किया है कि उक्त श्लोक जीव का वर्णन नहीं करते किन्तु ईश्वर के प्रतिपादक हैं, आशय यह है कि इस उपनिषद् में प्रकरण भेद करके जबतक जीव ईश्वर का वर्णन न बतलाया जाय तबतक जिज्ञासु का मोह कदापि नष्ट नहीं हो सकता ।

सं०—अब परमात्मा का वर्णन करते हैं :—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवी-म्योमित्येतत् ॥ १५ ॥ ४४ ॥

पद०—सर्वे । वेदाः । यत् । पदम् । आमनन्ति । तपांसि । सर्वाणि । च । यत् । वदन्ति । यत् । इच्छन्तः । ब्रह्मचर्य्यम्

चरन्ति । तत् । ते । पदम् । संग्रहेण । ब्रवीमि । ओम् । इति । एतत् ।

अर्थ

सर्वे, वेदाः=चारों वेद
यत्, पदं=जिसके स्वरूप का
आमनन्ति=कथन करते हैं
च=और
सर्वाणि, तपांसि=सारे तप
यत्=जिसको
वदन्ति=कथन करते हैं
यत्=जिसकी
इच्छन्तः=इच्छा करते हुए
ब्रह्मचर्य्यं=ब्रह्मचर्य्य व्रत को
चरन्ति=धारण करते हैं
तत्, पदं=उस पद को
ते=तेरे लिये
संग्रहेण=संक्षेप से
ब्रवीमि=कथन करता हूं
ओम्, इति, एतत्=ओ३म् यह वह पद है

भाष्य—यम नचिकेता को उस पद का उपदेश करता है कि हे नचिकेता ! ऋग, यजु, साम और अथर्व यह चारों वेद जिसका वर्णन करते हैं और ब्रह्मचर्य्यादि व्रत तथा धर्मानुष्ठान जिस पद की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं वह परमात्मा का वाचक "ओ३म्" शब्द है, इसी के वाच्य को उक्त चारों वेद कथन करते हैं, इसी के वाच्य का अनुष्ठान करने के लिये तप किये जाते हैं और इसी के लिये ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण किया जाता है, भाव यह है कि चारों वेदों का लक्ष्य और ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों से अनुष्ठेय पद एकमात्र "ओ३म्" का वाच्य परमात्मा है ।

"ओ३म्" की विशेषरूप से व्याख्या श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक लिखी है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ।

मायावादी इस श्लोक को प्रतीकोपासना में लगाते हैं कि

ओंकाररूपी प्रतीक की उपासना करने से ब्रह्मप्राप्ति होती है, ["प्रतीयते येन स प्रतीकः"]=जिसके द्वारा प्रतीति हो उसका नाम ["प्रतीक"] है, एवं प्रतीक के अर्थ प्रतिमा वा मूर्त्ति के हैं, उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहां यह नहीं कहा जा सकता कि ओंकार ब्रह्म की मूर्त्ति है किन्तु यह ब्रह्म का सर्वोत्तम नाम है, इसी अभिप्राय से यहां सब वेदों का लक्ष्य ओंकार को कहा गया है मूर्त्ति के अभिप्राय से नहीं, यदि मूर्त्ति के अभिप्राय से उक्त कथन होता तो इसी प्रकरण में आगे जाकर इसको ["न जायते म्रियते वा"] इत्यादि वाक्यों से निरूपण न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि ओंकार कोई प्रतीक नहीं, और दृढ़ प्रमाण यह है कि यदि "ओंकार" प्रतीक होता तो ["न प्रतीकेन हि सः"] ब्र० सू० ४।१।४ ["न तस्यप्रतिमास्ति"] यजु० ३२।३ इत्यादिकों में प्रतीकोपासना का निषेध क्यों किया जाता, इससे सिद्ध है कि ओंकार का प्रतीक मानना ठीक नहीं, यह परमात्मा का निज नाम है।

सं०—अब उक्त ओंकार ब्रह्म को अक्षररूप से कथन करते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति
तस्य तत् ॥ १६ ॥ ४५ ॥

पद०—एतत् । हि । एव । अक्षरम् । ब्रह्म । एतत् । एव । अक्षरम् । परम् । एतत् । हि । एव । अक्षरम् । ज्ञात्वा । यः । यत् । इच्छति । तस्य । तत् ।

अर्थ

एतत्=यह
हि=निश्चयपूर्वक
एव=ओ३म् ही
अक्षरं=नाश न होने वाला ब्रह्म है
एतत, एव=यह ही
परं=सर्वोत्तम
अक्षरं=अक्षर है
एतत्, हि एव=इसीलिये ही
अक्षरं=अक्षर को
ज्ञात्वा=जानकर
यः=जो
यत्=जिस अर्थ की
इच्छति=इच्छा करता है
तस्य=उसको
तत्=वही प्राप्त होता है।

भाष्य—"[ओ३म्]" परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है, इसी के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होता है, क्योंकि परमात्मा के वाचक चारों वेदों के मूलभूत ओ३म् को जानकर ही वेद का तत्वज्ञान हो सकता है अन्यथा नहीं, ओंकार का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान है, क्योंकि यह ब्रह्म का वाचक है, इसी अभिप्राय से गीता में भी वर्णन किया है कि :—

ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदांश्च यज्ञाश्च विहिताः पुराः।

गी० १७। ३२

ओ३म्, तत् सत् इन तीन नामों से ही परमात्मा का निर्देश किया जाता है, इसलिये हे नचिकेता ओङ्कार की ही उपासना कर।

सं०—अब उक्त "ओ३म्" को उपास्यभाव से ही सर्वोपरि अवलम्ब कथन करते हैं:—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एत-दालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥४६॥

पद०—एतत् । आलम्वनम् । श्रेष्ठम् । एतत् । आलम्वनम् । परम् । एतत् । आलम्वनम् । ज्ञात्वा । ब्रह्मलोके । महीयते ।

अर्थ

एतत्=यह ओङ्काररूपी
आलम्वनं=सहारा
श्रेष्ठं=श्रेष्ठ है
एतत्=यह
आलम्बनं=आश्रय
परं=सर्वोपरि है
एतत्=इस
आलम्बनं=आलम्बन को
ज्ञात्वा=जानकर ही
ब्रह्मलोके=ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त होकर
महीयते=सर्वपूज्य होता है।

भाष्य—इस श्लोक में ब्रह्मज्ञान के सब साधनों में "ओ३म्" का अवलम्वन सर्वोपरि कथन किया है अर्थात् इसी के साधन द्वारा इसके वाच्य ब्रह्म का अनुभव होता है, यदि "ओ३म्" से अ-उ-म् इस अवयवत्रयात्मक अक्षर का ही ग्रहण होता तो इसको सर्वोपरि अवलम्बन कथन न किया जाता, और जिनके मत में यहां प्रतीकरूप से "ओ३म्" की उपासना का विधान है उनके मत में इसको सर्वोपरि अवलम्बन कथन करना व्यर्थ है, क्योंकि उनके मत में भी प्रतीकोपसाना सर्वोपरि नहीं किन्तु मन्दबुद्धियों के लिये है ब्रह्मज्ञानियों के लिये नहीं, इससे सिद्ध है कि "ओ३म्" ब्रह्म का ही अवलम्वन कथन किया गया है किसी अन्य पदार्थ का नहीं ॥

सं०—अब आत्मा के जन्मादि भावों का निषेध कथन करते हैं:—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यःशाश्वतोऽयम् पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।१८।४७।

पद०—न । जायते । म्रियते । वा । विपश्चित् । न । अयम् । कुतश्चित् । न । बभूव । कश्चित् । अजः । नित्यः । शाश्वतः । अयम् । पुराणः । न । हन्यते । हन्यमाने । शरीरे

अर्थ

विपश्चित्=नित्य चैतन्यस्वरूप सर्वज्ञ
अयं=यह आत्मा
न, जायते=उत्पन्न नहीं होता
वा, म्रियते=न मरता है
कुतश्चित्=किसी उपादान कारण से
न, बभूव=उत्पन्न नहीं हुआ
कश्चित्=कोई कार्य्यान्तर इससे भी उत्पन्न
न=नहीं हुआ
अयं=यह
अजः=अजन्मा है
नित्यः=नित्य है
शाश्वतः=अनादि
पुराणः=सनातन है
शरीरे, हन्यमाने=देह के नाश होने पर
न, हन्यते=यह नाश नहीं होता ।

भाष्य—इस श्लोक में "ओ३म्" का वाच्य परमात्मा के जन्मादि भावों का निषेध किया गया है कि वह आत्मा जन्म मरण से रहित है, उसका कोई कारण नहीं जिससे वह उत्पन्न हुआ हो और न उससे कोई उत्पन्न हुआ है वह अजन्मा, निराकार, निर्विकार सनातन और अनादि है ।

तात्पर्य्य यह है कि वह परमात्मा "अज" होने से किसी का कार्य्य नहीं, उसका "अज" होना ही उसके नित्यत्व में हेतु

है, इस लिये नित्य कहा और नित्य होना शाश्वत में, और शाश्वत होना पुराण में हेतु है अर्थात् उसको अज कथन करने से प्रागभाव और प्रकृति में अतिव्याप्ति जाती थी इसलिए नित्य तथा शाश्वत=एकरस कहा, क्योंकि प्रागभाव अज होने पर भी नित्य और प्रकृति नित्य होने पर भी शाश्वत नहीं, और एकरस कथन करने पर भी कूटस्थ नित्य जीव को स्वरूप में अतिव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है उसकी निवृत्ति के लिए "पुराण" कहा, परन्तु "पुराण" पद के निवेश से उक्त अतिव्याप्ति निवृत्त नहीं हो सकती, क्योंकि जीव भी पुराण है, इसलिए ["न हन्यते हन्यमाने शरीरे"] पद का निवेश किया है।

शरीर के अर्थ यहां प्रकृतिरूपी शरीर के हैं, जैसाकि ['यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्"] बृहदा० ३। ७। ३ इस वाक्य में पृथिवी को शरीर निरूपण किया है, और ["शीर्य्यते इति शरीरम्"]=क्षय होने वाले पदार्थ का नाम ["शरीर"] है, इस व्युत्पत्ति से सिद्ध है कि परमात्मा का प्रकरण है जीव का नहीं ॥

सं०—अब परमात्मा में वैषम्य नैर्घृण्य दोष का परिहार करते हैं:—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न
हन्यते ॥ १६ । ४८ ॥

पद०—हन्ता। चेत्। मन्यते। हन्तुम्। हतः। चेत्। मन्यते। हतम्। उभौ। तौ। न। विजानीतः। न। अयम्। हन्ति। न। हन्यते।

अर्थ

चेत्=यदि कोई
हन्ता=हिंसक
हन्तुं=हनन क्रिया को परमात्मा में
मन्यते=माने और
चेत्=यदि कोई
हतः=हनन किया हुआ
हतं, मन्यते=परमात्मा से मारा हुआ माने तो
तौ, उभौ=यह दोनों
न, विजानीतः=नहीं जानते, क्योंकि
अयं=वह परमात्मा
न, हन्ति=किसी को पूर्व कर्मों के निमित्त से विना नहीं मारता और
न, हन्यते=नाहीं कोई पुरुष विना अपने कर्मों के मारा जाता है।

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि परमात्मा विना निमित्त के किसी को नहीं मारता और न कोई पुरुष विना निमित्त से मरता है, और जो लोग उक्त उपनिषद् के श्लोक का यह अर्थ करते हैं कि न कोई मरता और न कोई मारता है उन के मत में हिंसा को पाप मानना ही सर्वथा दुर्घट है, जीवकृत अदृष्ट के अनुसार फलदाता होने से ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोष नहीं आता।

सं—अब परमात्मा की सूक्ष्मता कथन करते हैं:—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।२०।४६।

पद०—अणोः। अणीयान्। महतः। महीयान्। आत्मा।

अस्य । जन्तोः । निहितः । गुहायाम् । तम् । अक्रतुः । पश्यति । वीतशोकः । धातुप्रसादात् । महिमानम् । आत्मनः ।

अर्थ

आत्मा=ब्रह्म
अणोः, अणीयान्=सूक्ष्म से सूक्ष्म है
महतः, महीयान्=बड़े से भी बड़ा है, वह
अस्य=इस
जन्तोः=जीव के
गुहायाम्=अन्तः करणरूपी गुहा में
निहितः=विराजमान है
तं=उस
आत्मनः=आत्मा की
महिमानम्=महिमा को
धातुप्रसादात्=परमात्मा की कृपा से
अक्रतुः=निष्काम कर्मी और
वीतशोकः=शोकरहित प्राणी
पश्यति=देखता है ।

भाष्य—परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा अणु से भी अणु है और आकाशादि सापेक्ष विभु पदार्थों से भी महान होने से बड़े से बड़ा है, इस प्रकार अणु और महान् का विरोध नहीं अर्थात् इन्द्रियागोचर होने से वह सूक्ष्म से सूक्ष्म कहा जाता है और निरपेक्ष विभु होने से वह बड़े से बड़ा कहा जाता है, उसका देखना योगजसामर्थ्य से ही हो सकता है अन्यथा नहीं ।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि अहंब्रह्मास्मि=मैं ब्रह्म हूं, इस भाव से जीव जब उसको देखता है तब शोकरहित हो जाता है, ["धातु"] के अर्थ वह लोग मन आदि इन्द्रियों के करते हैं कि शरीर के धारक होने से इन्द्रियों का नाम धातु है और उनकी निर्मलता द्वारा जीव परमात्मा को देखता है, यहां धातु के अर्थ इन्द्रिय करना इसलिए ठीक नहीं कि ["सूर्य्या-

चन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्"] ऋग् ८।८।४८।२। इत्यादि मन्त्रों में धारणार्थक "धा" धातु से निष्पन्न "तृच्" प्रत्ययान्त धातृ शब्द का वाच्यार्थ परमात्मा कथन किया है, इसी प्रकार प्रकृत में औणादिक "तुन्" प्रत्ययान्त उक्त धातु से निष्पन्न "धातु" पद का यह अर्थ है कि ["धीयते सर्वमस्मिन् दधातिसर्वं वेति धातुः"]=पदार्थमात्र जिसके आश्रित हो वा जो सबको धारण करे उसका नाम ["धातु"] है, इस प्रकार सबका धारक होने से परमात्मा का नाम "धातु" है इन्द्रियों का नहीं, क्योंकि वह सबको धारण नहीं कर सकते।

कई एक साकारवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जब परमात्मा अपने वास्तविकरूप में है तब सूक्ष्म से सूक्ष्म है और जब अवतारादि सोपाधिरूप में आ जाता है तब बड़े से बड़ा हो जाता है, यह अर्थ आगे के श्लोकों से सर्वथा कट जाता है, क्योंकि आगे शरीर धारण का निषेध और विभुता का वर्णन किया गया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि बड़े से बड़ा होना यहां विभुवाद के अभिप्राय से है शरीरिक स्थूलता के अभिप्राय से नहीं, इस श्लोक में भी प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में व्यापक कथन करने से निराकारवाद स्पष्ट कर दिया, इसलिये साकारवादियों का परमात्मा को स्थूल सिद्ध करना सर्वथा असिद्ध है॥

सं०—अब परमात्मा का निर्विशेषत्व विरोधाभास अलङ्कार द्वारा निरूपण करते हैं:—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदन्देवं मदन्यो ज्ञातु-
मर्हति ॥२१॥ ५० ॥

पद०—आसीनः । दूरम् । व्रजति । शयानः । याति । सर्वतः । कः । तम् । मदामदम् । देवम् । मदन्यः । ज्ञातुम् । अर्हति ।

अर्थ

आसीनः=स्थित हुआ
दूरं, व्रजति=दूरदेश को पहुंचता है
शयानः=लेटा हुआ
सर्वतः=सब ओर
याति=जाता है
तं=उस
मदामदं, देवं=हर्ष और हर्षरहित दोनों रूपों वाले देव को
मदन्यः=मेरे से भिन्न
कः=कौन
ज्ञातुं=जानने को
अर्हति=समर्थ है ।

भाष्य—वह परमात्मा अपनी स्थित सत्ता से सर्वत्र गति करता है इसलिये यह कहा गया है कि वह एक स्थान में ठहरा हुआ ही दूरदेश में जा सकता है, और सर्वव्यापक होने से लेटे हुए के समान वह परमात्मा व्याप्य पदार्थों को सब ओर से घेरे हुए है, इस अभिप्राय से कहा है कि लेटा हुआ सर्वत्र पहुंच सकता है, आनन्दस्वरूप होने से ["मद"] और इन्द्रियजन्य हर्ष के न होने से ["अमद"] कथन किया है, एवंविध परस्पर विरुद्धरूप वाले उस देव को मेरे से भिन्न कौन जान सकता है ।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जाग्रत तथा स्वप्न में एकत्र ठहरा हुआ मन दूर २ जाता है और शयानः=सुषुप्ति में ब्रह्म रूप हुआ २ सर्वत्र व्यापक कहा जाता है और बुद्ध्यादिकों के तादात्म्याध्यास से वह जीव मदवाला है और वास्तव में अमद है, इस अभिप्राय से ["मदामद"] कहा गया है, यद्यपि इनके इन अर्थों में भी परस्पर विरोध का परिहार हो सकता है तथापि इनके यह अर्थ समीचीन नहीं, क्योंकि यह जीव का

प्रकरण नहीं और यदि मदामदरूप से जीव का ही वर्णन होता तो फिर यम उसके स्वरूपज्ञान का अभिमान क्यों करता, क्योंकि आत्मत्वेन जीव तो सबको ज्ञात ही है फिर जीव-विषयक ज्ञातृत्व में क्या अभिमान ? दूसरी बात यह है कि इससे प्रथम श्लोक में जो परमात्मा की कृपा से परमात्मा के दर्शन कथन किये हैं फिर उससे विरुद्ध यहां जीव का वर्णन कैसे ? और इससे आगे के श्लोक में भी परमात्मा का वर्णन है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां यह परमात्मा विषक कथन है जीव विपयक नहीं ॥

सं०—अब परमात्मा के निर्विशेषरूप को स्पष्ट रीति से कथन करते हैं :—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥५१॥

पद०—अशरीरं । शरीरेषु । अनवस्थेषु । अवस्थितम् । महान्तम् । विभुम् । आत्मानम् । मत्वा । धीरः । न । शोचति ।

अर्थ

वह=परमात्मा
शरीरेषु=शरीर धारियों में
अशरीरं=शरीर रहित है
अनवस्थेषु=अनित्य पदार्थों में
अवस्थितं=नित्यरूप से स्थित है
महान्तं=सब से बड़े
विभुं=सर्वव्यापक
आत्मानं=परमात्मा को
मत्वा=जानकर
धीरः=धीर पुरुष
न, शोचति=शोक नहीं करता।

भाष्य—सर्वव्यापक होने से उसको सब शरीरधारियों में "अशरीरी" और परिणामी नित्यप्राकृत पदार्थों में कूटस्थनित्य-

रूपता से स्थित होने के कारण उसको "अवस्थित" कथन किया गया है, ऐसे परमात्मा के ज्ञान से शोकनिवृत्ति होती है अन्यथा नहीं।

और जो लोग परमात्मा का औपाधिक शरीर मानते हैं उनके मत का खण्डन इस श्लोक में स्पष्ट रीति से पाया जाता है और यह बात युक्तिसिद्ध भी है कि परमात्मा का शरीर कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, यदि उसको शरीरी माना जाय तो उस शरीर का निर्माता स्वयं परमात्मा है अथवा कोई अन्य ? यदि अन्य माना जाय तो परमात्मा सर्वकर्त्ता नहीं हो सकता और यदि परमात्मा को ही उस शरीर का निर्माता मानें तो परमात्मा शरीरी होकर निर्माता न रहा फिर शरीर मानने की क्या आवश्यकता ? इसी अभिप्राय से कुमारिलभट्ट ने शरीरी परमात्मा का खण्डन करते हुए यह कथन किया है कि :—

अथ तस्याप्यधिष्ठानं तेनैवेत्यविपश्चितः।
अशरीरो ह्यधिष्ठातानात्मामुक्तात्मवद्भवेत् ॥

अर्थ—यदि परमात्मा अपने शरीर का अधिष्ठाता आप माना जाय तो यह बात ठीक नहीं कि शरीरधारी ही कर्त्ता होता है, यदि अशरीरी कर्त्ता हो सकता है तो फिर शरीर धारण की क्या आवश्यकता ? इत्यादि युक्तियों से परमात्मा का शरीर कदापि निरूपण नहीं हो सकता।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जब जीव अपने आप को ब्रह्म समझ लेता है तब वह शरीर होते हुए भी अशरीरी हो जाता है फिर वह कोई शोक मोह नहीं करता, इस प्रकार इसको जीवपरक लगाया है, यह अर्थ सर्वथा प्रकरण तथा

उपनिषद् के आशय से विरुद्ध हैं, क्योंकि यहां जीव को ब्रह्म बनाने का कोई प्रकरण नहीं।

सं०—अब परमात्मा की प्राप्ति का उपाय कथन करते हैं:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूᳬस्वाम्॥ २३। ५३॥

पद०—न। अयम्। आत्मा। प्रवचनेन। लभ्यः। न। मेधया। न। बहुना। श्रुतेन। यम्। एव। एषः। वृणुते। तेन। लभ्यः। तस्य। एषः। आत्मा। वृणुते। तनूम्। स्वाम्।

अर्थ

अयं=यह	यं, एव=जिसको ही
आत्मा=परमात्मा	वृणुते=स्वीकार करता है
प्रवचनेन=पठन पाठन से	तेन=उससे
न लभ्यः=प्राप्त नहीं होता	लभ्यः=प्राप्त किया जाता है
मेधया=बुद्धि से	एषः, आत्मा=यह आत्मा
न=नहीं मिलता	तस्य=उसके लिये
बहुना, श्रुतेन=बहु शास्त्रों के सुनने से भी	स्वां, तनूम्=अपने यथार्थ स्वरूप को
न=नहीं जाना जाता	वृणुते=प्रकाश करता है।
एषः=वह परमात्मा	

भाष्य—वह पूर्ण परमात्मा जो इस ब्रह्माण्ड के रोम २ में व्यापक हो रहा है वह पढ़ने पढ़ाने तथा सुनने सुनाने से उपलब्ध नहीं होता और नाही केवल तर्क से प्राप्त होता है, वह

उसी को प्राप्त होता है जिसको पात्र=अधिकारी समझता है, जो शमदमादि सम्पन्न होकर उस परमात्मा की ओर जाता है उसके हृदय में वह अपने आनन्दस्वरूप का प्रकाश कर देता है अर्थात् उसी को परमात्मज्ञान होता है अन्य को नहीं।

मायावादी इस श्लोक में भी अपने आपको ब्रह्म समझने वाले के लिये ही आत्मत्वेन ब्रह्मप्राप्ति मानते हैं अर्थात् नित्यप्राप्त की प्राप्ति ही ज्ञानद्वारा कथन की जाती है, यदि इनके उक्तार्थ के अभिप्राय से यह श्लोक होता तो अग्रिम श्लोक में दुश्चरित का निषेध करके शमदमादिसम्पन्न को ब्रह्मप्राप्ति न कथन की जाती, इससे सिद्ध है कि उक्त उपायों वाला पुरुष ही उसको प्राप्त हो सकता है अन्य नहीं

सं०—यदि प्रवचनादिकों से परमात्मा नहीं मिलता तो किन साधनों से मिलता है ? उत्तर—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैन-
माप्नुयात् ॥ २४ ॥ ५३ ।

पद०—न । अविरतः । दुश्चरितात् । न । अशान्तः । न । असमाहितः । न । अशान्तमानसः । वा । अपि । प्रज्ञानेन । एनम् । आप्नुयात् ।

अर्थ

दुश्चरितात्=पापकर्मों से
न, अविरतः=जो हटा नहीं है वह
एनं=इस परमात्मा को
न=प्राप्त नहीं होता
अशान्तः=इन्द्रियाराम चाहने

वाला भी
न=नहीं पा सकता
असमाहितः=विक्षिप्तचित्त वाला भी
न=नहीं पाता
वा=और
अशान्तमानसः=अणिमादि ऐश्वर्य्य चाहने वाला अर्थात् जिसका मन तृष्णा में फंसा हुआ है वह
अपि=भी नहीं प्राप्त हो सकता
प्रज्ञानेन=यथार्थज्ञान से पुरुष उसको
आप्नुयात्=प्राप्त होता है

भाष्य हिंसा, स्तेय, दुराचार, इन्द्रियाराम और अनृत आदि व्यसनों में फंसा हुआ पुरुष परमात्मा को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, इन्द्रियारामी तथा चञ्चलचित्त वाला भी उसको नहीं पा सकता, बाह्येन्द्रियों को विषयों से रोककर भी जिसकी वासनारूप तृष्णा नहीं हटी अर्थात् जिसका मन शान्त नहीं हुआ वह भी परमात्मा को नहीं पा सकता, शमदमादि साधनों से समाहित चित्त वाला ही परमात्मज्ञान का अधिकारी होता है अर्थात् केवल यथार्थ ज्ञान से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं।

सं० – अब उक्त दुराचारी पुरुष के लिये परमात्मा के भयप्रदरूप का वर्णन करते हैं –

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम् । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥ ५४ ।

पद० – यस्य । ब्रह्म । च । क्षत्रं । च । उभे । भवतः । ओदनम् । मृत्युः । यस्य । उपसेचनम् । कः । इत्था । वेद । यत्र । सः ।

अर्थ

यस्य=जिस परमात्मा के
ब्रह्म=ब्राह्मण
च=और
क्षत्रं=क्षत्रिय
उभे=दोनों
ओदनं=भात
भवतः=हैं
च=और
मृत्युः=मृत्यु
यस्य=जिसका
उपसेचनं=शाकस्थानीय है
सः=वह परमात्मा
यत्र=जिस स्थान में
इत्था=साक्षात्काररूप से स्थित है उसको
कः, वेद=कौन जान सकता है

भाष्य—वह कालरूप परमात्मा जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि प्राणीमात्र भात स्थानीय हैं और मृत्यु जिसका शाकस्थानीय है जो इस प्रकार अहर्निश इस चराचर जगत् का भक्षण करता है उसका दुराचारी तथा इन्द्रियारामी पुरुष इत्थंरूप से कदापि साक्षात्कार नहीं कर सकता अर्थात् जिस पुरुष को परमात्मा के उक्त रूप का ज्ञान है और जो यह जानता है कि प्राणीमात्र उसकी सत्ता में स्थिर है और इस चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने वाला, सबको स्वनियम में रखने वाला, सबका भक्षक एकमात्र परमात्मा है वह कदापि उसके नियम से बाहर नहीं जा सकता।

तात्पर्य्य यह है कि मृत्यु=यम मानो मृत्युकाल में कहता है कि उक्त रूप को जानने वाला कोई विरला ही है, मृत्युकाल में इस चराचर के भक्षकरूप परमात्मा का प्राणीमात्र ध्यान धर्त्ता है उस समय नास्तिक से नास्तिक भी परमात्मा के भावों से भयभीत होकर सिर झुकाता है और ऐसे ही भावों के भरोसे अपने आत्मा को शान्ति देता है।

द्वितीया वल्ली समाप्ता

। अथ तृतीयावल्ली प्रारभ्यते ।

सं०—अब जीवात्मा और परमात्मा का भेद कथन करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

पद०—ऋतम् । पिबन्तौ । सुकृतस्य । लोके । गुहाम् । प्रविष्टौ । परमे । परार्द्धे । छायातपौ । ब्रह्मविदः । वदन्ति । पञ्चाग्नयः । ये । च । त्रिणाचिकेताः ।

अर्थ

परमे=सर्वोत्तम
परार्द्धे=हृदयरूपी आकाश में तथा
गुहां=बुद्धि में
प्रविष्टौ=प्रविष्ट
लोके=शरीररूपी लोक में
सुकृतस्य=अपने किये हुए शुभकर्मों के
ऋतं=फल को
पिबन्तौ=भोगते हुए
छायातपौ=छाया और धूप के समान
ब्रह्मविदः=ब्रह्म के जानने वाले
वदन्ति=कहते हैं
च=और
ये=जो
त्रिणाचिकेतः=तीनबार जिन्होंने नाचिकेताग्नि का चयन किया है ऐसे
पञ्चाग्नयः=पञ्चयज्ञों के करने वाले भी ऐसा ही कथन करते हैं

भाष्य—इस श्लोक में छाया और आतप के समान जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद वर्णन किया है अर्थात् पुरुष के हृदया-

काश और बुद्धि में छाया=अन्धकार और आतप=प्रकाश के तुल्य जीवात्मा और परमात्मा दोनों वास करते हैं, इस भेद को कर्मकाण्डी तथा ज्ञानी दोनों प्रकार के पुरुष तात्विक मानते हैं, द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषित् इन पांचों में जिन्होंने अग्निहष्टिᐩकी है उनका नाम "[पञ्चाग्नि]" और तीनवार जिन्होंने नाचिकेताग्नि का चयन किया है उनका नाम "[त्रिणाचिकेता]" है, इन कर्मकाण्डियों से ब्रह्मवेत्ता को "[ब्रह्मवित्]" शब्द से कथन किया है, पुण्यफल का भोक्ता केवल जीव है ईश्वर नहीं परन्तु यहां उपचार से ईश्वर को भी भोक्ता कथन किया है जैसा कि "[छत्रिणोयान्ति]"=छातेवाले जाते हैं, जिस प्रकार इस स्थल में छाते रहित पुरुषों में छाते का अन्वय गौण है मुख्य नहीं इसी प्रकार यहां परमात्मा में भोक्तृत्व गौण है मुख्य नहीं।

मायावादी इस भेद को औपाधिक मानते हैं, उनका कथन है कि यहां "तत्, त्वं" पद का भेदरूप से निरूपण किया है और अन्यत्र अखण्डार्थ में एकत्व सिद्ध किया है, उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि इस तृतीयवल्ली के अन्त तक किसी स्थल में भी इनके अखण्डार्थ का निरूपण नहीं, इससे स्पष्ट है कि व्याख्यानाभास से यह अपने अद्वैतमत की सिद्धि करते हैं वास्तव में जीवब्रह्म की एकता का अंश भी नहीं, इसी श्लोक को लक्ष्य रखकर "[गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्]" ब्र०सू० १।२।११ में कथन किया है कि बुद्धि में जीवात्मा और परमात्मा दोनों प्रविष्ट हैं, क्योंकि "[ऋतं पिबन्तौ]" इत्यादि वाक्यों में ऐसा ही पाया जाता है।

ᐩ इसका व्याख्यान छान्दोग्य में विस्तारपूर्वक करेंगे।

सं०—अब कर्म और ज्ञान का समसमुच्चय कथन करते हैं:—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ।२।

पद०—यः । सेतुः । ईजानानां । अक्षरं । ब्रह्म । यत् । परम् । अभयं । तितीर्षतां । पारं । नाचिकेतं । शकेमहि ।

अर्थ

यः=जो अग्नि
ईजानानां=कर्मी लोगों का
सेतुः=सेतु है उस
नाचिकेतं=नाचिकेताग्नि को
शकेमहि=हम जानें और
यत्=जो
पारं=संसारसागर से पार
तितीर्षतां=तरने की इच्छा करने वालों का
अभयं=भयरहित साधन है उस
परं=सर्वोपरि
अक्षरं=नाशरहित
ब्रह्म=परमात्मा को भी हम जानें ।

भाष्य—उक्त श्लोक में इस संसारसागर से पार होने के लिये दो साधन कथन किये हैं एक यज्ञादि कर्मकाण्ड जो सेतु के समान उक्त सागर से पार करने वाला है और दूसरा ज्ञानकाण्ड जो परमात्मा की प्राप्ति कराता है अर्थात् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड यह दोनों संसाराम्बुधि से पार करके परमात्मप्राप्ति के साधन कथन किये हैं अन्य नहीं, इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि कर्म और ज्ञान का क्रमसमुच्चय नहीं किन्तु समसमुच्चय है ।

भाव यह है कि पुरुष कर्म और ज्ञान इन दोनों साधनों द्वारा ही संसारसागर से पार हो सकता है अन्यथा नहीं ॥

सं०—अब जीवात्मा को देहेन्द्रियसंघात का स्वामी कथन करते हैं:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

पद०—आत्मानं । रथिनं । विद्धि । शरीरं । रथं । एव । तु । बुद्धिं । तु । सारथिं । विद्धि । मनः । प्रग्रहं । एव । च ।

अर्थ

आत्मानं=आत्मा को
रथिनं=रथी
विद्धि=जान
तु=और
शरीरं=शरीर को
एव=निश्चय करके
रथं=रथ जान
तु=और
बुद्धिं=बुद्धि को
सारथिं=सारथि
विद्धि=जान
च=और
एव=निश्चय करके
मनः=मन को
प्रग्रहं=रासें जान ।

भाष्य—इस श्लोक में रथ के अलङ्कार से शरीर का वर्णन किया है अर्थात् यह शरीररूपी रथ है जिसका सारथि बुद्धि है, मन रासें हैं और आत्मा जिसमें सवार है ।

भाव यह है कि उसी रथी का रथ ठीक चलता है जिसका बुद्धिरूपी सारथि और मन रूपी रासें ठीक हों ।

सं०—अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।

**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्या-
हुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥**

पद०—इन्द्रियाणि । हयान् । आहुः । विषयान् । तेषु । गोच-
रान् । आत्मेन्द्रियनोयुक्तं । भोक्ता । इति । आहुः । मनीषिणः ।

अर्थ

इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को
हयान्=घोड़े
आहुः=कथन किया है
तेषु=उन इन्द्रियों में
विषयान्=शब्द, स्पर्शादि विषयों को
गोचरान्=मार्ग कहते हैं
मनीषिभिः=मननशील पुरुष
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं= शरीर इन्द्रिय तथा मन इन तीनों से युक्त आत्मा को
भोक्ता=भोगने वाला
इति, आहुः=कथन करते हैं ।

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि इस शरीररूपी रथ के इन्द्रिय अश्व स्थानीय हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच रथ के चलने की भूमि है और शरीर, इन्द्रिय तथा मन तीनों से युक्त आत्मा को भोक्ता कथन किया गया है ।

भाव यह है कि वह आत्मा जिसका शरीर ब्रह्मचर्य्यादिव्रतों से आरोग्य, अभक्ष्य पदार्थों के त्याग से बुद्धि शुद्ध, सत्यादि व्रतों से मन निर्मल और इन्द्रियगण जिसके वशीभूत हैं वह पुरुष निर्भयता से अपने लक्ष्य को प्राप्त होता है ।

मायावादी उक्त श्लोक में भोक्ता के अर्थ चिदाभास के करते हैं, आभासवाद की रीति से ब्रह्म के जीव बनने को ["चिदा-भास"] कहते हैं, इनके मत में उक्त रीति से ब्रह्म जीव बन जाता है, यह अर्थ यहां सङ्गत नहीं, क्योंकि इस प्रकरण में ब्रह्म को

जीव भाव से निरूपण नहीं किया किन्तु अनादि काल से जीव को ब्रह्म से भिन्न निरूपण किया गया है ॥

सं०—अब असंयमी पुरुष का कथन करते हैं:—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

पद०—यः। तु। अविज्ञानवान्। भवति। अयुक्तेन। मनसा। सदा। तस्य। इन्द्रियाणि। अवश्यानि। दुष्टाश्वाः। इव। सारथेः।

अर्थ

यः, तु=जो तो	तस्य=उसके
अविज्ञानवान्=विषयों में लम्पट अज्ञानी पुरुष	इन्द्रियाणि=इन्द्रिय
अयुक्तेन, मनसा=संशय ग्रस्त मन से	सारथेः=सारथि के
सदा=सदा वर्त्तमान	दुष्टाश्वाः; इव=दुष्ट घोड़ों के समान
भवति=होता है	अवश्यानि=वश में नहीं होते।

भाष्य—अज्ञानी पुरुष जिसकी चित्तवृत्ति विषयों में फंसी हुई है और जिसका मन अनवस्थित है उसके इन्द्रिय चंचल दुष्ट घोड़ों के समान उसको विषयों का शिकार बना देते हैं अर्थात् जो शमदमादि साधनों से रहित अज्ञानी है वह विषयों में लम्पट हो कर इसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे दुष्ट घोड़ों वाले रथ का रथी नाश को प्राप्त होता है, इसलिये पुरुष को सदा शमद-

मादिसाधन सम्पन्न होना चाहिये ताकि उसकी इन्द्रिय वशीभूत रहें और वह किसी अनर्थ को प्राप्त न हो ॥

सं०—अब संयमी पुरुष का कथन करते हैं:—

**यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव
सारथेः ॥ ६ ॥**

पद०—यः । तु । विज्ञानवान् । भवति । युक्तेन । मनसा । सदा । तस्य । इन्द्रियाणि । वश्यानि । सदश्वाः । इव । सारथेः ।

अर्थ

यः, तु=जो तो
विज्ञानवान्=शमदमादिसम्पन्न
युक्तेन, मनसा=अभ्यास तथा वैराग्य से मन को जीतने वाला
सदा=सदा युक्त
भवति=होता है
तस्य=उसके
इन्द्रियाणि=इन्द्रिय
सारथेः=सारथि के
सदश्वाः, इव=शिक्षित घोड़ों के समान
वश्यानि=वश में होते हैं ।

भाष्य—शमदमादि सम्पन्न होने के कारण जिसका मन सब ओर से हटकर परमार्थ में युक्त हो गया है उसके इन्द्रिय शिक्षित घोड़ों के समान उसको अपने लक्ष्य स्थान पर लेजाते हैं अर्थात् विज्ञानी पुरुष शिक्षित घोड़ों वाले सारथि के समान अपनी इन्द्रियों को सदा वशीभूत रखने के कारण किसी अनर्थ को प्राप्त नहीं होता ।

सं०—अब असंयमी पुरुष के लिये संसार की प्राप्ति कथन करते हैं:—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।७।

पद०—यः । तु । अविज्ञानवान् । भवति । अमनस्कः । सदा । अशुचिः । न । सः । तत् । पदं । आप्नोति । संसारं । च । अधिगच्छति ।

अर्थ

यः, तु=जो पुरुष तो
अविज्ञानवान्=विवेक रहित अज्ञानी
अमनस्कः=अवशीकृत मन वाला
सदा=सदा
अशुचिः=अपवित्र
भवति=होता है
सः=वह
तत्, पदं=ब्रह्म के स्वरूप को
न, आप्नोति=प्राप्त नहीं होता
च=और
संसारं=जन्म मरणरूप संसार को
अधिगच्छति=प्राप्त होता है।

भाष्य—जिसका मन वशीभूत नहीं है और बुरे संस्कारों से जिसके भाव मलिन होरहे हैं ऐसा विवेकशून्य मलिनात्मा पुरुष परमात्मा को प्राप्त नहीं होता किन्तु इस संसाररूपी जन्म मरणरूप चक्र में ही घूमता रहता है।

सं०—अब संयमी पुरुष की गति कथन करते हैं:—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कःसदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।८।

पद०—यः । तु । विज्ञानवान् । भवति । समनस्कः । सदा शुचिः । सः । तु । तत् । पदं । आप्नोति । यस्मात् । भूयः । न । जायते ।

अर्थ

यः, तु=जो तो	सः, तू=वही
विज्ञानवान्=विवेकी	तत्, पदं=परमात्मा के स्वरूप को
समनस्कः=निरुद्धमनवाला	आप्नोति=प्राप्त होता है
सदा=सर्वदा	यस्मात्=जिससे
शुचिः=पवित्रभावयुक्त	भूयः=फिर
भवति=होता है	न, जायते=उत्पन्न नहीं होता

भाष्य—जो इस चञ्चल मन को अपने वश में कर लेता है अर्थात् निगृहीत मन वाला है, जिसके भाव शुद्ध होगये हैं, ऐसा विवेकी पुरुष आत्मशुद्धि के कारण परमात्मा को प्राप्त होकर फिर जन्म मरण रूप चक्र में नहीं पड़ता किन्तु मुक्ति अवस्था को प्राप्त होता है ।

और जो लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि वह ब्रह्म बन जाता है इसलिये फिर नहीं जन्मता, उनसे प्रष्टव्य है कि जब वह ब्रह्म बना हुआ जीवभाव को प्राप्त होगया तो फिर अब ब्रह्म बनकर जीवभाव को क्यों न प्राप्त होगा ।

मायावादियों का सिद्धान्त है कि पहले एक ब्रह्म था वही जीवभाव को प्राप्त होकर उसी ब्रह्म के अभेददर्शन से मुक्ति अवस्था में फिर ब्रह्म बन गया, फिर अब के ब्रह्म बने हुए जीव की पुनरावृत्ति न होने में क्या हेतु अर्थात् जैसे माया ने पहिले ब्रह्म को जीव बना दिया तो अब उस मुक्त जीवरूप ब्रह्म को फिर जीव क्यों न बनायेगी ? यदि यह कहा जाय कि माया अनादि सान्त होने से मुक्त पुरुष ने ज्ञानद्वारा उसका अन्त कर दिया इसलिये अब उसको जीव नहीं बना सकती ? इसका उत्तर यह है कि क्या शुद्ध ब्रह्म के स्वरूपभूत ज्ञान से उसका पहिले अन्त नहीं हुआ था, क्योंकि संसार तो प्रवाह रूप से

अनादि है फिर उसका अन्त आज तक क्यों नहीं हुआ, यदि यह कहा जाय कि वृत्तिज्ञान माया का नाशक है स्वरूपभूत ज्ञान नहीं तो उनका यह कथन ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि लकड़ियों से प्रदीप्त की हुई तुच्छ अग्नि अन्धकार का विरोधी है तेजोराशी सूर्य्य अन्धकार का विरोधी नहीं।

भाव यह है कि मुक्ति अवस्था को प्राप्त हुए जीव की पुनरावृत्ति होना युक्ति सिद्ध है जैसाकि (१) मुक्ति एक अवस्था है और अवस्था का अन्त होना आवश्यक है (२) जब ब्रह्मभाव ही मोक्ष है तो ब्रह्म का मायावादियों के मत में अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होकर संसाररूप होना एक स्वाभाविक गुण है इसलिये भी पुनरावृत्ति आवश्यक है। (३) सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य आदि मुक्तियों के मानने वाले भेदवादियों के मत में मुक्ति इसलिये नित्य नहीं कि इनके मत में मुक्त जीव परमात्मा के राज्य में रहता है और उसका उस पर पूर्णरीति से स्वत्व है और उसकी भी परमात्मा में पूर्ण भक्ति है तो फिर यदि वह परमात्मा के नियमानुकूल आचार्य्यरूप से वेदों के उद्धार करने के लिये पुनः २ आवे तो इसमें क्या हानि? एवंविध तर्कों से पाया जाता है कि जीव की मुक्ति अवस्था से पुनरावृत्ति आवश्यक है।

सं०—अब ज्ञानी पुरुष को ब्रह्मपद की प्राप्ति कथन करते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः
परमं पदम् ॥ ६ ॥

पद०—विज्ञानसार्थिः । यः । तु । मनःप्रग्रहवान् । नरः । सः । अध्वनः । पारं । आप्नोति । तत् । विष्णोः । परमं । पदम् ।

अर्थ

तु=जो
नरः=पुरुष
विज्ञानसारथिः=संस्कृत बुद्धि रूप सारथिवाला है और
मनःप्रग्रहवान्=संस्कृत मन रूपी रासें वाला है
सः=वह पुरुष
अध्वनः=संसाररूपी मार्ग के
पारं=पार को
विष्णोः=व्यापक परमात्मा के
परमं=सर्वोपरि
तत्, पदं=उस प्राप्य स्थान को
आप्नोति=प्राप्त होता है ।

भाष्य—जो विज्ञानी पुरुष शुद्धबुद्धिरूपी सारथि रखता हुआ शुद्धमनरूपी रासों को अपने अधीन रखता है अर्थात् जो विवेक को अपना सारथि बनाकर मनरूपी रासों को दृढ़ता से पकड़े हुए है वह पुरुष इस संसार मार्ग से होकर विष्णु=परमात्मा के परम पद को प्राप्त होता है ।

सं०—अब निम्नलिखित दो श्लोकों में उस परमपद की पराकाष्ठा कथन करते हैं:—

इन्द्रिभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥

पद०—इन्द्रियेभ्यः । पराः । हि । अर्थाः । अर्थेभ्यः । च । परं । मनः । मनसः । च । परा । बुद्धिः । बुद्धेः । आत्मा । महान् । परः ।

अर्थ

इन्द्रियेभ्यः=भौतिक इन्द्रियों से	च=और
हि=निश्चय करके उनके	मनसः=मन से
अर्थाः=शब्दादिविषय	बुद्धिः=बुद्धि
पराः=सूक्ष्म हैं	परा=सूक्ष्म है
च=और	बुद्धेः=बुद्धि से
अर्थेभ्यः=उनके विषयों से	महान्, आत्मा=महत्तत्व
मनः=मन	परः=सूक्ष्म है।
परं=सूक्ष्म है	

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः।११।

पद०—महतः। परं। अव्यक्तम्। अव्यक्तात्। पुरुषः। परः। पुरुषात्। न। परं। किञ्चित्। सा। काष्ठा। सा। परागितः।

अर्थ

महतः=महत्तत्व से	किञ्चित्=कुछ भी
अव्यक्तं=प्रकृति	न=नहीं है
परं=सूक्ष्म है	सा=वही
अव्यक्तात्=प्रकृति से	काष्ठा=अवधि=हद है और
पुरुषः=परमात्मा	सा=वही
परः=सूक्ष्म है	परागितिः=अन्तिम अवधि है,
पुरुषात्=परमात्मा से	उससे आगे किसी की गति
परं=सूक्ष्म	अथवा सूक्ष्मता नहीं।

भाष्य—उक्त दोनों श्लोकों में परमात्मा को सब से सूक्ष्म कथन किया गया है अर्थात् परापरभाव से सब सांसारिक-

तत्त्वों को परमात्मा से अपर=उरे और परमात्मा को सब से पर=परे=परमकाष्ठारूप से वर्णन किया है कि घ्राण, रसन, चक्षुः, श्रोत्र और त्वक् इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से इनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध परे हैं, इन विषयों की अपेक्षा मन परे है, मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि की अपेक्षा उसका महत्तत्व और महत्तत्व से भी उसका कारण प्रकृति परे है और उस प्रकृति से भी पुरुष बहुत सूक्ष्म है, परमात्मा से परे वा सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं वही अन्तिम सीमा है।

तात्पर्य्य यह है कि सर्वोपरि कारण परमात्मा है और वह सब से परे है और उससे उरे सब पदार्थों का कारण प्रकृति है, इसलिये वह कार्य्यमात्र से परे है, सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम ["प्रकृति"] है, अन्य सब कार्य्यों का कारण महत्तत्व है और वह मन, बुद्धि से परे है, पांच इन्द्रियों के उक्त पांच विषय इन्द्रियों से परे हैं, इस परा-परभाव का मुख्य प्रयोजन परमात्मा को सर्वोपरि कथन करना है अर्थात् जो पुरुष परमात्मा की सूक्ष्मता जानना चाहे वह इस परापरभाव से जानने का यत्न करे।

सं—ननु, जब परमात्मा इतना सूक्ष्म है तो उसको पुरुष कैसे बुद्धिस्थ कर सकता है ? उत्तरः—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।१२।

पद०—एषः। सर्वेषु। भूतेषु। गूढात्मा। न। प्रकाशते। दृश्यते। तु। अग्र्यया। बुद्ध्या। सूक्ष्मया। सूक्ष्मदर्शिभिः।

पदार्थ

सर्वेषु, भूतेषु=सब भूतों=पदार्थों में
एषः=यह
गूढात्मा=छिपा हुआ आत्मा
न, प्रकाशते=प्रकाशित नहीं होता=स्थूल दृष्टि से नहीं देखा जाता
तु=किन्तु
अग्र्यया=वेदविषयणी तीव्र
सूक्ष्मया=सूक्ष्म
बुद्ध्या=बुद्धि द्वारा
सूक्ष्मदर्शिभिः=सूक्ष्मदर्शियों से
दृश्यते=देखा जाता है।

भाष्य—उक्त श्लोकों में परापर भाव से जिस परमात्मा को सर्वोपरि निरूपण किया गया है वह व्यापक भाव से सब स्थलों में गुप्त है, जिसकी वृत्ति बाह्य विषयों में लगी हुई है उसको वह अन्तरात्मा नहीं दीखता, और जो लोग वेदवाक्यजन्य बोध से सूक्ष्म बुद्धि वाले हैं उनको व्याप्यव्यापक भाव से प्रतीत होता है अर्थात् तत्वदर्शियों से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा जाना जाता है, ऐसे पुरुषों को परमात्मा के अस्तित्व में कदापि सन्देह नहीं होता, परमात्मा के अस्तित्व में वही निस्सन्देह हो सकते हैं जिन्होंने उक्त परापर भाव से परमात्मा के भावों को सर्वव्यापक समझा हुआ है अन्य नहीं।

सं०—अब परमात्मा के जानने का प्रकार कथन करते हैं:—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

पद०—यच्छेत्। वाक्। मनसी। प्राज्ञः। तत्। यच्छेत्।

ज्ञाने । आत्मनि । ज्ञानं । आत्मनि । महति । नियच्छेत् । तत् । शान्ते । आत्मनि ।

अर्थ

प्राज्ञः=जिज्ञासु
वाक्=वाणी को सब ओर से हटाकर
मनसि=मन में
यच्छेत्=लय करदे और
तत्=उस मन को
ज्ञाने, आत्मनि=ज्ञान के साधन बुद्धि में
यच्छेत्=लय करदे
ज्ञानं=बुद्धि को
महति, आत्मनि=उसके कारण महत्तत्व में
नियच्छेत्=लय करदे
तत्=उस महत्तत्व को
शान्ते, आत्मनि=शान्तरूप परमात्मा में
यच्छेत्=लय कर देवे ।

भाष्य--इस श्लोक में जिज्ञासु के प्रति अध्यात्मयोग जिसको औपनिषद उपासना भी कहते हैं उसका यह क्रम कथन किया है कि प्रथम वाणी को सब ओर से हटाकर मन में लय करदे और फिर मन को बुद्धि में ठहरावे, बुद्धि को महत्तत्व में और महत्तत्व को उस शान्तस्वरूप परमात्मा में जहां सारे विकार और उपाधियें शान्त हो जाते हैं ठहरावे ।

तात्पर्य्य यह है कि जब जिज्ञासु ध्येय वस्तु का ध्यान करता है उस समय जिस वाणी से ध्येय का निरूपण करता है उस वाणी को ऐसी सूक्ष्म करदे कि वह बाह्य व्यापारों से हटकर मन=मनन रूप हो जाय और उस बाह्यज्ञान=अहङ्कार रूप ज्ञान को उसके कारण महत्तत्व में लीन करदे और उस महत्तत्व=सूक्ष्म-भूत ज्ञानमात्र के बीज को शान्ताम्बुधि निखिलकल्याण गुणाकर परमात्मा में लय करदे ।

भाव यह है कि वही उपासक परमात्मज्ञान का अधिकारी हो सकता है जो मन वाणी से परे परमात्मा को देखता हुआ और वाणी, मन तथा बुद्धि इनमें से एक २ को छोड़ता हुआ अपने स्वरूपभूत ज्ञान का अनुभव करता है और फिर उस स्वरूपभूत ज्ञान से परमात्मा के शान्त्यादि गुणों को लाभ करके निश्चल और सर्वथा निस्तब्ध होता है।

सं० अब परमात्मप्राप्ति को अत्यन्तपुरुषार्थसाध्य कथन करते हैं :—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं
पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

पद०—उत्तिष्ठत। जाग्रत। प्राप्य। वरान्। निबोधत। क्षुरस्य। धारा। निशिता। दुरत्यया। दुर्गम्। पथः। तत्। कवयः। वदन्ति।

अर्थ

हे मुमुक्षु जनो
उत्तिष्ठत=उठो
जाग्रत=जागो
वरान्=श्रेष्ठ विद्वानों को
प्राप्य=प्राप्त होकर
निबोधत=तत्त्वज्ञान से युक्त होओ
निशिता=तीक्ष्ण
दुरत्यया=अतिकठिन
क्षुरस्य, धारा=क्षुरे की धार के समान
कवयः=विद्वान् लोग
तत्=उस
पथः=मार्ग को
दुर्गं=कठिनता से प्राप्त होने योग्य
वदन्ति=कहते हैं।

भाष्य—हे मुमुक्षुजनो ! उस तत्वज्ञान अर्थात् परमात्मप्राप्ति

के लिये उठो, जागो श्रेष्ठ विद्वानों के उपदेश से ज्ञान को बढ़ाओ, क्योंकि सान पर चढ़े हुए छुरे की तीक्ष्ण धार के समान परमात्म प्राप्ति बड़ी दुर्गम और कठिन है, इसमें कोई विरला ही शमदमादि साधन सम्पन्न पुरुष चल सकता है अन्य नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि विषयासक्ति से पृथक् होकर स्वसामर्थ्य से स्थित होओ, और अज्ञान को परित्याग करके ज्ञान ग्रहण करो अर्थात् विद्वान् आचार्यों द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करके उस परमपद को ग्रहण करो, क्योंकि परमात्मप्राप्ति का मार्ग सांसारिक विषयविक्षेपों के कारण सान्तराय होने से कठिन है इसीलिये छुरे की धार का दृष्टान्त दिया है कि जैसे छुरे की धार अत्यन्त तीक्ष्ण होती है जिसके स्पर्शमात्र से ही छेदन का भय होता है उस पर चलना अति कठिन है इसी प्रकार परमात्म-प्राप्ति के मार्ग में रागादि से उत्तेजित अनेक प्रकार के विषयों की कामनाओं का उल्लंघन कर तत्त्वपद को पाना अति कठिन है, इसलिये हे जिज्ञासुजनों! तुम सावधान होकर सदुपदेष्टा आप्तविद्वानों का सत्संग करते हुए अज्ञान के परित्याग द्वारा ज्ञान की प्राप्ति से उस दुष्प्राप्य परमात्मा की प्राप्ति के लिये कटिबद्ध होओ॥

सं०—अब परमात्मा के स्वरूपज्ञान से मृत्यु की निवृत्ति कथन करते हैं :—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं
नित्यमगन्धवच्चयत्। अनाद्यनन्तं
महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्यु-
मुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

पद०—अशब्दम् । अस्पर्शम् । अरूपम् । अव्ययम् । तथा । अरसं । नित्यं । अगन्धवत् । च । यत् । अनादि । अनन्तं । महतः । परं । ध्रुवं । निचाय्य । तं । मृत्युमुखात् । प्रमुच्यते ।

अर्थ

यत्=जो ब्रह्म	नित्यं=नित्य
अशब्दं=शब्दरहित	अनादि=आदिरहित
अस्पर्शं=स्पर्शरहित	अनन्तं=अनन्त
अरूपं=रूपरहित	महतः, परं=महत्तत्व से भी परे
तथा=एवं	ध्रुवं=अचल है
अरसं=रसरहित	तं=उस परमात्मा को
च=और	निचाय्य=जानकर
अगन्धवत्=गन्धरहित	मृत्युमुखात्=मौत के मुख से
अव्ययं=विकाररहित	प्रमुच्यते=छूट जाता है

भाष्य वह परमात्मा शब्द रहित होने के कारण श्रोत्र ग्राह्य नहीं, त्वचा से ग्रहण करने योग्य नहीं, चक्षु का विषय नहीं, रसना का विषय नहीं, घ्राण का विषय नहीं, इसी अभिप्राय से ["नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्"] यजु० ३२ । २ में कथन किया है कि उसमें देशकृत परिच्छेद नहीं, क्योंकि वह शब्द स्पर्शादिकों से रहित है, और महत्तत्व से भी अतिसूक्ष्म तथा अनन्तादि विशेषण युक्त है, ऐसे परमात्मा को जानकर ही पुरुष मृत्यु के मुंह से छूटता अर्थात मुक्त होता है अन्यथा नहीं, जैसा कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

यजु० ३१ । १८

अर्थ—मैं प्रकृति के स्वामी प्रकाशस्वरूप तथा सबसे बड़े सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा को भले प्रकार जानता हूं, उसके जानने से ही पुरुष संसार बन्धन से छूटकर उसको प्राप्त=मुक्त होता है, इसके विना उसकी प्राप्ति=मुक्ति का और कोई मार्ग नहीं।

सं०—अब उक्त उपाख्यान का दो श्लोकों में उपसंहार करते हैं—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।१६।

पदा०—नाचिकेतं। उपाख्यानं। मृत्युप्रोक्तं। सनातनम्। उक्त्वा। श्रुत्वा। च। मेधावी। ब्रह्मलोके। महीयते।

अर्थ

नाचिकेतं=नचिकेता सम्बन्धि
मृत्युप्रोक्तं=यम से कहे गये
सनातनं=प्राचीन
उपाख्यानं=आख्यान को
उक्त्वा=कहकर
च=और
श्रुत्वा=सुनकर
मेधावी=ज्ञानी पुरुष
ब्रह्मलोके=ब्राह्मी अवस्था में
महीयते=पूजा जाता है

भाष्य—जो जिज्ञासु भक्ति और श्रद्धापूर्वक उक्त उपदेश को जो यम ने नचिकेता के प्रति कथन किया है सुनते सुनाते और पढ़ते पढ़ाते हैं वह ब्रह्मविद्या का लाभ करके ब्रह्मज्ञानियों में प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं।

कई एक टीकाकार ["ब्रह्मलोके महीयते"] का अर्थ "हिरण्यगर्भ" लोक में जन्म होना कथन करते हैं, और इसी प्रकार कई एक यह अर्थ करते हैं कि इस उपाख्यान के पढ़ने

सुनने वाले हिरण्यगर्भ की नाईं पूजे जाते हैं, इनके मत में हिरण्यगर्भ एक अपरब्रह्म=छोटा ईश्वर है, उसके लोक को हिरण्यगर्भ लोक कहते हैं परन्तु उक्त दोनों अर्थ प्रतिज्ञा विरुद्ध हैं, क्योंकि उपाख्यान के उपक्रम में ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की प्रतिज्ञा की है, इसलिये उपसंहार में भी ब्रह्मज्ञान प्राप्ति रूप अर्थ ही प्रतिज्ञा का पूरक है किसी उत्तम लोक में जन्म होना अथवा उत्तम लोक वाले के समान पुजना नहीं, हां शुभकर्मों के करने से उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है परन्तु यहां इसका कोई प्रकरण नहीं, इसलिये यही अर्थ समीचीन है कि जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या द्वारा ब्रह्मज्ञान की सम्यक् प्राप्ति हो जाती है।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पते इति ॥ १७ ॥

पद०—यः । इमं । परमं । गुह्यं । श्रावयेत् । ब्रह्मसंसदि । प्रयतः । श्राद्धकाले । वा । तत् । आनन्त्याय । कल्पते । तत् । आनन्त्याय । कल्पते । इति ।

अर्थ

यः=जो पुरुष
प्रयतः=शुद्धमन और वशीकृतेन्द्रिय होकर
इमं=इस
परमं, गुह्यम्=परमगुप्त उपाख्यान को
ब्रह्मसंसदि=ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों की सभा में
वा=अथवा
श्राद्धकाले=श्रद्धाकाल में
श्रावयेत्=सुनाता है
तत्=वह
आनन्त्याय=अनन्त फल की प्राप्ति के लिये
कल्पते=समर्थ होता है।

भाष्य—श्लोक में "आनन्त्याय कल्पते" पाठ दो बार वल्ली के समाप्त्यर्थ आया है, जो पुरुष इस पवित्र उपाख्यान=कथा को ब्रह्मणों की सभा अथवा श्रद्धा से किये गये सत्कार्य्यों के अवसर पर सुनते सुनाते हैं अथवा यों कहो कि जिसको उक्त उपाख्यान भले प्रकार ज्ञात होजाय उस को उचित है कि श्रद्धायुक्त होकर अन्य ब्रह्मजिज्ञासुओं को भी ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, ऐसा करने से अनुत्तम पुण्य की प्राप्ति होती है।

कई एक इसका यह अर्थ करते हैं कि ब्राह्मणभोजन काल में इस उपाख्यान का पाठ पढ़ना चाहिये परन्तु इस में काल का कोई नियम नहीं ज्ञानप्राप्ति का साधन होने से सब काल में श्रद्धेय है, यही मानना ठीक है।

तृतीयवल्ली समाप्ता

अथ चतुर्थीवल्ली प्रारभ्यते

सङ्गति—अब इस वल्ली में प्रथम इन्द्रियों की बहिर्मुखता वर्णन करते हुए यम नचिकेता के प्रष्टव्य का प्रकारान्तर से कथन करते हैं:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगा-
त्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पद०—पराञ्चि। खानि। व्यतृणत्। स्वयभूः। तस्मात्। पराङ्। पश्यति। न। अन्तरात्मन्। कश्चित्। धीरः। प्रत्यागात्मानम्। ऐक्षत्। आवृत्तचक्षुः। अमृतत्वं। इच्छन्।

अर्थ

स्वयम्भूः=परमात्मा ने
खानि=इन्द्रियों को
पराञ्चि=बहिर्मुख
व्यतृणत्=बनाया है
तस्मात्=इस कारण
पराङ्=बाह्यविषयों को
पश्यति=देखता है
न, अन्तरात्मन्=अंतर्यामी परमात्मा को नहीं
कश्चित्=कोई एक
आवृत्तचक्षुः=ध्यानशील
धीरः=धीर पुरुष
अमृतत्वं=मोक्ष की
इच्छन्=इच्छा करता हुआ
प्रत्यगात्मानं=अंतर्यामी परमात्मा का
ऐक्षत्=साक्षात्कार करता है।

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि चक्षुरादि बाह्य इन्द्रिय स्वभाव से ही रूपादि विषयों को ग्रहण करने वाले हैं इसलिये इनके पीछे चलने वाला पुरुष केवल बाह्यविषयों को ही देखता है अन्तर्यामी परमात्मा को नहीं, कोई एक धीर-पुरुष ही जिसने अपने इन्द्रियों को बाह्यविषयों से रोक लिया है वही परमात्मा को प्राप्त होता है।

मायावादी ["साक्षात्कार"] के यह अर्थ करते हैं कि जब जीव अपने आपको ब्रह्म समझ लेता है तभी वह परमात्मा का साक्षात्कार करता है अन्यथा नहीं, यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि इस वल्ली में जीव ब्रह्म के भेद को पूर्व वल्ली से भी बलपूर्वक निरूपण किया है, इसलिये जीव ब्रह्म के अभेद की कथा सर्वथा असङ्गत है।

सं०—अब धीर तथा अधीर पुरुष का भेद कथन करते हैं—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति

विततस्य पाशम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

पद०—पराचः । कामान् । अनुयन्ति । बालाः । ते । मृत्योः । यन्ति । विततस्य । पाशम् । अथ । धीराः । अमृतत्वं । विदित्वा । ध्रुवं । अध्रुवेषु । इह । न । प्रार्थन्ते ।

अर्थ

बालाः=अविवेकी पुरुष
पराचः=बाह्य
कामान्=विषयों के
अनुयन्ति=पीछे चलते हैं
ते=वह
विततस्य=विस्तृत
मृत्योः=मृत्यु के
पाशं=पाश को
यन्ति=प्राप्त होते हैं
अथ=और
धीराः=विवेकी पुरुष
ध्रुवं=नित्य
अमृतत्वं=मोक्ष को
विदित्वा=जानकर
इह=यहां
अध्रुवेषु=अनित्य पदार्थों में सुख
न, प्रार्थयन्ते=नहीं चाहते

भाष्य—अविवेकी=अज्ञानी पुरुष बाह्य विषयों में रत रहने के कारण मृत्यु के विस्तृत पाश को जो विषयों के भीतर फैला हुआ है नहीं देख सकते और परिणाम यह होता है कि वह मृत्यु के लक्ष्य बन जाते हैं, परन्तु विवेकी=ज्ञानी पुरुष जो ज्ञानदृष्टि से विषयों के परिणाम को देखते हैं वह सांसारिक परिणाम अनित्य पदार्थों में सुख बुद्धि नहीं करते ।

भाव यह है कि विवेकी पुरुष प्राकृत पदार्थों के अवलम्बन से कदापि सुख की इच्छा नहीं करते किन्तु नित्यमुक्त परमात्मा के अवलम्बन से उस ध्रुवपद की इच्छा करते हैं जहां पुरुष

शोक, मोह, भय और दुःखादि से रहित होकर सर्वथा स्वतन्त्र विचरता है।

सं०—अब यम जीवात्मा का वर्णन करता हुआ नचिकेता के प्रष्टव्य को कथन करता है—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

पद०—येन। रूपं। रसं। गन्धं। शब्दान्। स्पर्शान्। च। मैथुनान्। एतेन। एव। विजानाति। किं। अत्र। परिशिष्यते। एतत्। वै। तत्।

अर्थ

येन=जिस
एतेन=जीवात्मा के विद्यमान रहने पर
एव=ही प्राणी
रूपं, रसं, गन्धं, शब्दान्, स्पर्शान्=रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श
च=और
मैथुनान्=मैथुन को
विजानाति=जानता है, मरने के पश्चात्
अत्र=यहां
किं=क्या
परिशिष्यते=शेष रह जाता है अर्थात् कुछ नहीं,
एतत्=यह
वै=निश्चय करके
तत्=वह है जो तैंने पूछा था

भाष्य—इस श्लोक में यह कथन किया है कि इन्द्रियां ज्ञान के उपलब्ध करने में स्वतन्त्र नहीं किन्तु जीवात्मा की सत्ता से ही अपने २ नियत विषयों को ग्रहण करती हैं और जिसकी शक्ति से ग्रहण करती हैं वह जीवात्मा है, जब जीवात्मा इन्द्रिय संघातरूप

शरीर से पृथक् हो जाता है तब कुछ शेष नहीं रहता अर्थात् नचिकेता ने जो यह पूछा था कि मरने के पश्चात् क्या शेष रहता है उसका उत्तर यह दिया है कि जो शक्ति रूप, रस गन्धादि विषयों का अनुभव करती है वही चैतन्यशक्ति मरने के पश्चात् शेष रहती है अन्य कुछ नहीं, इन्द्रियादिसङ्घात से अतिरिक्त आत्मसिद्धि का प्रकार ["न्यायार्य्यभाष्य"] में विस्तारपूर्वक लिखा है।

इस श्लोक में जीवात्मा का स्वरूपलक्षण कथन किया गया है कि जीवात्मा सत्चित् है, मृत्यु के अनन्तर रहने से "सत्" और अनुभविता होने से "चित" रूप है।

सं०—अब परमात्मा का स्वरूप कथन करते हैं:—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न
शोचति ॥ ४ ॥

पद०—स्वप्नान्तं। जागरितान्तं। च। उभौ। येन। अनुपश्यति। महान्तं। विभुं। आत्मानं। मत्वा। धीरः। न। शोचति।

अर्थ

येन=जो
स्वप्नान्तं=जड़जगत्
च=और
जागरितान्तं=प्राणीमात्र जगत
उभौ=इन दोनों का
अनुपश्यति=साक्षी है उस
महान्तं=सबसे बड़े
विभुं=व्यापक
आत्मानं=आत्मा को
मत्वा=जानकर
धीरः=धीर पुरुष
न, शोचति=शोक नहीं करता।

भाष्य—["स्वप्नः अन्तो निष्कर्षो यस्य तत्स्वप्नान्तं जगत्"]= स्वप्न हो तत्व जिसका उसका नाम ["स्वप्नान्त"] है, इस प्रकार स्वप्नान्त पद से जड़ जगत् का ग्रहण है, और ["जागरितं अंतो तत्वं यस्य तत् जागरितान्तं जगत्"]=जागरित हो तत्व जिस का उसका नाम ["जागरितान्त"] है, अर्थात् सदा मूर्च्छिता-वस्था में रहने से जड़ जगत् ["स्वप्नान्त"] और चेतनावस्था में रहने से चेतन जगत् ['जागरितान्त"] कहाता है।

इस चराचर जगत् के सब व्यवहार स्वप्न तथा जागरित अवस्था के भीतर ही होते हैं और परमात्मा इस सब व्यवहार का साक्षी है, उस सबसे बड़े विभुरूप परमात्मा का जो मनन करता है वह शोक से मुक्त होता है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि विभु=विवर्त्तवाद से बहुत रूप होने वाले अपने आपका जो पुरुष मनन करता है वह शोक से रहित होता है यदि इस श्लोक का यह अभिप्राय होता तो अग्रिम श्लोक में जीव ईश्वर के भेद का प्रतिपादन न किया जाता, और दूसरी बात यह है कि यहां "विभु" शब्द की सन्निधि में आने से "आत्मा" शब्द परमात्मा का वाचक है जीवात्मा का नहीं, क्योंकि जीवात्मा "अणु" है।

सं—अब उक्त परमात्मज्ञान का फल कथन करते हैं:—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते,
एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

पद०—यः। इमं। मध्वदं। वेद। आत्मानं। जीवं। अन्तिकात्। ईशानं। भूतभव्यस्य। न। ततः। विजुगुप्सते। एतत्।

वै । तत् ।

अर्थ

यः=जो पुरुष
इमं=इस
मध्वदं=कर्मफल के भोक्ता
जीवं=जीवात्मा के
अन्तिकात्=समीपवर्त्ती
भूतभव्यस्य=भूत और भविष्यत् जगत् के
ईशानं=स्वामी
आत्मानं=परमात्मा को
वेद=जानता है वह विज्ञानी पुरुष
ततः=उस ज्ञान के होने से
न, विजुगुप्सते=निन्दा को प्राप्त नहीं होता।
एतत्=यह
वै=निश्चय करके
तत्=वह तत्व है जो तैंने पूछा था।

भाष्य—जो पुरुष इस कर्मफल भोगने वाले जीवात्मा को जानकर भूत भविष्यत् जगत् के अधिष्ठाता, सब के रक्षक, पिता, सब सुखों के हेतु, सबके साक्षी, अविद्यादि क्लेश और कर्मफल की वासना से रहित परमात्मा को जानता है वह अधोगति को प्राप्त नहीं होता।

इस श्लोक में ["जीव"] शब्द पढ़ा गया है और इसी के साथ भेदबोधक ["अन्तिकात्"] अव्यय पद भी पढ़ा है, इससे स्पष्ट जीव ब्रह्म का भेद पाया जाता है, परन्तु मायावादी इसको भी जीव ब्रह्म के अभेद में ही लगाते हैं, यदि यह श्लोक अभेदबोधक होता तो जीव को कर्मफल का भोक्ता न कहा जाता और जो भूत भव्य के ईश्वर को जीव का विशेषण कथन करते हैं यह उनकी अत्यन्त भूल है, क्योंकि भूत भव्य का ईशान=स्वामी कर्मों के फल का भोक्ता नहीं, कर्मफल के भोक्ता का यहां स्पष्ट कथन है, इससे पाया जाता है कि यहां जीव ईश्वर का अभेद नहीं किन्तु भेद है।

प्रायः भेदवादी टीकाकार भी यहां भूलकर भूत भव्य के ईश्वर को जीव का विशेषण कथन करते हैं जिससे जिज्ञासु को जीवब्रह्म के भेद की स्पष्ट प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार मायावादियों के माया जाल के प्रभाव से कई एक द्वैतवादी टीकाकार भी भूल में पड़े हैं वस्तुतः यह श्लोक भेद का प्रतिपादक है अभेद का नहीं।

सं०—अब प्रकारान्तर से परमात्मा का वर्णन करते हुए नचिकेता का प्रष्टव्य कथन करते हैं:—

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्य-
पश्यत, एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

पद०—यः। पूर्वं। तपसः। जातम्। अद्भ्यः। पूर्वं। अजायत। गुहां प्रवश्यि। तिष्ठन्तं। यः। भूतेभिः। व्यपश्यत। एतत्। वै। तत्।

अर्थ

यः=जो जीवात्मा	गुहां=बुद्धि में
अद्भ्यः=कार्य्यात्मक पंचभूतों से	प्रविश्य=प्रवेश कर
पूर्वं=प्रथम	भूतेभिः=कार्य्यकारण के साथ
अजायत विद्यमान था और	तिष्ठन्तं=स्थित परमात्मा को
यः=जो	व्यपश्यत=देखता है
तपसः=इस चराचर जगत् की चेष्टा से	एतत्=यह
पूर्वं=प्रथम	वै=निश्चय करके
जातं=वर्त्तमान	तत्=वह है जो तैने पूछा था।

भाष्य—इस श्लोक में जीव और उसके साक्षीभूत परमात्मा का वर्णन किया गया है अर्थात् जिससे कार्य्यात्मक पंचभूतों की उत्पत्ति और वेदरूप ज्ञान का प्रकाश होता है और जो कार्य्यकारण में स्थित जीव के कर्मों का फल दाता है वह परमात्मा और कर्मफल भोक्ता जीव है।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

सं०—अब परमात्मात्मप्राप्ति वाली बुद्धि को देवतारूप से कथन करते हैं:—

पद०—या। प्राणेन। सम्भवति। अदितिः। देवतामयी। गुहां। प्रविश्य। तिष्ठन्तीं। या। भूतेभिः। व्यजायत। एतत्। वै। तत्।

अर्थ

या=जो बुद्धि
देवतामयी=प्रकाशयुक्त
अदितिः=अविद्या के नाश करने वाली
प्राणेन=प्राण से
सम्भवति=प्रकट होती है और
या=जो
तिष्ठन्तीं=ठहरे हुए
गुहां=अन्तःकरण रूपी गुहा में
प्रविश्य=प्रवेश कर
भूतेभिः=जीवों के साथ
व्यजायत=अभिव्यक्त होती है वही बुद्धि
एतत्, वै, तत्=उस आत्मतत्व को जान सकती है।

भाष्य—जो प्राणायामादि द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने

से दिव्य शक्ति तथा सत्वगुणमयी प्रतिभा उत्पन्न होती है उसके द्वारा ही विद्वान् लोग परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

सं० -अब उदाहरणों द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना कथन करते हैं:—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः, एतद्वै तत्। ८।

पद०—अरण्योः। निहितः। जातवेदाः। गर्भः। इव। सुभृतः। गर्भिणीभिः। दिवेदिवे। ईड्यः। जागृवद्भिः। हविष्मद्भिः। मनुष्येभिः। अग्निः। एतत्। वै। तत्।

अर्थ

अरण्योः=दो अरणियों में
जातवेदाः,इव=भौतिकाग्नि के समान
निहितः=व्याप्त और जो
दिवेदिवे=प्रतिदिन
ईड्यः=उपासना करने योग्य है
एतत, वै, तत्=वही निश्चय करके ब्रह्म है।

जागृवद्भिः=वैदिककर्मों में जागने वाले ज्ञानियों से
हविष्मद्भिः, मनुष्येभिः=कर्मकाण्डी मनुष्यों द्वारा
अग्निः=परमात्मा
गर्भिणीभिः=गर्भिणी स्त्रियों के
सुभृतः=सुरक्षित
गर्भः, इव=गर्भ के समान तथा

भाष्य—जिस प्रकार दो काष्ठों में व्यापक अग्नि विना मथे नहीं निकलता इसी प्रकार अन्तःकरणरूपी गुहा में विराजमान होने पर भी परमात्मा योगभ्यास के बिना प्रकट नहीं होता अर्थात् नहीं जाना जाता, जैसे स्त्रियां गर्भाशय में गर्भस्थिति

जानकर प्रतिदिन यत्न से धारण पोषण करती हैं वैसे ही पुरुष को उचित है कि वह नित्यप्रति "ऐसाही ध्यान करके कि परमात्मा भीतर हमारे अन्तःकरण में विराजमान है" सत्त्वगुण में ही चित्त स्थिर रखकर स्तुति, प्रार्थना, उपासना करे अर्थात् जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ को सुरक्षित रखती है इसी प्रकार अपने मन को सुरक्षित रख कर परमात्मपरायण होना चाहिये ॥

सं०—अब परमात्मा के स्वरूप में सूर्य्यादि सब देवों की इयत्ता कथन करते हैं:—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तन्देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

पद०—यतः । च । उदेति । सूर्य्यः । अस्तं । यत्र । च । गच्छति । तं । देवाः । सर्वे । अर्पिताः । तत् । उ । न । अत्येति । कश्चन । एतत् । वै । तत् ।

अर्थ

यतः=जिस से
सूर्य्यः=सूर्य्य
उदेति=उदय होता है
च=और
यत्र, च=जिस में ही
अस्तं=अस्त
गच्छति=हो जाता है
तं=उस परमात्मा को
सर्वे, देवाः=सब देव
अर्पिताः=अर्पित हैं
तत्=उसका
उ=निश्चय करके
कश्चन=कोई भी
न, अत्येति=अतिक्रमण नहीं कर सकता
एतत्, वै, तत्=यही वह ब्रह्म है ।

भाष्य—सूर्य्यादि देवों के उदय अस्त आदि नियत कामों का नियन्ता परमात्मा है जिसके आश्रय से जड़ चेतन सब जगत् अपने २ नियम में चल रहा है उसी ब्रह्म को जान, सब देवताओं में प्रधान होने से यहां सूर्य्य को उपलक्षणरूप से कथन किया है अर्थात् जिसकी शक्ति से सूर्य्य उदय अस्त होता है और वायु आदि देवता भी जिसकी दी हुई शक्ति से अपनी २ परिधि में काम करते हैं वही ब्रह्म है और उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता।

भाव यह है कि इस श्लोक में परमात्मा की महिमारूप प्रपंच की इयत्ता कथन की गई है कि यह चराचर जगत् परमात्मा के एक देश में है और परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है जैसा कि [“पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि”] यजु० ३१।३ इत्यादि वेद मन्त्रों में वर्णन किया है कि यह सारा जगत् उसके एक पादस्थानी है और तीन पाद अमृत हैं।

सं—अब ब्रह्मविषयक नानात्व का निषेध कथन करते हैं—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

पद०—यत्। एव। इह। तत्। अमुत्र। यत्। अमुत्र। तत्। अनु। इह। मृत्योः। सः। मृत्युं। आप्नोति। यः। इह। नानेव। पश्यति।

अर्थ

यत्=जो ब्रह्म का नियन्ता है
इह=इस लोक में हमारे कर्मों तत्, एव=वह ही

अमुत्र=परलोक में भी हमारा नियन्ता है, और	इह=इस परमात्मा में
	नाना, इव=नाना की नाईं
यत्=जो	पश्यति=देखता है
अमुत्र=परलोक में है	सः=वह
तत्=वही	मृत्योः=मृत्यु से
अनु, इह=यहां पर भी है	मृत्युं=मृत्यु को
यः=जो पुरुष	आप्नोति=प्राप्त होता है

भाष्य—इस श्लोक में ब्रह्म के नानात्व का निषेध किया है अर्थात् ब्रह्म एक ही है और वह सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, जैसा इस लोक में है वैसा ही परलोक में व्यापक होकर हमारे कर्मों का नियन्ता है और जैसा अब है वैसा ही पहिले था और वैसा ही आगे रहेगा, जो पुरुष उस एक अद्वितीय ब्रह्म में नानात्व की कल्पना करते हैं कि ब्रह्म शुद्ध, शबल, निराकार, साकार इत्यादि भेदों से नाना रूप है वह बारम्बार जन्ममरण को प्राप्त होते हैं।

भाव यह है कि निखिल ब्रह्माण्डों में एक ही ब्रह्म ओत प्रोत है, कहीं हिरण्यगर्भ और कहीं परब्रह्म यह भेद ब्रह्म में नहीं और न उसका कोई लोकविशेष है जैसाकि पौराणिक तथा मायावादी ब्रह्मलोक, शिवलोक, रुद्रलोक आदि लोकविशेष अर्थात् नाना लोक मानते हैं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जो पुरुष ब्रह्म को ["अहं ब्रह्मास्मि"] भाव से नहीं देखता वह बारम्बार जन्म मरण को प्राप्त होता है, यदि इस श्लोक के यह अर्थ होते तो अग्रिम श्लोकों में संस्कृत मन द्वारा उसकी प्राप्ति कथन की जाती, क्योंकि जब भेददर्शन ही मृत्यु का हेतु है तो मन से मनन करना भी एक भेददर्शन है फिर वह मृत्यु का हेतु क्यों नहीं,

यदि इस श्लोक में औपाधिक रूपों को मिटाकर परमात्मा के एकत्व दर्शन का तात्पर्य्य होता तो उत्तरत्र उसको अंगुष्ठमात्र कथन न किया जाता, इसमें ब्रह्म के नानात्व का निषेध है, यह अभिप्राय कदापि नहीं कि संसार में नानात्व नहीं।

सं—अब उक्त एकत्वदर्शन का प्रकार कथन करते हैं:—

**मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह
नानेव पश्यति ॥ ११ ॥**

पद०—मनसा। एव। इदं। आप्तव्यं। न। इह। नाना। अस्ति। किंचन। मृत्योः। सः। मृत्युं। गच्छति। यः। इह। नाना। इव। पश्यति।

अर्थ

इदं=यह ब्रह्म
मनसा, एव=मन से ही
आप्तव्यं=जानने योग्य है
इह=इस ब्रह्म में
नाना=नानापन
किंचन=कुछ भी
न, अस्ति=नहीं है
यः=जो
इह=इस ब्रह्म में
नाना, इव=नाना की नाईं
पश्यति=देखता है
सः=वह
मृत्योः=मृत्यु से
मृत्युं=मृत्यु को
गच्छति=प्राप्त होता है।

भाष्य—जो ब्रह्म केवल संस्कृत मन द्वारा जाना जाता है उस में नानात्व की कल्पना करने वाला पुरुष शान्ति को प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति संस्कृत मन द्वारा होती है अन्यथा नहीं, इसलिए पुरुष को उचित है कि वेदवाक्यजन्यज्ञान के संस्कार

से संस्कृत होकर ब्रह्म का मनन इस प्रकार करे कि वह ब्रह्म एक है, उसमें नानापन नहीं, इस प्रकार मनन करने से पुरुष मृत्यु के भय से रहित हो जाता है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जिज्ञासु यह मनन करे कि ब्रह्म से भिन्न इस संसार में कुछ भी नहीं, ब्रह्म ही जगदाकार होकर प्रतीत हो रहा है, यदि इस श्लोक के यह अर्थ होते तो ब्रह्म को भूतभव्य का ईश क्यों कहा जाता, क्योंकि ईश ईशितव्यभाव और नियम्यनियामकत्वभाव भेद में होता है अभेद में नहीं, इससे सिद्ध है कि इन श्लोकों में जीव ब्रह्म के एकत्व का वर्णन नहीं किन्तु भेद का वर्णन है।

सं०—अब जीव के हृदय में परमात्मा की व्यापकता कथन करते हैं:—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्। १२।

पद० - अंगुष्ठमात्रः। पुरुषः। मध्ये। आत्मनि। तिष्ठति। ईशानः। भूतभव्यस्य। न। ततः। विजुगुप्सते। एतत्। वै। तत्।

अर्थ

भूतभव्यस्य=भूत और भविष्यत् का
ईशानः=ईश्वर
पुरुषः=परमात्मा
अंगुष्ठमात्रः=अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला
आत्मनि=जीवात्मा के
मध्ये=बीच में
तिष्ठति=स्थिर है
ततः=उसी के जानने से
न, विजुगुप्सते=निन्दित नहीं होता
एतत्, वै, तत्=यही वह ब्रह्म है।

भाष्य—जीवात्मा का निवासस्थान अंगुष्ठमात्र हृदय माना गया है, इसमें रहने वाले जीवात्मा के हृदय में व्यापक होने से परमात्मा को "अंगुष्ठमात्र" कथन किया है, वास्तव में वह अंगुष्ठमात्र नहीं, क्योंकि भूतभव्य का स्वामी अंगुष्ठमात्र नहीं हो सकता, यदि यह कहा जाय कि सोपाधिक होने से वही अंगुष्ठमात्र है और निरूपाधिकरूप से वही भूतभव्य का ईश्वर है, यह कथन इस लिये ठीक नहीं कि शुद्ध ब्रह्म में उपाधि कैसे, यदि जीव रूप से उपाधि मानी जाय तो जब जीव होगा तब उपाधि होगी, क्योंकि इन के मत में उपाधि से जीव बनता है और मायारूपी उपाधि ब्रह्म में स्वाश्रय स्वविषय होकर भान होती है अर्थात् शुद्धब्रह्म के आश्रित ही मायारूप उपाधि रहती है और उसी ब्रह्म को आच्छादित कर लेती है, एवं शुद्ध ब्रह्म को उपहित मानने से सर्वदैव ब्रह्म उपाधि विशिष्ट रहेगा, फिर उपाधिविशिष्ट ब्रह्म भूत भव्य का ईश्वर कैसे और दूसरी बात यह है कि इनके मत में शुद्ध ब्रह्म में ज्ञातृत्व और ईशितृत्व न होने से वह भूत भव्य का ईश्वर नहीं हो सकता।

सं०—अब परमात्मा के स्वरूप को निरुपाधिक कथन करते हैं:—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स
उ श्वः, एतद्वै तत् । १३ ।

पद०—अंगुष्ठमात्रः । पुरुषः । ज्योतिः । इव । अधूमकः ।

ईशानः। भूतभव्यस्य। सः। एव। अद्य। सः। उ। श्वः। एतत्। वै। तत्।

अर्थ

अंगुष्ठमात्रः=अंगुष्ठमात्रस्थानीय	ईशानः=स्वामी है
पुरुषः=पुरुष	सः, एव=वह ही
अधूमकः=धूमरहित	अद्य=आज और
ज्योतिः, इव=ज्योतिः के समान	सः, उ=वही
भूतभव्यस्य=भूत और भविष्यत् का	श्वः=कल है
	एतत्, वै, तत्=यही वह ब्रह्म है

भाष्य—वह पूर्ण परमात्मा धूमरहित ज्योतिः के समान शुभ्र स्वरूपवाला है और वही इस चराचर जगत का स्वामी है, वही आज है और वही कल होगा अर्थात् वह तीनों कालों में एकरस रहता है, और धूमरहित ज्योति का दृष्टान्त इसलिये दिया है कि वह किसी उपाधि से उपहित नहीं, यदि परमात्मा ही जीवभाव को प्राप्त हो जाता तो उसको धूमरहित ज्योति का दृष्टान्त कदापि न दिया जाता, इससे सिद्ध है कि भूतभव्य के ईश्वर का स्वरूप सदैव निरुपाधिक है॥

सं०—अब नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा को ही उपास्य देव कथन करते हैं:—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु
विधावति।१४।

पद०—यथा। उदकं। दुर्गे वृष्टं। पर्वतेषु। विधावति। एवं। धर्मान्। पृथक्। पश्यन्। तान्। एव। अनुविधावति।

अर्थ

यथा=जैसे
दुर्गे=विषम देश में
वृष्टं=वर्षा हुआ
उदकं=पानी
पर्वतेषु=नीचे स्थानों में
विधावति=बह जाता है
एवं=इसी प्रकार पुरुष
धर्मान्=गुणों को गुणी से
पृथक्=भिन्न
पश्यन्=देखता हुआ
तान्, एव=उन्हीं गुणों का
अनुविधावति=अनुगामी होता है।

भाष्य—जिस प्रकार जल का स्वभाव निम्न स्थानों में बहने का है इसी प्रकार गुण अपने गुणी के अनुगामी होते हैं और जो पुरुष गुणों को गुणी से पृथक् जानता है वह तत्वज्ञान को प्राप्त न होकर गुणों में ही विचरता रहता है अर्थात् जो पुरुष परमात्मा में नानात्व देखता है कि परब्रह्म और है, ईश्वर और है, हिरण्यगर्भ और है, वह पुरुष पर्वतीय जल के समान इधर उधर बह जाता है एकत्व को प्राप्त नहीं हो सकता।

भाव यह है कि ईश्वर में नानात्ववादी पुरुष इस प्रकार खण्ड खण्ड हो जाता है जैसे पर्वत में वर्षा हुआ जल नाना भावों से विभिन्न हो जाता है, इसलिये पुरुष को उक्त गुणों वाले एक मात्र परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिये अन्य की नहीं।

सं०—अब उक्त उपासना का फल कथन करते हैं:—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवित गौतम ।१५।

पद०—यथा । उदकं । शुद्धे । शुद्धं । आसिक्तं । तादृक् । एव । भवति । एवं । मुनेः । विजानतः । आत्मा । भवति । गौतम ।

अर्थ

गौतम=हे नचिकेता
यथा=जैसे
शुद्धे=शुद्ध जल में
आसिक्तं=डाला हुआ
शुद्धं=शुद्ध
उदकं=जल
तादृक, एव=वैसा ही
भवति=हो जाता है
एवं=इसी प्रकार
विजानतः=जानने वाले
मुनेः=मननशील पुरुष का
आत्मा=आत्मा
भवति=हो जाता है ।

भाष्य—यम कहता है कि हे गोतम के पुत्र नचिकेता! जैसे शुद्ध जल में डाला हुआ जल तद्वत् ही हो जाता है इसी प्रकार विज्ञानी पुरुष का आत्मा शुद्ध और शान्त ब्रह्म को प्राप्त होकर तद्वत् ही हो जाता है अर्थात् परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके पवित्र होता है ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसा उपास्य होता है वैसा ही उपासक भी होजाता है, ब्रह्म को औपाधिक मानने वाले स्वयं भी उपाधि से नहीं छूटसकते और जो उस ब्रह्म की शुद्धरूप से उपासना करते हैं वह स्वयं भी पवित्र भावों वाले होजाते हैं जैसाकि ["परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते"]=जीव परब्रह्म को प्राप्त होकर स्वरूप से शुद्ध होजाता है, इत्यादि वाक्यों में निरूपण किया है ।

मायावादी उक्त दोनों श्लोकों के यह अर्थ करते हैं कि भेद-वादी संसार की गति को प्राप्त होता है अर्थात् जैसे पर्वत पर वर्षा हुआ जल इधर उधर छिन्नभिन्न होजाता है इसी प्रकार

भेदवादी नानाभावों को प्राप्त होता है=बारंबार जन्मता मरता है, और जीवब्रह्म की एकता मानने वाला अभेदवादी शुद्ध जल में मिले हुए शुद्ध जल के समान ब्रह्मरूप ही होजाता है, यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि इनसे पूर्व श्लोकों में परमात्मा का एकत्व कथन किया है जीवब्रह्म का नहीं और न यहां जीव-ब्रह्म के एकत्व का प्रकरण है, इसलिये उपक्रम के विरुद्ध यह अर्थ करना कि जीवब्रह्म होजाता है सर्वथा असङ्गत है।

यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध जल शुद्ध हो हो जाता है इसी प्रकार ब्रह्म से मिलकर जीव भी ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् जीवब्रह्म एक हो जाता है, यह कथन इस लिये ठीक नहीं कि दृष्टान्त में दोनों जल समान भावों वाले हैं और ब्रह्म तथा जीव असमानभावों वाले हैं अर्थात् ब्रह्म सर्वव्यापक और जीव परिच्छिन्न, ब्रह्म सर्वज्ञ और जीव अल्पज्ञ है, इत्यादि भेदों से जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध है अभेद नहीं ॥

चतुर्थी वल्ली समाप्ता

——:※:——

अथ पंचमी वल्ली प्रारभ्यते

सं०—अब जीव के बन्धनरूप पुर का निरूपण करते हुए उसके अनित्यत्व ज्ञान से शोक मोह की निवृत्ति कथन करते हैं:—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च
विमुच्यते, एतद्वै तत् । १ ।

पद०—पुरं । एकादशद्वारं । अजस्य । अवक्रचेतसः । अनुष्ठाय न । शोचति । विमुक्तः । च । विमुच्यते । एतत् । वै । तत् ।

अर्थ

अवक्रचेतसः=विकाररहित चेतन स्वरूप
अजस्य=अजन्मा जीवात्मा के
एकादशद्वारं=ग्यारह दरवाज़े वाले
पुरं=शरीर को
अनुष्ठाय=अनित्य समझता हुआ
न, शोचति=शोक को प्राप्त नहीं होता
च=और
विमुक्तः=उक्त तत्वज्ञान द्वारा मुक्त हुआ पुरुष
विमुच्यते=बन्धन से छुट जाता है
एतत्, वै तत्=यह वह है जो तैने पूछा था।

भाष्य—वैदिक कर्मों के अनुष्ठान करने वाला पुरुष जब नित्या-नित्य वस्तु के विवेक से ग्यारह दरवाज़े * वाले शरीर को अनित्य समझ लेता है फिर वह शोक मोह से रहित होकर मुक्त हो जाता है, यही ब्रह्मज्ञान का फल है जो नचिकेता ने पूछा था।

यद्यपि अनुष्ठान के अर्थ कर्म के भी हैं परन्तु यहां ज्ञान अर्थ करना ठीक ही है, क्योंकि अनुष्ठान शोक मोह की निवृत्ति का कारण नहीं किन्तु ज्ञान ही उक्त निवृत्ति का कारण है, जैसा कि ["तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"] यजु० ४०। ७ इत्यादि वेद मंत्रों में एकत्वदर्शी पुरुष को ही शोक मोह की निवृत्ति कथन की है।

---

* दो आंख के, दो कान के, दो नाक के, एक मुंह का, एक ब्रह्मरंध्र=कपाल का, एक नाभि का, एक उपस्थेन्द्रिय का और एक मल का, यह ग्यारह दरवाज़े हैं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ["विमुक्तश्च विमुच्यते"]=मुक्त हुआ ही फिर मुक्त होता है, क्योंकि इनके मत में मुक्ति नित्य प्राप्त की प्राप्ति है अर्थात् जीव सदा मुक्त है उसने अपनी भ्रान्ति से अपने में बन्धन मान रखा है वास्तविक नहीं, उस भ्रान्ति की निवृत्ति से नित्य प्राप्त स्वरूप की प्राप्ति का नाम "मुक्ति" है, जैसाकि किसी पुरुष को हस्तगत कङ्कण में यह भ्रम हो जाय कि मेरा कङ्कण नहीं है, फिर सदुपदेष्टा के उपदेश से उस कङ्कण में भ्रम की निवृत्तिद्वारा जो उसकी प्राप्ति है वही नित्य प्राप्त की प्राप्ति कहलाती है, इस विषय में ["गौडपादाचार्य्य"] का कथन है कि: —

न निरोधो नचोत्पत्तिर्न बद्धो नच साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

अर्थ—न उत्पत्ति है, न प्रलय है, न कोई बद्ध न मुक्त है और नाही कोई मुक्ति के सिद्ध करनेवाला साधन है और न कोई मुक्त हुआ है, यही तत्व है अर्थात् जीव सदा से मुक्त है केवल उसकी भ्रान्ति दूर करने का नाम ही मुक्ति है वास्तव में कोई मुक्ति नहीं, इस प्रकार "विमुक्तश्च विमुच्यते" पद से जो वेदान्तियों ने यह अर्थ लाभ किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि वैदिकसिद्धान्त में मुक्ति नित्यप्राप्त की प्राप्ति नहीं किन्तु एक अवस्थाविशेष का नाम "मुक्ति" है जो ज्ञान और अनुष्ठान से उत्पन्न होती है और विमुक्तः=मुक्त हुआ, विमुच्यते=शरीर रूपी बन्धन से छूट जाता है अर्थात् प्रथम जीवन्मुक्त होता है और फिर शरीररूपी बन्धन से छूटता है, इस अभिप्राय से "विमुक्तश्च विमुच्यते" कहा गया है।

और जो इन्होंने इस श्लोक पर यह विकल्प जाल रचा है कि जीव का बन्धन संयोग वा समवाय अथवा तादात्म्य सम्बन्ध से है ? यदि संयोग से कहें तो आत्मा में संयोगकृत बन्धन नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अमूर्त्त है और अमूर्त्त में उक्त संयोग असम्भव है जैसाकि आकाश में रज्जुकृत बन्धन असम्भव है, यदि समवाय से कहें तो बन्धन आत्मा का गुण होने से सदैव बना रहना चाहिये और यदि तादात्म्य से माना जाय तो भी उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वह उसका आत्मा है ? इसका उत्तर यह है कि वैदिकमत में शरीररूप बन्धन कर्मजन्य है और कर्म जीवात्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण सदा बद्ध होने का दोष नहीं आता, क्योंकि कर्म स्वरूप से सादि और प्रवाह से अनादि हैं, इसलिये सादि सान्त कर्मों की निवृत्ति होने से बन्धन सदा नहीं रह सकता, इस प्रकार समवाय मानने से बन्धन के नित्य होने का दोष नहीं आता और इस शरीर रूपी पुर का जीवात्मा के साथ संयोग होने से बन्धन को संयोगकृत कहा जा सकता है सो इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि निराकार और साकार का भी संयोग पाया जाता है, और जो आकाश के दृष्टान्त से जीवात्मा में बन्धन के अभाव की सिद्धि कथन की है वह इसलिये ठीक नहीं कि जीवात्मा अणु है, एवं वैदिकमत में बन्धन के साथ संयोग तथा समवाय दोनों ही कहे जा सकते हैं ।

और जो मायावादियों के मत में बन्धन का आत्मा के साथ तादात्म्य माना गया है वह किसी प्रकार भी निरूपण नहीं किया जा सकता, यदि बन्धन जीव का आत्मा है तो उसको सदा ही बद्ध होना चाहिये, क्योंकि अपना आप कभी

किसी से निवृत्त नहीं होता और कल्पित तादात्म्य मानें तो भी उक्त दोष ज्यों त्यों बना रहता है क्योंकि उसका कल्पक कोई निरूपण नहीं किया जा सकता, यदि जीव को कल्पक मानें तो जीव इसलिये कल्पक नहीं हो सकता कि इनके मत में वह माया से उत्तर काल में बन्धन को प्राप्त होता है, यदि ब्रह्म को मानें तो ब्रह्म में इनके मत में कल्पना की अनुपपत्ति है, इस प्रकार जो बन्धन को कल्पित मानकर बाध समानाधिकरण माना गया है वह भी ठीक नहीं और मुख्यसामानाधिकरण्य मानने से इनका अविद्यारूपी बन्धन से कभी छुटकारा न होगा और ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव नहीं रहेगा. कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान से भिन्न न होने का नाम ["बाधसमानाधिकरण"] और प्रपञ्च को ज्यों का त्यों ब्रह्मरूप मानने का नाम ["मुख्यसामानाधिकरण्य"] है।

सं—अब जीव की योनियां कथन करते हैं:—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्। २।

पद० - हंसः। शुचिषत्। वसुः। अन्तरिक्षसत्। होता। वेदिषत्। अतिथिः। दुरोणसत्। नृषत्। वरसत्। ऋतसत व्योमसत्। अब्जाः। गोजाः। ऋतजाः। अद्रिजाः। ऋतं। बृहत्।

अर्थ

हंसः=अविद्या का हनन करने वाला जीवात्मा
शुचिषत्=पवित्र योनि में स्थित
वसुः, अन्तरिक्षसत्=मुक्त हुआ अन्तरिक्ष में विचरता है
नृषत्=मनुष्ययोनि में
वरसत्=विद्वानों के सत्संग वाला
वेदिषत्=यज्ञ मण्डप में स्थित होकर
होता=यज्ञादि कर्म करने वाला और
अतिथिः=एक शरीर में स्थिर न रहने वाला
दुरोणसत्=अनेक आश्रमों में विचरने वाला
ऋतसत्=सत्यवादियों में जन्म लेता है
अब्जाः=जल में जन्म लेता है
गोजाः=पृथिवी में जन्म लेता है
ऋतजाः=अपने कर्मानुसार अनेक योनियों में जन्म लेने वाला
अद्रिजाः=पर्वतों में भी जन्म लेता हुआ
ऋतं, बृहत्=अपने कूटस्थरूप से अचित् पदार्थों में बड़ा है।

भाष्य—इस श्लोक में जीवात्मा को अनेक योनियों में अनेक रूपों को धारण करना इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि वह नाना योनियों में पुनः २ जन्म लेने पर भी अपने कूटस्थ भाव का कभी परित्याग नहीं करता अर्थात् कभी ज्ञानी, कभी मुक्त, कभी विद्वान् और कभी मूर्ख, कभी पुण्यात्मा और कभी पापात्मा होने पर भी अपने सच्चिद्रूप से सदा एकरस बना रहता है उसकी सत्ता तथा स्वरूपभूत चेतनता में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं आता।

भाव यह है कि जीवात्मा कर्मानुसार अनेक योनियों को प्राप्त होता है कहीं स्थलचर होकर पृथिवी में विचरता है और कहीं जलचर होकर जल में विचरता है, एवं कहीं नभचर हो

कर आकाश में गमन करता है और कभी मनुष्य, देव तथा ऋषि आदि के शरीर में जन्म लेता है इत्यादि, यद्यपि कर्मानुसार जीवात्मा अनेक योनियों को प्राप्त होता है परन्तु अपने स्वरूप से नित्य और अपरिणामी हैं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्म ही नाना योनियों में प्रतीत होता है और वह बाधरहित है, बृहत्=सर्वव्यापक है, यह अर्थ करना इसलिये ठीक नहीं कि यह प्रकरण जीव का का है ब्रह्म का नहीं, क्योंकि इससे पूर्व जीव के शरीर रूपी पुर का वर्णन किया गया है।

कई एक टीकाकार इसी मन्त्र से अवतार को सिद्ध करते हैं कि वही मत्स्यादि रूप से जलों में अवतार लेता है, और कई एक सर्वात्मवाद के अभिप्राय से यह कथन करते हैं कि वही परमात्मा द्युलोक में स्थिर है, वही वायुरूप से अन्तरिक्षलोक में स्थिर है और वही अग्निरूप से वेदि में स्थिर है, एवं नाना रूपों में एक ब्रह्म ही स्थिर हो रहा है, इस प्रकार इस मन्त्र को अद्वैत की सिद्धि में प्रमाण देते हैं, उनका यह कथन इसलिये सङ्गत नहीं कि यह मन्त्र मायावादियों के अद्वैतवाद की रीति से सर्वाकार ब्रह्म को बोधन करता तो उपनिषत्कार इसको जीव के प्रकरण में कदापि उद्धृत न करते, उक्त प्रकरण में उद्धृत करने से सिद्ध है कि यह मन्त्र जीव के जन्म बोधन करता है ब्रह्म के नहीं।

सं०—अब शरीर में जीवात्मा की स्थिति कथन करते हैं:—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३॥

पद०—ऊर्ध्वं । प्राणं । उत् । नयति । अपानं । प्रत्यक् । अस्यति । मध्ये वामनं । आसीनं । विश्वे । देवाः । उपासते ।

अर्थ

जो जीवात्मा	अस्यति=फेंकता है
प्राणं=प्राणवायु को	मध्ये=बीच में
ऊर्ध्वं=ऊपर	आसीनः=स्थित
उत्, नयति=लेजाता है	वामनं=परिच्छिन्न जीवात्मा को
अपानं=अपानवायु को	विश्वें, देवाः=सब इन्द्रियां
प्रत्यक्=हृदय देश से नीचे	उपासते=सेवन करते हैं।

भाष्य—जीवात्मा हृदय देश में विराजमान है और उसी के समीप प्राण तथा समस्त इन्द्रिय उपस्थित हैं अर्थात् जैसे भृत्य अपने स्वामी की सेवा में तत्पर रहता है इसी प्रकार सब इन्द्रिय उसका सेवन करते हैं, वही अपनी शक्ति से प्राणवायु को ऊपर लेजाता है और अपानवायु को नीचे फेंक देता है, इस श्लोक में ["वामन"] शब्द से स्पष्ट सिद्ध है कि जीवात्मा परिच्छिन्न है विभु नहीं, और इन्द्रियों में उपासकभाव इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि इन्द्रिय स्वर व्यापार द्वारा जीवात्मा को बाह्यज्ञान पहुंचाते रहते हैं।

सं०—अब जीव की उत्क्रान्ति कथन करते हैं:—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः । देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते,एतद्वै तत् । ४ ।

पद०—अस्य । विस्रंसमानस्य । शरीरस्थस्य । देहिनः ।

देहात् । विमुच्यमानस्य । किं । अत्र । परिशिष्यते । एतत् । वै । तत् ।

अर्थ

अस्य=इस	विमुच्यमानस्य=छोड़ने के पश्चात
शरीरस्थस्य=शरीर में स्थिर	अत्र=यहां
देहिनः=जीवात्मा के	किं=क्या
विस्रंसमानस्य=पृथक् हो जाने पर अर्थात्	परिशिष्यते=शेष रह जाता है
देहात्=देह को	एतत्, वै, तत्=यह वह जो तैंने पूछा था ।

भाष्य – जब जीवात्मा इस शरीर से पृथक् हो जाता है तब इसमें कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् न प्राण चेष्टा कर सकते हैं और न इन्द्रियां अपने अर्थों को ग्रहण कर सकते हैं, भाव यह है कि जोवात्मा के पृथक् होते ही सारी शक्तियां उसके साथ ही निकल जाती हैं शरीर में चेतनता का कोई अंश शेष नहीं रहता ।

तात्पर्य्य यह है कि इस श्लोक में जीवात्मा की उत्क्रान्ति वर्णन की गई है कि जब जीवात्मा इस देह को त्याग देता है तब इस शरीर में कुछ तत्व नहीं रहता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जीवात्मा अणु है विभु नहीं, क्योंकि विभु की उत्क्रान्ति कदापि नहीं हो सकती, इसी प्रकार ["उत्क्रान्ति गत्या गतीनाम्"] ब्र० सू० २।३।२० में भी कथन किया है कि जीवात्मा की उत्क्रान्ति होती है और नचिकेता का प्रश्न भी यही था कि मरने के पश्चात् अर्थात् उत्क्रान्ति के अनन्तर क्या शेष रहता है ? सो इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है, और जो धर्माधर्म= पुण्यपाप से रहित परमात्मा का वर्णन इस प्रसङ्ग में किया

गया है वह इस अभिप्राय से है कि परमात्मा की सिद्धि से उत्तरत्र जीव की सिद्धि सुसाध्य है ।

मायावादी लोग न जाने जीवब्रह्मैक्य की किस प्रकार इस प्रसङ्ग से सङ्गत कथन करते हैं, उनमें से कोई कहता है कि नचिकेता को जीवब्रह्म की एकता ही प्रष्टव्य थी किसी का कथन है कि मरने के पश्चात् ज्ञानी जीव ब्रह्म हो जाता है इससे जीवब्रह्म का ऐक्य सङ्गत है, एवंविध तर्काभासों से वह अपने मत का मण्डन करते हैं परन्तु जीवब्रह्म की एकता का इस प्रकरण में गन्ध भी नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं :—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिनेतावुपाश्रितौ । ५ ।

पद—न । प्राणेन । न । अपानेन । मर्त्यः । जीवति । कश्चन । इतरेण । तु । जीवन्ति । यस्मिन् । एतौ । उपाश्रितौ ।

अर्थ

कश्चन=कोई भी
मर्त्यः=मनुष्य
न प्राणेन=न प्राण से
न, अपानेन=न अपान से
जीवति=जीता है
तु=किन्तु
यस्मिन्=जिसके
एतौ=उक्त दोनों
उपाश्रितौ=आश्रित हैं
इतरेण=उस प्राणापान से भिन्न जीवात्मा से
जीवन्ति=जीते हैं ।

भाष्य—नचिकेता को यम उपदेश करता है कि हे नचिकेतः ! प्राण तथा अपान वायु से कोई प्राणी नहीं जीता, क्योंकि वह अपनी क्रिया के करने में स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु यह सब

जिसके आश्रित हैं अर्थात् जिसके होने से अपनी २ क्रिया करते और न होने से नहीं करते वही जीने का हेतु एकमात्र जीवात्मा है और उसी से सब प्राणी जीवन धारण करते हैं, यदि प्राणादि जीने के हेतु होते तो मृतशरीर में भी वह वायु रहता है परन्तु जीव के पृथक् हो जाने से वह उससे फूल जाता है, इससे सिद्ध है कि जीवन का हेतु एकमात्र जीव है अन्य नहीं।

सं०—अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए जीव ब्रह्म का प्रकारान्तर से कथन करते हैं :—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।६।

पद०—हन्त । ते । इदं । प्रवक्ष्यामि । गुह्यं । ब्रह्म । सनातनं । यथा । च । मरणं । प्राप्य । आत्मा । भवति । गौतम ।

अर्थ

गौतम=हे गौतम के पुत्र नचिकेता
हन्त=अब
ते=तेरे लिये
इदं=इस
गुह्यं=गुप्त
सनातनं=अनादि
ब्रह्म=परमात्मा को
प्रवक्ष्यादि=कहूंगा
च=और
यथा=जैसे
मरणं=मृत्यु को
प्राप्य=प्राप्त होकर
आत्मा=जीवात्मा
भवति=होता है वह भी कहूंगा

भाष्य—मृत्यु कहता है कि हे नचिकेता ! अब मैं तुमको दो बातों का उपदेश करूंगा, एक यह कि सनातन गुप्त ब्रह्म क्या है ? और दूसरा यह कि मरने के अनन्तर क्या गति होती है

अर्थात् उस सनातन ब्रह्म का उपदेश करूंगा जिसके जानने से मनुष्य मुझको जीत लेता है और उसको न जानने के कारण जो जीवात्मा बारंबार मेरे अधीन होकर जन्म मरण में आता है वह भी तेरे प्रति कहता हूं।

सं०—अब मरणानन्तर जीव की गति कथन करते हैं :—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथा श्रुतम्॥७॥

पद०—योनिं। अन्ये। प्रपद्यन्ते। शरीरत्वाय। देहिनः। स्थाणुं। अन्ये। अनुसंयन्ति। यथाकर्म। यथाश्रुतं।

अर्थ

अन्ये=कोई एक	योनिं=जन्म को
देहिनः=प्राणी	प्रपद्यन्ते=प्राप्त होते हैं
यथाकर्म, यथाश्रुतं=अपने २ कर्म तथा ज्ञान के अनुसार	अन्ये=कोई एक
	स्थाणुं=जड़ योनियों को
शरीरत्वाय=शरीर धारण करने के लिये	अनुसंयन्ति=मरने के अनन्तर प्राप्त होते हैं।

भाष्य—जो पुरुष ब्रह्मज्ञान से विमुख हैं वह क्लेशकर्मादि के पाश में बंधे हुए भोगरूप फलों को प्राप्त होते हैं, जिनके शुभ कर्म विशेष हैं वह उत्तम योनियों को, जिनके शुभाशुभ कर्म समान हैं वह मनुष्य योनि को और जिनके अशुभ कर्म अधिक हैं वह तिर्यक्=जड़ योनियों को प्राप्त होते हैं और जब तक वह

परमपद के अधिकारी नहीं बनते तब तक इसी प्रकार जन्म मरणरूप चक्र में घूमते रहते हैं।

भाव यह है कि जिनके उत्तम कर्म हैं वह उत्तम योनियों को और जिनके मन्दकर्म हैं वह पशुपक्षी तथा जड़ योनियों को प्राप्त होते हैं, स्थाणु शब्द यहां किसी वृक्षादि योनि विशेष के अभिप्राय से नहीं आया, यदि उक्त अभिप्राय से आता तो स्थाणु से वृक्षादिकों का और योनि से मैथुनी सृष्टि का ग्रहण होने पर फिर अमैथुनी सृष्टि के जीवों का ग्रहण कहां से होता ? इससे सिद्ध है कि स्थाणु शब्द नितान्त प्राकृतावस्था का सूचक है किसी योनिविशेष का नहीं।

स्मरण रहे कि उक्त श्लोक में यम ने नचिकेता के प्रश्न का यह उत्तर दिया कि मरने के पश्चात् जीव अपने कर्मानुसार जन्मान्तर को प्राप्त होता है और इससे यह भी सिद्ध कर दिया कि पौराणिक यमपुरी के यम का जीव के जन्मधारण में कोई सम्बन्ध नहीं।

सं०---अब पूर्व प्रतिज्ञात जीव के नियन्ता ब्रह्म का कथन करते हैं:—

य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः, तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताःसर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्। ८।

पद०—यः । एषः । सुप्तेषु । जागर्त्ति । कामंकामं । पुरुषः । निर्मिमाणः । तत् । एव । शुक्रं । तत् । ब्रह्म । । तत् । एव । अमृतं । उच्यते । तस्मिन् । लोकाः । श्रिताः । सर्वे । तत् । उ । न । अत्येति । कश्चन । एतत् । वै । तत् ।

अर्थ

यः, एषः=जो यह
पुरुषः=अन्तर्यामी परमात्मा
कामंकामं=प्रत्येक कामना की यथेच्छ पूर्त्ति के लिए
निर्मिमाणः=सारे जगत् का निर्माण करता हुआ
सुप्तेषु=अज्ञानी जीवों में
जागर्ति=जागता है
तत्, एव=वही
शुक्रं=शुद्ध
तत्, ब्रह्म=वही सब से बड़ा
तत्, एव=वही
अमृतं=मृत्यु से रहित
उच्यते=कहा जाता है
तस्मिन्=उसी ब्रह्म में
सर्वे, लोकाः=सब लोक
श्रिताः=स्थित हैं
तत्, उ=उसको
कश्चन=कोई भी
न, अत्येति=उल्लङ्घन नहीं कर सकता
एतत्, वै, तत्=यही वह ब्रह्म है जो तूने पूछा था।

भाष्य—इस श्लोक में पुनः परमात्मा का निरूपण किया गया है कि परमात्मा इस सारे जगत् को प्रकृति द्वारा निर्माण करता हुआ आप उससे सर्वथा पृथक है और सोये हुए के समान अज्ञानी जीवों को कर्मानुसार फल देता हुआ आप जागते हुये के समान अन्तर्यामी रूप से स्थित है वही शुद्ध और सनातन ब्रह्म है, उसी के आश्रित सम्पूर्ण लोकलोकान्तर हैं उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता।

भाव यह है कि वही सर्वव्यापक परमात्मा इस चराचर जगत

में सदैव जागा हुआ है उसको कभी कोई मोह अथवा अज्ञान निद्रित नहीं कर सकता, उसी को शुक्ररूप से वर्णन किया गया है और उसी का नाम ["बृंहत इति ब्रह्म"]=सदा वृद्धि को प्राप्त होने के कारण ब्रह्म है अर्थात् अनाधेयातिशय स्वरूप वाले पदार्थ का नाम "ब्रह्म" है, या यों कहो कि जिसके स्वरूप में किसी अतिशय का आधान न किया जाय उसको "ब्रह्म" कहते हैं, वही ब्रह्म वास्तव में अमृत है और वही सर्वोपरि बलवाला तथा सबसे बड़ा नित्यमुक्त है अन्य नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्म की व्यापकता कथन करते हैं:—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

पद०—अग्निः। यथा। एकः। भुवनं। प्रविष्टः। रूपंरूपं। बभूव। एकः। तथा। सर्वभूतान्तरात्मा। रूपंरूपं। प्रतिरूपः। बहिः। च।

अर्थ

यथा=जिस प्रकार
एकः, अग्निः=एक ही अग्नि
भुवनं=लोकलोकान्तरों में
प्रविष्टः=व्याप्त होकर
रूपंरूपं=प्रत्येक पदार्थ के
प्रतिरूपः=तदाकार
बभूव=हो रहा है
तथा=इसी प्रकार

एकः=एक
सर्वभूतान्तरात्मा=सबका अन्तर्यामी परमात्मा
रूपंरूपं=प्रत्येक पदार्थ के
प्रतिरूपः=तदाकार प्रतीत हो रहा है
च=और उनके
बहिः=बाहर भी है

भाष्य—इस श्लोक में भौतिकाग्नि के दृष्टान्त से परमात्मा की व्यापकता निरूपण की गई है कि जैसे एक ही अग्नि भिन्न २ पदार्थों में प्रविष्ट हुआ तदाकार प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में उनसे पृथक् है इसी प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा भी सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक है परन्तु वास्तव में वह उनसे भिन्न है और उनके बाहर भी है।

सं० - अब उक्तार्थ को अन्य दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं —

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च। १०।

पद०—वायुः। यथा। एकः। भुवनं। प्रविष्टः। रूपंरूपं। प्रतिरूपः। बभूव। एकः। तथा। सर्वभूतान्तरात्मा। रूपंरूपं। प्रतिरूपः। बहिः। च।

अर्थ

यथा=जिस प्रकार
एकः, वायुः=एक ही वायु
भुवनं=लोकलोकान्तरों में
प्रविष्टः=प्रविष्ट हुआ
रूपंरूपं=रूप २ के
प्रतिरूपः=तदाकार
बभूव=हो जाता है
तथा=इसी प्रकार
एकः=एक
सर्वभूतान्तरात्मा=सब भूतों का अन्तर्यामी परमात्मा
रूपंरूपं=रूप २ के प्रति
प्रतिरूपः=तदाकार प्रतीत होता है
च=और उनके
बहिः=बाहर भी है

भाष्य—इस श्लोक में उसी परमात्मा को वायु के दृष्टान्त

से पूर्ववत् निरूपण किया है अर्थात् उक्त दोनों श्लोकों में अग्नि और वायु के दृष्टान्त से परमात्मा के सर्वानुगत भाव को स्पष्ट रीति से बोधन किया है कि वह अग्नि तथा वायु के समान सूक्ष्म होने से सर्वगत है।

मायावादी इन दृष्टान्तों से यह आशय निकालते हैं कि प्रत्येक जीव के स्वरूप में ब्रह्म ही तत्तद्रूप से प्रविष्ट होने के कारण जीव ब्रह्म में कोई भेद नहीं, यह भाव उक्त दृष्टान्तों का कदापि नहीं, यदि यह भाव होता तो अग्रिम श्लोक में सूर्य्य का दृष्टान्त देकर परमात्मा को निर्मल बोधन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि जीव ब्रह्म विषयक एकता की यहां कोई चर्चा नहीं किन्तु दोनों दृष्टान्तों द्वारा परमात्मा की सर्वव्यापकता कथन की गई है।

सं०—परमात्मा को सर्वगत निरूपण करके, अब उसके निर्लेप होने में सूर्य्य का दृष्टान्त कथन करते हैं :—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते
चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभू-
तान्तरात्मा न लिप्यते लोक-
दुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

पद०—सूर्य्यः । यथा । सर्वलोकस्य । चक्षुः । न । लिप्यते । चाक्षुषैः । बाह्यदोषैः । एकः । तथा । सर्वभूतान्तरात्मा । न । लिप्यते । लोकदुःखेन । बाह्यः ।

अर्थ

यथा=जैसे सूर्य्य=सूर्य्य

सर्वलोकस्य=सम्पूर्ण संसार का
चक्षुः=नेत्र होने पर भी
चाक्षुषैः, बाह्यदोषैः=चक्षु-सम्बन्धी बाह्य दोषों से
न, लिप्यते=लेप को प्राप्त नहीं होता
तथा=इसी प्रकार
एकः=एक
सर्वभूतान्तरात्मा=सब भूतों का अन्तर्यामी परमात्मा
बाह्यः=उनसे पृथक् होने के कारण
लोकदुःखेन=संसार के दुःख से
न, लिप्यते=लेप को प्राप्त नहीं होता ।

भाष्य—इस श्लोक में भी उसी पूर्वकृत प्रकरण को सूर्य्य के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार प्रकाशक होने के कारण सूर्य्य सारे संसार का नेत्र है अर्थात् उसी के प्रकाश से सब की आंखें तथा संसार के संपूर्ण पदार्थ प्रकाशित होते हैं परन्तु आंखों तथा पदार्थों के दोषों से वह दूषित नहीं होता किन्तु उनसे सदा पृथक् रहता है ।

मायावादियों के मन्तव्यानुकूल यदि अग्नि आदि दृष्टान्तों का यही तत्त्व होता कि ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त होकर जीवरूप बन रहा है तो उक्त श्लोक में जीव के दुःखरूप दोष से उसको भी दूषित कथन किया जाता परन्तु ऐसा नहीं, वह सूर्य्य के समान अलेप है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उक्त श्लोकों का भाव ब्रह्म को सर्वव्यापक बोधन करने में है सर्वरूप बोधन करने में नहीं, जैसा कि ["दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः"] मुण्ड० २।२ इत्यादि वाक्यों में कथन किया है कि वह दिव्य है, सब के बाहर भीतर और अज है ।

सं०—अब परमात्मदर्शन से निरन्तर सुख की प्राप्ति कथन करते हैं:—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥१२॥

पद०—एकः। वशी। सर्वभूतान्तरात्मा। एकं। रूपं। बहुधा। यः। करोति। तं। आत्मस्थं। ये। अनुपश्यन्ति। धीराः। तेषां। सुखं। शाश्वतं। न। इतरेषां।

अर्थ

एकः=एक
वशी=सब को नियम में रखने वाला
सर्वभूतान्तरात्मा=सब का अन्तर्यामी है
यः=जो
एकं, रूपं=एक प्रकृतिरूपी बीज को
बहुधा=बहुत प्रकार से
करोति=करता है
ये=जो
धीराः=धीर पुरुष
तं=उसको
आत्मस्थं=अपने अन्तःकरण में व्यापक रूप से
अनुपश्यन्ति=देखते हैं
तेषां=उनको
शाश्वतं=निरन्तर
सुखं=सुख की प्राप्ति होती है
इतरेषां, न=अन्यों को नहीं

भाष्य—वह पूर्ण परमात्मा जो इस अनन्त ब्रह्माण्ड को अपने नियम में चला रहा है वही प्रकृति को नानारूपों में परिणत करके इस कार्य्यरूप जगत् का विस्तार करता है, उस अन्तर्यामी परमात्मा को जो पुरुष उक्त भाव से देखते हैं वही निरन्तर सुख को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं।

स्मरण रहे कि इस श्लोक में उपास्यउपासकभाव से जीव

ब्रह्म का भेद स्पष्ट है और एक रूप का व्याकरण करने से यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्म इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण नहीं किन्तु निमित्तकारण है, जो स्वयं ही उपादान और स्वयं ही निमित्तकारण हो उसको ["अभिन्ननिमित्तोपादानकारण"] कहते हैं, यदि उक्त कारण उपनिषत्कार को अभिप्रेत होता तो ["एकं रूपं बहुधा यः करोति"] यह कथन कदापि न किया जाता और ["रूप्यते निरूप्यतेऽनेनेति रूपम्"]=जिससे निरूपण किया जाय उसका नाम ["रूप"] है, इस व्युत्पत्ति से "रूप" के अर्थ यहां अव्याकृत प्रधान के हैं, क्योंकि प्रधान=प्रकृति से ही इस सम्पूर्ण संसार का विस्तार होता है, और जीव को शाश्वतसुख की प्राप्ति कथन करने से भी यह स्पष्ट है कि जीव आनन्दस्वरूप नहीं, आनन्दस्वरूप केवल ब्रह्म ही है अर्थात् जीव ["सच्चित्स्वरूप"] और परमात्मा ["सच्चिदानन्दस्वरूप"] है।

सं०—अब चिद्, अचिद् दोनों रूपों से ब्रह्म का भेद कथन करते हैं:—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

पदा०—नित्यः । नित्यानां । चेतनः । चेतनानां । एकः । बहूनां । यः । विदधाति । कामान् । तं । आत्मस्थं । ये । अनुपश्यन्ति । धीराः । तेषां । शान्तिः । शाश्वती । न । इतरेषाम् ।

अर्थ

जो (नित्यानां)=प्रकृत्यादि नित्य पदार्थों में
नित्य:=नित्य
चेतनानां=जीवरूप चेतनों में
चेतन:=चेतन
बहूनां=बहुतों में
एक:=एक है
य:=जो
कामान्=कर्मफल को
विदधाति=देता है
तं=उस
आत्मस्थं=अन्तर्यामी परमात्मा को
ये=जो
धीरा:=धीरपुरुष
अनुपश्यन्ति=देखते हैं
तेषां=उनको
शाश्वती, शान्ति:=निरन्तर शान्ति प्राप्त होती है
इतरेषां, न=औरों को नहीं

भाष्य—जो परमात्मा इस चराचर जगत् के नित्य पदार्थों में नित्य=कूटस्थ नित्य है, चेतनों में चेतन और बहुतों में एक है वही सब जीवों के कर्मों का फलदाता है, जो अनुष्ठानी पुरुष श्रवण मननादिकों से उसका साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को जन्ममरण से रहित मुक्ति का निरन्तर सुख होता है अन्यों को नहीं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि आकाशादि नित्य पदार्थों में वह नित्य है और बुद्धि आदि चेतन पदार्थों में वह मुख्य चेतन है, यहां ["चेतन"] शब्द के अर्थ वह जीव के इसलिये नहीं करते कि यदि जीव ब्रह्म से भिन्न सिद्ध हो गया तो फिर ब्रह्म बनना कठिन हो जायगा, पर उनको यह नहीं सूझा कि ["उपास्यउपासकभाव"] से इस श्लोक में भेद स्पष्ट होने के कारण फिर भी तो ब्रह्म बनना कठिन है, यदि यह कहा जाय कि उपास्यउपासकभाव में तो आरोपित भेद है वास्तव नहीं तो

यह भी कह सकते हैं कि जीव तथा चेतन का भेद भी आरोपित है वास्तव नहीं, फिर चेतन के अर्थ बुद्धि करना व्यर्थ है।

सच तो यह है कि इनको भेद में ऐसी भेद बुद्धि है कि तात्विक भेद को भी भेदन करने के लिए यह सहस्रों अर्थाभास रच लेते हैं, जैसाकि ["द्वासुपर्णा सयुजासखाया०"] ऋ० २।३।१७ इस मन्त्र में भी भोक्ता के अर्थ बुद्धि के करते हैं और चेतन के अर्थ भी बुद्धि के करते हैं, उनका कथन है कि इस मन्त्र में जीव और बुद्धि का परस्पर भेद कथन किया है ईश्वर जीव का नहीं, इनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि इनका यह मन्त्र बुद्धि को भोक्ता और जीव को साक्षीरूप कथन करता तो उपनिषत्कार इसको जीव के मुह्यमान प्रकरण में रखकर जीव ईश्वर का भेद वर्णन न करते, इससे स्पष्ट है कि इस श्लोक में जीव ईश्वर का भेद प्रतिपादन किया गया है बुद्धि जीव का नहीं अर्थात् जब वेद भगवान "उपास्य उपासकभाव" से जीव ईश्वर का भेद स्पष्टतया कथन करते हैं तो फिर उसको आविद्यक मानना सर्वथा भूल है॥

सं—अब उक्त परमात्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप को अनिर्देश्य कथन करते हैं :—

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथन्नु तद्विजानीयां किमु भाति
विभाति वा। १४।

पद०—तत्। एतत्। इति। मन्यन्ते। अनिर्देश्यं। परमं। सुखं। कथं। नु। तत्। विजानीयां। किं। उ। भाति। विभाति। वा।

अर्थ

तत्, एतत्=परमात्मा का उक्त	कथं=कैसे उसको
परमं, सुखं=सर्वोपरि सुखस्व-रूप	विजानीयां=हम जाने और
	उ=यह भी तर्क करते हैं कि
अनिर्देश्यं=घटपटादि पदार्थों की भांति निर्देश्य नहीं	तत्=वह ब्रह्म
	किं=किस प्रकार
इति=ऐसा	भाति=स्वरूप में विराजमान है
मन्यन्ते=विद्वान् लोग मानते हैं अतएव	वा=अथवा उसका किस प्रकार
	विभाति=साक्षात्कार हो सकता है।
नु=तर्क करते हैं कि	

भाष्य—सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा घटपटादि लौकिक पदार्थों की भांति इदमाकार वृत्ति का विषय नहीं, अतएव जिज्ञासु पुरुष को नाना प्रकार के तर्क होते हैं कि मैं उसके स्वरूप को किस प्रकार जानूं वा वह परमात्मा अपने स्वरूप में किस प्रकार विराजमान है अथवा उसका स्वरूप अग्नि तथा सूर्य्य के समान प्रकाशमान है।

सं०—अब उस अप्रतिमस्वरूप में सूर्यादि प्रतिमाओं की न्यूनता कथन करते हैं :—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । १५ ।

पद०—न । तत्र । सूर्य्यः । भाति । न । चन्द्रतारकं । न ।

इमाः। विद्युतः। भान्ति। कुतः। अयं। अग्निः। तं। एव। भान्तं। अनुभाति। सर्वं। तस्य। भासा। सर्वं। इदं। विभाति।

अर्थ

तत्र=उस ब्रह्म में
सूर्य्यः=सूर्य्य
न, भाति=प्रकाश नहीं कर सकता
न, चन्द्रतारकं=और न चांद तथा तारे प्रकाश कर सकते हैं
इमाः, विद्युतः=यह बिजलियां भी
न, भान्ति=प्रकाश नहीं कर सकतीं
अयं=यह
अग्निः=भौतिकाग्नि
कुतः=कैसे प्रकाश कर सकती है
तं, एव, भान्तं=उसी स्वयं प्रकाश से
सर्वं=सब
अनुभाति=प्रकाशित होते हैं
तस्य=उसकी
भासा=दीप्ति से
इदं, सर्वं=यह सब
विभाति=भले प्रकार प्रकाशित होता है।

भाष्य – इससे पूर्व श्लोक में यह प्रश्न किया था वह ब्रह्म प्रकाशित होता है वा स्वयंप्रकाश है।? इसका उत्तर इस श्लोक में यह दिया गया है कि उस ब्रह्म में यह सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, विजुली आदि प्रकाश नहीं करसकते फिर अग्नि की तो कथा ही क्या, किन्तु यह सब सूर्य्यादि उससे प्रकाशित होकर प्रकाश करते हैं वह स्वयं प्रकाश होने से किसी के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, प्रत्युत वही इन सब का उत्पन्न करने वाला है, जैसाकि ["सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत"] ऋ० ८।८।४८।२ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि परमात्मा सूर्य्य चन्द्रादिकों को रचकर प्रकाशित करता है, इससे सिद्ध है कि सूर्य्यादि परप्रकाश्य और ब्रह्म स्वतःप्रकाश है।

भाव यह है कि सूर्य्यादिकों के प्रकाश तथा प्रतीकों से ब्रह्म का प्रकाश कदापि नहीं हो सकता अर्थात् जब सूर्य्यादि प्रतीकों की इतनी न्यूनता ब्रह्म में है तो फिर उनको ब्रह्मप्रतीक कथन करना असङ्गत है, और शवलवादियों को भी इससे शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि सूर्य्यादि शवलवाद के अभिप्राय से ब्रह्म-रूप होते तो उनकी तुच्छता इस मन्त्र में कथन न की जाती, इससे सिद्ध है कि परमात्मा की न कोई प्रतीक है और न वह शवलरूप से नानारूप है किन्तु नित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन सबका प्रकाशक परमात्मा स्वस्वरूप से सदा विराजमान है नानारूप नहीं।

पञ्चमी वल्ली समाप्ता

अथ षष्ठीवल्ली प्रारभ्यते

सं०—अब ब्रह्म को निमित्तकारणत्वेन कथन करते हैं:—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवमृतमुच्यते। तस्मिँ-ल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्॥ १॥

पद०—उर्ध्वमूलः। अवाक्शाखः। एषः। अश्वत्थः। सनातनः। तत्। एव। शुक्रं। तत्। ब्रह्म। तत्। एव। अमृतं।

उच्यते । तस्मिन् । लोकाः । श्रिताः । सर्वे । तत् । उ । न । अत्येति । कश्चन । एतत् । वै । तत् ।

अर्थ

ऊर्ध्वमूलः=ऊपर को मूल=सर्वोपरि ब्रह्म कारण है जिसका
अवाक्शाखः=नीचे को शाखा=कार्य्य है जिसका, ऐसा
एषः=यह
अश्वत्थः=अनित्य संसाररूप वृक्ष
सनातनः=प्रवाहरूप से अनादि है, ऐसा वृक्ष जिसके आधार पर स्थित है
तत्, एव=वही ब्रह्म
शुक्रं=बलस्वरूप
तत्, उ=वही
ब्रह्म=बड़ा
अमृतं=अविनाशी है, ऐसा विद्वान् लोग
उच्यते=कथन करते हैं
तस्मिन्=उस ब्रह्म में
सर्वे=सब
लोकाः=लोक
श्रिताः=स्थित हैं
तत्=उस ब्रह्म को
कश्चन=कोई
न अत्येति=उल्लङ्घन नहीं कर सकता
एतत्, वै तत्=वही ब्रह्म है जो तैने पूछा था

भाष्य—इस श्लोक में ब्रह्म को निमित्तकारण कथन किया गया है अर्थात् इस कार्य्य रूप जगत् को अधिष्ठान मानकर निमित्तकारणत्वेन अधिष्ठाता ब्रह्म को निरूपण किया है, और इस संसार को अश्वत्थ का दृष्टान्त इस अभिप्राय से दिया है कि यह स्थिर नहीं, जैसाकि ["न श्वस्तिष्ठतीति अश्वत्थः"]= जो कल को स्थिर न रहे उसका नाम ["अश्वत्थ"]=एकरस न रहने वाला विनाशी है, और प्रवाहरूप से सनातन है, इस जगत् को रचकर जिसने अपनी अपार महिमा का प्रकाश

किया है वह ब्रह्म है उसी में यह सारा संसार स्थित है, उसके नियमों का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता वह अमृत=मृत्यु से रहित है।

मायावादी ["ऊर्ध्वमूल"] के अर्थ उपादानकारण के करते हैं कि ब्रह्म इस चराचर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, उनका यह कथन सर्वथा असङ्गत है, यदि ब्रह्म उपादान-कारण होता तो उसको अमृत कदापि कथन न किया जाता, क्योंकि परिणामीनित्य को अमृत कोई भी नहीं कह सकता, इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त-कारण है, यदि ब्रह्म उपादान कारणत्वेन विवक्षित होता तो इस श्लोक में ब्रह्म और जगत् का आधाराधेयभाव निरूपण न किया जाता, जिनके मत में सब कुछ ब्रह्म हैं उनके मत में आधाराधेयभाव नहीं बन सकता, इसी अभिप्राय से स्वा० शङ्कराचार्य्य का यह मन्तव्य है कि ब्रह्म में व्याप्यव्यापकभाव नहीं, क्योंकि जब सब कुछ ब्रह्म ही है तो व्याप्य कौन और व्यापक कौन, व्याप्यव्यापकभाव तो द्वैतवादियों के मत में कहा जा सकता है अद्वैतवादियों के मत में नहीं।

और जिन लोगों का यह कथन है कि अश्वत्थरूपी वृक्ष यहां ब्रह्म को कथन किया गया है, उनकी अत्यन्त भूल है, क्योंकि यह कौन कह सकता है कि कल को ब्रह्म न रहेगा, ब्रह्म तीनों कालों में एकरस रहता है जैसा कि पीछे उपनिषत्कार निरूपण कर चुके हैं, फिर उक्त अर्थ करना ठीक कैसे ? यदि यह कहा जाय कि शबलरूप से वह अनित्य है तो फिर उसको अमृत क्यों कथन किया गया ? इत्यादि विकल्पों से स्पष्ट है कि ब्रह्म को अश्वत्थरूप वृक्ष मानने वाले टीकाकारों ने ["तदेवशुक्रम्"] वाक्य के अर्थों को नहीं समझा, वस्तुतः बात यह है कि

["तदेव"] शब्द से मूल का परामर्श है मूलवाले का नहीं। और जो शवलवादियों ने यहां यह लिखा है कि यह ब्रह्मरूपी वृक्ष शाखारूप से शवल तथा मूलरूप से शुद्ध है और शवल की उपासना के पीछे शुद्ध की उपासना होती है, उनका यह कथन लोक से भी अत्यन्त विरुद्ध है, क्या कोई प्रथम शाखाओं पर चढ़कर फिर मूल पर आता है कदापि नहीं, मूल के द्वारा शाखाओं पर जाता है, इसी प्रकार यहां इन्होंने चराचर जड़-वस्तु की पूजा के अभिप्राय से शवल को शाखारूप माना है जो अत्यन्त असङ्गत है, उपनिषदों में यह भाव भर देना कि जड़ पदार्थों की पूजा करने से परमात्मा की पूजा होती है सर्वथा असम्भव है, शवलवाद का विस्तारपूर्वक निरास करना यहां प्रकृत नहीं, जहां शवलवादियों ने इस मत को बलपूर्वक स्थापित किया है वहां ही हम इस पौराणिकाभास मत का बलपूर्वक निरास करेंगे, यहां प्रकृत यह है कि जो ब्रह्म इस चराचर वस्तु-जात का आदिमूल=सर्वाधार है वही अमृत है अन्य जड़वर्ग अमृत नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्म के ज्ञान से अमृतपद की प्राप्ति कथन करते हैं:—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। २।

पद०—यत्। इदं। किंच। जगत्। सर्वं। प्राणे। एजति। निःसृतं। महद्भयं। वज्रं। उद्यतं। यः। एतत्। विदुः। अमृताः। ते। भवन्ति।

अर्थ

यत्, किंच = जो कुछ
जगत् = संसार है
इदं, सर्वं = यह सब
प्राणे = सब के प्राणप्रद परमात्मा में
एजति = चेष्टा करता है और उसी से
निःसृतं = उत्पन्न होता है, वह परमात्मा दुराचारी पुरुषों के लिये
उद्यतं, वज्रं, इव = हाथ में लिये हुए शस्त्र के समान
महद्भयं = अत्यन्त भयरूप है
ये = जो पुरुष
एतत् = इस ब्रह्म को
विदुः = जानते हैं
तं = वे
अमृताः = मृत्यु से रहित
भवन्ति = हो जाते हैं।

भाष्य—यह सब जगत ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी की सत्ता से चेष्टा करता है और उसी के भय से सूर्य्य चन्द्रमादि सम्पूर्ण पदार्थ नियमानुसार अपना २ काम कर रहे हैं, कोई उसकी मर्यादा को जो उसने सृष्टि के आदि में बना दी है नहीं तोड़ सकता, इस प्रकार जो उसकी महिमा को जानते हैं वह मृत्यु को जीतकर अमृत हो जाते हैं और जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं उनके लिये परमात्मा उठाये हुए वज्र के समान भयरूप है।

तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा सब का प्राणरूप अर्थात् इस चराचर ब्रह्माण्ड को चेष्टा देनेवाला अथवा प्राणों के समान प्रिय होने से प्राण कथन किया गया है, इस प्राणरूप परमात्मा में यह चराचर जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार परमात्मा के सर्वाधाररूप को कथन करके उसके भयप्रदरूप का वर्णन किया है कि वह परमात्मा प्राणघातक वज्र के समान भयप्रद है

अर्थात् उसका नियम तोड़ने से पुरुष को अनन्त दुःखों की प्राप्ति होती है, और जो अनुष्ठानी पुरुष परमात्मा के नियमों का उल्लंघन नहीं करता वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

सं०—अब उक्त भयरूप परमात्मा के बल का महत्व कथन करते हैं:—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्य्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति
पञ्चमः। ३।

पद०—भयात्। अस्य। अग्निः। तपति। भयात्। तपति। सूर्य्यः। भयात्। इन्द्रः। च। वायुः। च। मृत्युः। धावति। पञ्चमः।

अर्थ

अस्य=इस ब्रह्म के
भयात्=भय से
अग्निः=अग्नि
तपति=तपता है
च=और इसी के
भयात्=भय से
सूर्य्यः=सूर्य्य
तपति=तपता है
च=और इसी के
भयात्=भय से
इन्द्रः=विद्युत् और
वायुः=वायु चेष्टा करते हैं तथा
पञ्चमः=पांचवां
मृत्युः=काल, इसी के भय से
धावति=दौड़ता है।

भाष्य—अग्नि, सूर्य्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु यह पांचों परमात्मा के भय से निरन्तर अपना २ कार्य्य कर रहे हैं, भय से तात्पर्य्य यहां नियम का है अर्थात् यह सब परमात्मा के

बांधे हुए नियम में चल रहे हैं, यहां अग्नि आदिकों से तात्पर्य्य जड़ पदार्थों का है किसी देवताविशेष का नहीं, और जिनके मत में अग्नि आदिकों के अधिष्ठातृदेवताविशेष हैं अथवा शवलरूप से अग्नि आदि सब ब्रह्म हैं उनके मत में यह सब ब्रह्माधीन कैसे ? क्योंकि देवता पक्ष में अधिष्ठातृ देवता उनके मत में विभु है और शवलवाद के अभिप्राय से उसका ब्रह्म से भेद नहीं, फिर किसको किसका भय, यहां अग्न्यादिकों की तुच्छता बोधन करने से स्पष्ट सिद्ध है कि अग्न्यादि कोई चेतन देवता नहीं और नाही शवल ब्रह्म हैं किन्तु ब्रह्म का ऐश्वर्य्यरूप अचिद् पदार्थ हैं।

सं०—अब ब्रह्मज्ञानियों को उत्तम जन्मों की प्राप्ति कथन करते हैं:—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय
कल्पते । ४ ।

पद०—इह । चेत् । अशकत् । बोद्धुं । प्राक् । शरीरस्य । विस्रसः । ततः । सर्गेषु । लोकेषु । शरीरत्वाय । कल्पते ।

अर्थ

चेत्=यदि
इह=इसी जन्म में
शरीरस्य=शरीर के
विस्रसः=नाश होने से
प्राक्=पूर्व
बोद्धुं=जानने को
अशकत्=समर्थ होता है तो संसार के बन्धन से निर्मुक्त हो जाता है, और
ततः=मुक्त होने से
सर्गेषु, लोकेषु=सृष्टि के आदि काल में

शरीरस्याय=शरीर धारण करने कल्पते=समर्थ होता है।
लिये

भाष्य—जो पुरुष शरीर के नाश होने से प्रथम ही उस भय-प्रद परमात्मा को जान लेते हैं अर्थात् उक्त ब्रह्म का तत्वज्ञान इसी जन्म में उपलब्ध कर लेते हैं वह भय से छूट जाते हैं और अज्ञानी पुरुष वारंवार जन्म धारण कर मृत्यु आदि के भय से भयभीत रहते हैं।

भाव यह है कि जो मुक्त पुरुष अमैथुनी सृष्टि में जन्म धारण करते हैं वह उन जन्मों के लिये स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और मुक्ति की अवस्था को भोगकर फिर वह मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की योनियों को प्राप्त होते हैं अर्थात् उक्त ब्रह्म का ज्ञाता साधारण जन्मों को धारण नहीं करता किन्तु सर्ग प्रमुख में उत्तम जन्मों को प्राप्त होता है।

मायावादियों को यहां अत्यन्त कठिनाई पड़ती हैं, क्योंकि उनके मत में ब्रह्मवेत्ता के जन्म का अभाव निरूपण किया गया है, इसलिये वह लोग ["तद्ब्रह्म ज्ञात्वा संसारान्मुच्यते नो चेत्तर्हि ततो ब्रह्माज्ञानात्"]=ब्रह्म के ज्ञान द्वारा संसार से मुक्त हो जाते हैं और यदि ब्रह्म को नहीं जानते तो इस संसार में जन्म लेते हैं, इतना अध्याहार=ऊपर से मनमाना अर्थ डालकर अपना निर्वाह करते हैं, और कई एक लोग ["इहचेन्नाशकत्"] =यहां समर्थ नहीं हो सकता, ऐसा पाठ बनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं, यह खेंचतान पुनर्जन्म से भयभीत लोगों की ओर से की जाती है अन्यथा इसकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि मुक्ति अवस्था के अनन्तर उत्तम जन्म पाना किसको इष्ट नहीं, या यों कहो कि जब मुक्त पद को प्राप्त हुआ जीव ब्रह्माधीन

रहता है तो उसकी स्वाधीनता क्या? हमारे विचार में यह वैदिक सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि जीव मुक्ति अवस्था के अनन्तर फिर जन्म धारण करता है और इसी अभिप्राय से यहां ["सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते"] कथन किया गया है।

सं०—अब ब्रह्म ज्ञानी को सर्वोत्तम कथन करते हैं :—

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।५।

पद०—यथा। आदर्शे। तथा। आत्मनि। यथा। स्वप्ने। तथा। पितृलोके। यथा। अप्सु। परिइव। ददृशे। तथा। गन्धर्वलोके। छायातपयोः। इव। ब्रह्मलोके।

अर्थ

यथा=जिस प्रकार
आदर्शे=दर्पण में पदार्थ स्पष्ट प्रतीत होता है
तथा=इसी प्रकार
आत्मनि=शुद्ध मन वालों की मनोवृत्ति में परमात्मा की निर्भ्रान्त प्रतीति होती है और
यथा=जैसे
स्वप्ने=स्वप्नावस्था में जाग्रत् के संस्कारों से पदार्थों की अन्यथा प्रतीति पाई जाती है
तथा=वैसे ही
पितृलोके=केवल कर्मी लोगों की अवस्था में परमात्मा की प्रतीति होती है और
यथा=जिस प्रकार
अप्सु=जलों में
परिइव, ददृशे=चारों ओर से अवयव दीखते हुए भी दर्पणवत् स्पष्ट नहीं दीखते

तथा=उसी प्रकार
गन्धर्वलोके=रसिक लोगों की अवस्था में परमात्मा की प्रतीति आभासमात्र होती है परन्तु
ब्रह्मलोके=ब्रह्म ज्ञानियों की अवस्था में
छायातपयोः, इव=छाया और धूप के समान परमात्मा का ज्ञान यथावस्थित होता है।

भाष्य—इस श्लोक में ब्रह्मज्ञानी, रसिक और केवल कर्मी लोगों को इस अभिप्राय से वर्णन किया गया है कि जैसे शमदमादि सम्पत्ति से स्वच्छदर्पण की भांति शुद्ध मन वाले पुरुषों को हस्तामलकवत् परमात्मसाक्षात्कार होता है वैसे रसिक और केवलकर्मानुष्ठानियों को नहीं।

स्मरण रहे कि यहां पितृलोक, गन्धर्वलोक और ब्रह्मलोक कोई लोकविशेष नहीं किन्तु अवस्थाविशेष हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के होने वा न होने में लोकविशेष हेतु नहीं हो सकता, यदि लोकविशेष हेतु होता तो इसी देश में कोई ज्ञानी, कोई विज्ञानी, कोई प्राकृत और कोई नितान्तप्राकृत न पाया जाता पर ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि उक्त श्लोक में पितृलोकादि एक अवस्थाविशेष हैं और इनमें से जो ब्रह्मज्ञान की अवस्था वाले पुरुष हैं वही ब्रह्मलोक में विराजमान होने के कारण सर्वोत्तम हैं।

सं०—अब शरीर और इन्द्रियों से जीवात्मा को भिन्न जानने वाले पुरुष के लिये शोकाभाव कथन करते हैं:—

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पद०—इन्द्रियाणां । पृथग्भावं । उदयास्तमयौ । च । यत् । पृथगुत्पद्यमानानां । मत्वा । धीरः । न । शोचति ।

अर्थ

यत्=जो
पृथगुत्पद्यमानानां=भिन्न २ तत्वों से उत्पन्न होने वाले
इन्द्रियाणां=इन्द्रियों के
पृथग्भावं=भेद को
च=और
उदयास्तमयौ=उत्पत्तिविनाश तथा जाग्रतावस्था में उदय और सुषुप्ति अवस्था में अस्त होना आदि इन्द्रियों के धर्मों को
मत्वा=जानता है वह
धीरः=विवेकी पुरुष
न, शोचति=शोक नहीं करता

भाष्य—जो लोग यह मानते हैं कि शरीर और इन्द्रियों से पृथक् कोई जीवात्मा नहीं वह देहादि के नाश होने पर अपना नाश मानते हुए नितान्त शोकसागर में डूबे रहते हैं और जो जीवात्मा को शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् अजन्मा तथा अनादि मानते हैं वह शोक से मुक्त हो जाते हैं ।

भाव यह है कि जो पुरुष इन्द्रियों के कारण आकाशादि तत्वों तथा उनके भिन्न २ भावों को यथार्थ रीति से जानकर अपने आत्मा के अविनाशीभाव को अनुभव करता है उसको शोक नहीं होता ।

सं०—अब दो श्लोकों में परमात्मा की सूक्ष्मता निरूपण करते हैं:—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्त-
मुत्तमम् ॥ ७ ॥

पद०—इन्द्रियेभ्यः। परं। मनः। मनसः। सत्त्वं। उत्तमं। सत्त्वात्। अधि। महान्। आत्मा। महतः। अव्यक्तं। उत्तमं।

अर्थ

इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियों से
मनः=मन
परं=सूक्ष्म है
मनसः=मन से
सत्त्व=सत्वगुणविशिष्ट बुद्धि
उत्तमं=उत्तम है
सत्त्वात्=बुद्धि से
अधि=ऊपर
महान्, आत्मा=महत्तत्व है
महतः=महत्तत्व से
अव्यक्तं=अव्याकृत प्रकृति
उत्तमं=सूक्ष्म है

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ८॥

पद०—अव्यक्तात्। तु। परः। पुरुषः। व्यापकः। अलिङ्ग। एव। च। यत्। ज्ञात्वा। मुच्यते। जन्तुः। अमृतत्वं। च। गच्छति।

अर्थ

अव्यक्तात्=सब के उपादान कारण प्रकृति से
तु=निश्चय करके
व्यापकः=सर्वव्यापक
च=और
अलिङ्गः, एव=जिसका कोई चिन्ह नहीं, ऐसा
पुरुषः=परमात्मा
परः=अतिसूक्ष्म है
यत्=जिसको
ज्ञात्वा=जानकर
जन्तुः=यह जीव
मुच्यते=अविद्या के बन्धन से छूट जाता है
च=और
अमृतत्वं=मुक्ति को प्राप्त होता है।

भाष्य—उक्त दोनों श्लोकों में परापर भाव से परमात्मा की परम सूक्ष्मता और उसके ज्ञान से जीव की मोक्ष कथन की है अर्थात् प्रकृत्यादि से परमात्मा परमसूक्ष्म, और लिङ्गवर्जित है, उसी को जानकर प्राणी देहादि बन्धन से छूटकर मुक्ति को प्राप्त होता है।

तृतीय वल्ली में भी ["इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था०"] इत्यादि श्लोकों में परमात्मा की परम सूक्ष्मता प्रतिपादन की गई है, यहां पुनः प्रतिपादन करने से तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा का स्वरूप अतिसूक्ष्म होने के कारण विशेषविवरणार्ह है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं।

सं०—अब एकमात्र परमात्मज्ञान को मुक्ति का साधन कथन करते हैं :—

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। ९।

पद०—न। सन्दृशे। तिष्ठति। रूपं। अस्य। न। चक्षुषा। पश्यति। कश्चन। एनं। हृदा। मनीषा। मनसा। अभिक्लृप्तः। ये। एतत्। विदुः। अमृताः। ते। भवन्ति।

अर्थ

अस्य=इस परमात्मा का
रूपं=रूप
सन्दृशे=प्रत्यक्ष में
न, तिष्ठति=नहीं है, और
एनं=इसको
कश्चन=कोई भी
चक्षुषा=चक्षुरादि इन्द्रियों से
न, पश्यति=नहीं देख सकता
हृदा=हृदयदेश में स्थित
मनीषा=मनन करने वाली

मनसा=बुद्धि से
अभिक्लृप्तः=प्रकाशित हुआ जाना जा सकता है
ये=जो पुरुष
एतत्=इसको
विदुः=जानते हैं
ते=वे
अमृताः=अमृत
भवन्ति=हो जाते हैं ।

भाष्य—इस श्लोक में परमात्मा का इन्द्रियागोचर निरूपण करके यह कथन किया है कि जो पुरुष मननशीला बुद्धि से योग द्वारा परमात्मा का दर्शन करते हैं वह अमृत=मुक्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् परमात्मा का कोई रूप न होने से वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि पूर्व श्लोक में उसको अलिङ्ग और अव्यक्त कथन किया गया है, जो पुरुष संस्कृत मन द्वारा परमात्मा का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करते हैं वही उसको जान सकते हैं अन्य नहीं ।

सं०—अब जीव की मुक्ति अवस्था का कथन करते हैं :—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

पद०—यदा । पंच । अवतिष्ठन्ते । ज्ञानानि । मनसा । सह । बुद्धिः । च । न । विचेष्टते । तां । आहुः । परमां । गतिं ।

अर्थ

यदा=जब
पञ्च=पांच
ज्ञानानि=ज्ञानेन्द्रिय
मनसा, सह=मन के साथ
अवतिष्ठन्ते=स्थिर हो जाते हैं
च=और

बुद्धिः=बुद्धि
न, विचेष्टते=विविधचेष्टा नहीं करता
तां=उसको विद्वान् लोग
परमां, गतिं=परमगति=मुक्ति
आहुः=कहते हैं

भाष्य जब पांचों ज्ञानेन्द्रिय मन के सहित अपने २ विषयों से उपरत होकर निस्तब्ध=शान्त हो जाते हैं और बुद्धि भी आत्मविरुद्ध विविध चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है उसको विद्वान् लोग मुक्ति कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जिस अवस्था में उक्त इन्द्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों का ग्रहण नहीं करतीं और नाही वहां यह लोक विषयणी बुद्धि ज्ञान का काम देती है पर जीव का आत्मभूत सामर्थ्य उस अवस्था में रहता है, मननशील पुरुष उस अवस्था को मुक्ति अवस्था कहते हैं।

सं०—अब उक्त अवस्था को योगरूप से कथन करते हैं:—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

पद०—तां। योगं । इति । मन्यन्ते । स्थिरां। इन्द्रिय-धारणां। अप्रमत्तः। तदा। भवति। योगः। हि। प्रभवाप्ययौ।

अर्थ

तां=उस
स्थिरां=स्थिर
इन्द्रियधारणां=आभ्यन्तर इन्द्रिय=बुद्धि की धारणा को
योगं, इति=योग
मन्यन्ते=मानते हैं
तदा=उस अवस्था में जीव
अप्रमत्तः=प्रमाद रहित होता है
हि=निश्चय करके
योगः=योग

प्रभवाप्ययौ=शुभ संस्कारों का प्रवर्तक और अशुभ संस्कारों का निवर्तक है।

भाष्य—आभ्यन्तरेन्द्रिय=बुद्धि की उस स्थिरता का नाम योग है जिसमें वह चेष्टा नहीं करती, उस समय पुरुष स्वरूप में स्थित होने के कारण क्लेशादि प्रमादों से रहित होता है, क्योंकि ईश्वरीय गुणों के प्रकाश और क्लेशादिकों के नाश का नाम ["योग"] है, इसी भाव को ["योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"] यो० १।२ =चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं, इस सूत्र में कथन किया है, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण ["योगार्य्य-भाष्य"] में स्पष्ट है, विशेषाभिलाषी वहां देख लें।

सं०—अब दो श्लोकों में योग के विषयभूत परमात्मा को इन्द्रियागोचर निरूपण करते हुए उसका अस्तित्व कथन करते हैं:—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।१२।

पद०—न । एव । वाचा । न । मनसा । प्राप्तुं । शक्यः । न । चक्षुषा । अस्ति । इति । ब्रुवतः । अन्यत्र । कथं । तत् । उपलभ्यते ।

अर्थ

एव=निश्चय करके परमात्मा	ब्रुवतः=कथन करने वाले पुरुष से
न, चक्षुषा=न चक्षुः से	अन्यत्र=भिन्न
न मनसा=न मन से	तत्=वह
न, वाचा=न वाणी से	कथं=कैसे
प्राप्तुं, शक्यः=प्राप्त होने योग्य है	उपलभ्यते=प्राप्त हो सकता है
अस्ति, इति=वह है, इस प्रकार	

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयाः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति ।१३।

पद०—अस्ति । इति । एव । उपलब्धव्यः । तत्वभावेन । च । उभयोः । अस्ति । इति । एव । उपलब्धस्य । तत्वभावः । प्रसीदति ।

अर्थ

च=और
उभयोः=अस्ति, नास्ति इन दोनों में
तत्वभावेन=तत्व की इच्छा से
अस्ति=है
इति, एव=यही
उपलब्धव्यः=मानना ठीक है,
क्योंकि
अस्ति=है
इति, एव=ऐसा ही
उपलब्धस्य=जानने वाले को
तत्वभावः=तत्वज्ञान की
प्रसीदति=प्राप्ति होती है

भाष्य—वह पूर्ण परमात्मा चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय न होने से प्रत्यक्षवादी नास्तिक लोगों को उपलब्ध नहीं होता परन्तु जिनका आस्तिकभाव है वह शमदमादि सम्पन्न होकर परमात्मा को उपलब्ध करते हैं अर्थात् अस्ति और नास्ति इन दोनों भावों में से "अस्ति"=है, ऐसा मानने वाला तत्वज्ञान को उपलब्ध करके सदा प्रसन्न रहता है और "नास्ति"=नहीं है, ऐसा मानने वाला सदा अप्रसन्न चित्त तथा दुःखी रहता है।

भाव यह है कि पुरुषों को तद्धर्मतापत्तिरूप योग द्वारा परमात्मा को उपलब्ध करना चाहिये अर्थात् जब जीव परमात्मा के निष्पापादि भावों को धारण कर लेता है तब उसको परमात्मा के अस्तित्व का भली भांति साक्षात्कार हो

जाता है और साक्षात्कार होने से पुरुष को सुखविशेष की उपलब्धि होती है।

सं०—अब परमात्मा के साक्षात्कार का फल कथन करते हैं:—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि-श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृत भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। १४।

पद०—यदा। सर्वे। प्रमुच्यन्ते। कामाः। ये। अस्य। हृदि। श्रिताः। अथ। मर्त्यः। अमृतः। भवति। अत्र। ब्रह्म। सं। अश्नुते।

अर्थ

यदा=जब
सर्वे कामाः=सब कामनायें
ये=जो
अस्य=इस पुरुष के
हृदि=हृदय में
श्रिताः=स्थित हैं
प्रमुच्यन्ते=दूर हो जाती हैं
अथ=तब
मर्त्यः=यह मरणधर्मा पुरुष
अमृतः=मुक्त
भवति=हो जाता है
अत्र=इस अवस्था में
ब्रह्म=परमात्मा के
समश्नुते=आनन्द को भोगता है

भाष्य—जब सारी कामनायें जो चिरकाल से जीवात्मा के हृदय में स्थित हैं परमात्मा के ज्ञान से निवृत्त होकर छिन्नभिन्न हो जाती हैं तब यह पुरुष मुक्ति अवस्था को प्राप्त होता है, क्योंकि कामना ही पुरुष के बन्धन का हेतु होती हैं, कामनाओं के निवृत्त होने पर फिर कोई बन्धन का हेतु नहीं रहता और पुरुष सम्यक्तया परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

भाव यह है कि जब पुरुष के हृदयगत सब कामनायें दूर हो जाती हैं तब वह ब्रह्म के अपहतपाप्मादि धर्मों का धारण करके निष्पाप हो जाता है, उस अवस्था में वह तद्धर्मतापत्तिरूप योग से परमात्मा के आनन्द को अनुभव करता है।

सं०—अब उक्त भाव को शास्त्र का सर्वोपरि प्रयोजन कथन करते हैं:—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येताव-
दनुशासनम् । १५ ।

पद०—यदा । सर्वे । प्रभिद्यन्ते । हृदयस्य इह । ग्रन्थयः । अथ । मर्त्यः । अमृतः । भवति । एतावत् । अनुशासनं ।

अर्थ

यदा=जब
इह=इसी जन्म में
हृदयस्य=हृदय की
सर्वे, ग्रन्थयः=कामनारूपी सारी गांठें
प्रभिद्यन्ते=भेद को प्राप्त हो जातीं=खुल जाती हैं
अथ=तब
मर्त्यः=यह मरणधर्मा जीव
अमृतः=मृत्युरहित
भवति=हो जाता है
एतावत्=यहां तक ही
अनुशासनं=शास्त्र का उपदेश है।

भाष्य—जब इस मरणधर्मा पुरुष के हृदय की ग्रन्थी खुल जाती है अर्थात् जब स्त्री, पुत्र धनादि पदार्थों में लोलुपता तथा मैं दुखी हूँ, मैं सुखी हूँ, इत्यादि असत्प्रत्ययों को उत्पन्न करने वाली सारी ग्रन्थियें यथार्थज्ञान से छिन्न भिन्न हो जाती हैं तब यह पुरुष कामनाओं से छूटकर मुक्त हो जाता है।

भाव यह है कि जब पुरुष की मिथ्याज्ञानमूलक सब वासनायें नाश को प्राप्त हो जाती हैं तथा उसके प्रारब्धकर्म भोग द्वारा क्षय हो जाते हैं और कामनाओं के न रहने से अन्य प्रारब्ध कर्म उत्पन्न नहीं होते तब मनुष्य अमृत हो जाता है इसी अवस्था पर्य्यन्त वेद शास्त्र का तात्पर्य्य इसको अनुशासन करने का है।

मायावादी उक्त श्लोक के यह अर्थ करते हैं कि जब तक जीव ब्रह्म नहीं बनता तभी तक इसको वेदशास्त्र द्वारा शिक्षा की आवश्यकता है ब्रह्म बनने पर फिर इस को कोई शिक्षा शेष नहीं रहती और पूर्व श्लोक का यह तात्पर्य्य वर्णन करते हैं कि वह मृत्युकाल में ही ब्रह्म हो जाता है, इन के यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि अग्रिम श्लोक में ब्रह्मवेत्ता की मूर्द्धाद्वारा उत्क्रान्ति कथन की गई है।

सं०—अब जीव की उत्क्रान्ति कथन करते हैं:—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धा-नमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्व-मेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। १६।

पद०—शतं। च। एका। च। हृदयस्य। नाड्यः। तासां। मूर्द्धानं। अभिनिःसृता। एका। तया। ऊर्ध्वं। आयन्। अमृतत्वं। एति। विष्वङ्। अन्याः। उत्क्रमणे। भवन्ति।

अर्थ

हृदयस्य=हृदय की
शतं, च, एका=एकसौएक
नाड्यः=नाड़ी हैं
तासां=उन में से
एका=एक
मूर्द्धानं=ब्रह्मरन्ध्र में

अभिनिःसृता=निकली हुई है
तया=उस नाड़ी द्वारा
ऊर्ध्वं=ऊर्ध्वदेश को
आयन्=गमन करता हुआ जीवात्मा
अमृतत्वं=अमृत पद को
एति=प्राप्त होता है
च=और
अन्याः=अन्य सौ नाड़ियें
उत्क्रमणे=जीवात्मा की उत्क्रान्ति में
विष्वङ्=नानाविध गतियों का हेतुभूत
भवन्ति=होती हैं।

भाष्य--मनुष्य के हृदयदेश में एकसौएक नाड़ियां हैं और इन्हीं की शाखायें सारे शरीर में फैली हुई हैं अर्थात् जीव की उत्क्रान्ति हेतुभूत एकसौएक नाड़ी हैं, उनमें से एक "सुषुम्ना" नामक नाड़ी है जो हृदय स्थान से सीधी मूर्द्धादेश को चली गई है इसी के द्वारा गति करने वाला योगी पुरुष अमृतपद को लाभ करता है और जो आत्मतत्व से बहिर्मुख अन्य संसारी जन हैं वह अन्य नाड़ियों द्वारा निष्क्रमण करके नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्मभाव का अधिकारी योगी पुरुष अपने योगज सामर्थ्य से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा निष्क्रमण करता है और अन्य लोगों का निष्क्रमण भिन्न २ छिद्रों द्वारा होता है, क्योंकि उनका सामर्थ्य अपनी शक्तियों को स्वाधीन रखने का नहीं होता इस कारण दैवाधीन जिस ओर उनकी गति होती है उसी ओर से उनका निष्क्रमण होता है और योगी संयमी होने से उक्त विषम मार्गों द्वारा गमन नहीं करता।

यहां मायावादियों से प्रष्टव्य है कि जब अमृत पद की प्राप्ति में जीव की उत्क्रान्ति ही हेतु है, या यों कहो कि ब्रह्मरन्ध्र द्वारा गमन करना ही अमृत पद का हेतु है तो "अहंब्रह्मास्मि" वाक्यजन्य ज्ञान की क्या विशेषता? अथवा ज्ञानी का उत्क्रमण

नहीं होता वह उसी स्थल में ज्यों का त्यों ब्रह्म बन जाता है इसमें क्या सार ? उस श्लोक से यह स्पष्ट होगया कि वैदिक अमृतपद केवल ज्ञानजन्य ही नहीं किन्तु अनुष्ठानजन्य भी है, सो जो सत्कर्मानुष्ठानी ब्रह्मरन्ध्र द्वारा गमन करेगा वही अमृत पद का भागी होगा अन्य नहीं।

सं—अब उक्त अमृत पद के हेतुभूत परमात्मज्ञान को कथन करते हुए इस उपनिषद् का उपसंहार करते हैं :—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जा-दिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।१७।

पद०—अङ्गुष्ठमात्रः। पुरुषः। अन्तरात्मा। सदा। जनानां। हृदये। सन्निविष्टः। तं। स्वात्। शरीरात्। प्रवृहेत्। मुञ्जात्। इव। इषीकां। धैर्येण। तं। विद्यात्। शुक्रं। अमृतं। तं। विद्यात्। शुक्रं। अमृतं। इति।

अर्थ

पुरुषः=परमात्मा जीव के हृदय-देश में प्रविष्ट होने के कारण
अंगुष्ठमात्रः=अंगुष्ठमात्र कथन किया गया है
अन्तरात्मा=वह सब जीवों का अन्तरात्मा है और
सदा=सर्वदा
जनानां=मनुष्यों के
हृदये=हृदयदेश में स्थिर है
तं=उसको
धैर्येण=धैर्य्य से
मुञ्जात्, इषीकां, इव=मूंज से शलाका की भांति
स्वात्, शरीरात्=अपने शरीर से

प्रवृहेत्=पृथक् करे
तं=उस परमात्मा को
अमृतं=अमृतस्वरूप
शुक्रं=पवित्र स्वरूप
विद्यात्=जाने

भाष्य—["तं विद्यात्शुक्रममृतमिति"] पाठ दो बार ग्रन्थ की समाप्ति के लिये आया है. ['पुरि शेते इति पुरुषः']=इस ब्रह्माण्डरूपी पुर अथवा शरीररूपी पुर में निवास करने के कारण परमात्मा का नाम ["पुरुष"] है, और वह पुरुष परमात्मा सब जीवों के हृदय में व्याप्यव्यापकभाव से सदा स्थिर है, मुमुक्षुपुरुषों को उचित है कि वह अपने आत्मा को शनैः २ शरीर के बन्धन से इस प्रकार पृथक् करके समझें जिस प्रकार कारुक लोग इषीका=शलाकाओं को मुंज से पृथक् करते हैं अर्थात् मुंज स्थानीय अपने आपसे भिन्न करके समझे, शरीर अपवित्र और आगमापायी है परन्तु परमात्मा असङ्ग होने से शुद्ध और नित्य होने में अविनाशी है, इसलिये वह शरीर में लिप्त नहीं होता, इसी ज्ञान से मनुष्य बन्धनों से पृथक् हो सकता है अन्यथा नहीं।

मायावादियों का कथन है कि अंगुष्ठमात्र कथन करने से यह तात्पर्य्य है कि ब्रह्म अविद्या के प्रभाव से परिच्छिन्नरूप को प्राप्त हो रहा है उसको मुंज से ईषीका के समान जानना यही है कि उसको आत्मत्वेन यह समझे कि मैं ब्रह्म हूं, यदि इस श्लोक में उपनिषत्कार का यह भाव होता तो जीव, ब्रह्म और शरीर इन तीनों का भेद यहां स्पष्ट रीति से प्रतिपादन न किया जाता, क्योंकि इनके मत में शरीर से भिन्न ब्रह्म इसलिये नहीं कि शरीर रज्जुसर्प्प के समान ब्रह्म में अध्यस्त है, और जीवात्मा से भिन्न इसलिये नहीं कहा जा सक्ता कि जीवात्मा ब्रह्म ही अंगुष्ठमात्र होकर प्रविष्ट हुआ २ है फिर मुंज और

ईषीका का दृष्टान्त क्या, यदि यह कहाजाय कि यह सब भेद व्यावहारिक हैं और वस्तुतः एक ही ब्रह्म सत्य है तो क्या उपसंहार में भी नचिकेता को मिथ्याभूत व्यवहार का ही उपदेश करना था और एकमात्र चिन्मय वस्तु का उपसंहार में स्थान न था, इत्यादि पूर्वोत्तर मीमांसा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपनिषदें मायावादियों के मत को गन्धमात्र भी उपपादन नहीं करतीं किन्तु केवल अर्थाभास से मायावाद उपनिषद्प्रतिपाद्य कहा जाता है।

सं०—अब नचिकेता की कथा का उपसंहार द्वारा फल कथन करते हैं:—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योप्येवं योविद्‌ध्यात्ममेव। १८।

पद०—मृत्युप्रोक्तां। नचिकेतः। अथ। लब्ध्वा। विद्यां। एतां। योगविधिं। च। कृत्स्नं। ब्रह्म। प्राप्तः। विरजः। अभूत्। विमृत्युः। अन्यः। अपि। एवं। यः। वित्। अध्यात्मं। एव।

अर्थ

अथ=अब उक्त कथा का फल कहते हैं
मृत्युप्रोक्तां=मृत्यु के अलङ्कार द्वारा कथन की गई
एतां, विद्यां=इस ब्रह्मविद्या को
च=और
कृत्स्नं, योगविधिं=सम्पूर्ण योगविधि का
लब्ध्वा=लाभ करके
नचिकेतः=नचिकेता

ब्रह्म, प्राप्तः=ब्रह्म को प्राप्त हुआ, और
विरजः=विरक्त
विमृत्युः=मृत्यु के भय से रहित
अभूत्=हुआ
अन्यः, अपि=अन्य भी
यः=जो
अध्यात्मं=अध्यात्म विद्या को
एवं, वित्=इस प्रकार जानता है वह भी
एव=निश्चय करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।

भाष्य—इस श्लोक में ब्रह्मविद्या का फल वर्णन किया गया है कि मृत्यु के अलङ्कार से कथन किये हुए इस सदुपदेश को सुनकर उद्दालक का पुत्र नचिकेता अविद्यारूपी रज से रहित होकर अमृत पद का अधिकारी हुआ अर्थात् मृत्यु से रहित हुआ तथा तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हुआ, अन्य भी जो इस ब्रह्मविद्या को उपलब्ध करेगा वह भी संसार के बंधनों से छूटकर ब्रह्म के अनामय पद को प्राप्त होगा, यहां पर ["ब्रह्मप्राप्तः"] पद ने जीव ब्रह्म के भेद को स्पष्ट कर दिया, क्योंकि यदि मायावादियों के मतानुसार यहां ब्रह्मप्राप्ति होती तो "ब्रह्मप्राप्तः" कथन न किया जाता किन्तु यह कथन किया जाता कि नचिकेता ब्रह्म ही हो गया, और दूसरी बात यह है कि योगविधि के कथन करने से यह बात और भी स्पष्ट हो गई कि नचिकेता परमात्मा के योग को पाकर अर्थात् परमात्मा के निरवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकराम्बुधिस्वरूप को उपलब्ध करके विरज तथा विमृत्यु हुआ, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्म्मों को धारण करने से ही जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त कहाता है ब्रह्म बनने के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब अन्त में यम और नचिकेता दोनों ईश्वर की उपासना करते हैं:—

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। १९।

ओ३म्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पद०—सह। नौ। अवतु। सह। नौ। भुनक्तु। सह। वीर्यं। करवावहै। तेजस्वि। नौ। अधीतं। अस्तु। मा। विद्विषावहै।

अर्थ

परमात्मा
नौ=हम दोनों गुरु शिष्यों की
सह=एक साथ
अवतु=रक्षा करे
नौ=दोनों को
सह=साथ २
भुनक्तु=ब्रह्मविद्यारूपी फल भुगाये ताकि हम दोनों
वीर्यं=आत्मिक बल को
सह=साथ २
करवावहै=प्राप्त करें
नौ=हम दोनों का
अधीतं=अध्ययन किया हुआ
तेजस्वि=तेजवाला
अस्तु=हो, हम दोनों
मा, विद्विषावहै=कभी आपस में अथवा किसी से द्वेष न करें।

भाष्य—हे परमात्मन् ! हम दोनों की एक साथ रक्षा और पालन कीजिये, हमारे आत्मिक बल को बढ़ाइये, स्वाध्याय तेजवाला हो और हम किसी के साथ अथवा आपस में द्वेष

न करें, हे भगवान आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीनों तापों को हम से दूर करके सदा हमारी रक्षा कीजिये।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे

उपनिषदार्य्यभाष्ये

कठोपनिषत्

समाप्ता

ओ३म्

अथ प्रश्नोपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

——❀——

सङ्गति—कठोपनिषद् में नचिकेता को शब्दस्पर्शादि गुणों से रहित निर्गुण ब्रह्म का उपदेश किया, अब इस उपनिषद् में महर्षि पिप्पलाद सुकेशादि छः ऋषिपुत्रों को ब्रह्मप्राप्त्यर्थ प्राणविद्या का उपदेश करने के लिये प्रथम सृष्टि उत्पत्ति का कथन करते हैं:—

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

पद०—सुकेशा । च । भारद्वाजः । शैब्यः । च । सत्यकामः । सौर्य्यायणी । च । गार्ग्यः । कौशल्यः । च । आश्वलायनः ।

भार्गवः । वैदर्भिः । कवन्धी । कात्यायनः । ते । ह । एते । ब्रह्मपराः । ब्रह्मनिष्ठाः । परं । ब्रह्म । अन्वेषमाणाः । एषः । ह । वै । तत् । सर्वं । वक्ष्यति । इति । ते । ह । समित्पाणयः । भगवन्तं । पिप्पलादं । उपसन्नाः ।

अर्थ

सुकेशा, भारद्वाजः=भरद्वाज का पुत्र सुकेशा
च=और
शैब्यः, सत्यकामः=शिवि का पुत्र सत्यकाम
सौर्यायणी, गार्ग्यः=सौर्य्य ऋषि का पुत्र गर्गवंशोत्पन्न गार्ग्य
च=और
कौशल्यः, आश्वलायनः=अश्वल का पुत्र कौशल्य
भार्गवः, वैदर्भिः=भृगुवंशोत्पन्न विदर्भि का पुत्र वैदर्भि
च=और
कबन्धी, कात्यायनः=कत्य का पुत्र कबन्धी
ते=यह
एते=छः
ह=निश्चय करके
ब्रह्मपराः=वेदानुयायी
ब्रह्मनिष्ठाः=ब्रह्मनिष्ठा=वैदिक-धर्म में विश्वास रखने वाले
परं, ब्रह्म=परमात्मा का
अन्वेषमाणाः=अन्वेषण करते हुए
ह, वै=निश्चय करके
एषः=यह सब
तत्=हमारी बुद्धिस्थ जो प्रष्टव्य है
सर्वं=उस सब को
वक्ष्यति, इति=कथन करेंगे, इस आशा से
ते, ह, समित्पाणयः=वे हाथ में हवन की समिधाओं को लेकर
भगवन्तं, पिप्पलादं=भगवान् पिप्पलादऋषि के
उपसन्नाः=समीप गये ।

भाष्य—(१) सुकेशा (२) सत्यकाम (३) गार्ग्य (४) कौशल्य (५) वैदर्भि और (६) कबन्धी यह छः ऋषिपुत्र

शब्दस्पर्शादि रहित गुणों वाले परमात्मा का अन्वेषण=खोज करते हुए जिज्ञासुभाव से समित्पाणि होकर भगवान् पिप्पलाद-ऋषि के समीप पहुंचे।

जिस प्रकार गीता में श्रीकृष्ण जी को भगवान् कहा गया है इसी प्रकार यहां भी पिप्पलाद ऋषि को भगवान् कहा है जिस के अर्थ ऐश्वर्य्यसम्पन्न के हैं।

सं०—अब पिप्पलाद ऋषि कथन करते हैं:—

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्म-चर्य्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथा-कामं प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

पद०—तान्। ह। सः। ऋषिः। उवाच। भूयः। एव। तपसा। ब्रह्मचर्य्येण। श्रद्धया। संवत्सरं। संवत्स्यथ। यथा-कामं। प्रश्नान्। पृच्छथ। यदि। विज्ञास्यामः। सर्वं। ह। वः। वक्ष्यामः। इति।

अर्थ

तान्=उक्त जिज्ञासुओं को
सः, ऋषिः=वह ऋषि
ह=स्पष्टतया
उवाच=बोले कि
भूयः, एव=फिर भी
तपसा=तप से
ब्रह्मचर्य्येण=ब्रह्मचर्य्य से
श्रद्धया=श्रद्धा से युक्त होकर
संवत्सरं=एक वर्ष पर्य्यन्त
संवत्स्यथ=मेरे समीप निवास करो, फिर
यथाकामं=अपनी इच्छा के अनुसार
प्रश्नान्=प्रश्नों को

पृच्छथ = पूछो	सर्वं = सब
यदि = जो	ह = निश्चयपूर्वक
विज्ञास्यामः = हम जानते होंगे तो	वः = तुम्हारे प्रति
	वक्ष्यामः, इति = कथन करेंगे।

भाष्य—महर्षि पिप्पलाद ने उन सब जिज्ञासुओं से कहा कि तुम तप, ब्रह्मचर्य्य और श्रद्धा से एक वर्ष पर्य्यन्त हमारे आश्रम पर रहो इसके अनन्तर अपनी इच्छानुसार प्रश्नों को पूछो, यदि मैं जानता हूँगा अथवा तुमको अधिकारी समझूंगा तो तुम्हारे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दूंगा।

परमात्मा का उपासन, हृदय की शुद्धि, वाणी का संयम और शास्त्र का अभ्यास आदि कर्मों का नाम ["तप"] वेद-प्रतिपाद्य अर्थ का आचरण करते हुए शृङ्गारविषयक गाना, रसिक लोगों के साथ घूमते रहना, कामोत्पादक पदार्थों को निरीक्षण करना, एकान्तदेश में भाषण करना, भोगविषयक संकल्प रखना, उसकी सिद्धि में यत्न करना, इत्यादि भावों से पृथक् रहने का नाम ["ब्रह्मचर्य्य"] और गुरु तथा वेदवाक्यों पर विश्वास रखने का नाम ["श्रद्धा"] है।

सं०—अब उक्त व्रत के धारणपश्चात् "कबन्धी" महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न करता है:—

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ । भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजा-यन्त इति ॥ २ ॥

पद०—अथ। कबन्धी। कात्यायनः। उपेत्य। पप्रच्छ। भगवन्। कुतः। ह। वै। इमाः। प्रजाः। प्रजायन्ते। इति।

अथ

अथ=एकवर्ष व्रत धारणानन्तर	भगवन्=हे भगवन्
कात्यायनः=कत्यऋषि के पुत्र	ह, वै=निश्चय करके
कबन्धी=कबन्धी ने	इमाः, प्रजाः=यह सब प्रजायें
उपेत्य=समीप आकर	कुतः=किससे
पप्रच्छ=पूछा कि	प्रजायन्ते, इति=उत्पन्न होती हैं।

भाष्य—महर्षि पिप्पलाद की आज्ञानुसार एक वर्ष पर्य्यन्त यथाविधि ब्रह्मचर्य्यादि तप करके उन छओं महात्माओं ने अपने आपको अधिकारी सिद्ध कर दिखाया, तब उनमें से ऋषिपुत्र "कबन्धी" ने महर्षि को प्राप्त होकर यह प्रश्न किया कि हे भगवन् ! ये प्रजायें=चराचर पदार्थों वाले ब्रह्माण्ड किससे और किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं यह कृपा करके हमारे प्रति उपदेश करें।

सं०—अब महर्षि पिप्पलाद कथन करते हैं:—

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिंच प्राणंचेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

पद०—तस्मै। सः। ह। उवाच। प्रजाकामः। वै। प्रजापतिः। सः। तपः। अतप्यत। सः। तपः। तप्त्वा। सः। मिथुनं। उत्पादयते। रयिं। च। प्राणं। च। इति। एतौ। मे। बहुधा। प्रजाः। करिष्यतः। इति।

अर्थ

तस्मै=उस प्रश्नकर्त्ता कबन्धी को
सः=वह पिप्पलाद
ह=स्पष्टतया
उवाच=बोले कि
वै=निश्चयकरके
प्रजाकामः=प्रजा की कामना वाला
प्रजापतिः=परमात्मा है
सः=उस प्रजापति परमात्मा ने
तपः=तप
अतप्यत=किया
सः=उसने
तपः, तप्त्वा=तप को तपकर
सः=उसने
रयिं=रयि
च=और
प्राणं, च=प्राणरूप
मिथुनं=जोड़े को
उत्पादयते=उत्पन्न किया कि
एतौ=यह दोनों
मे=मेरी
बहुधा=विविध प्रकार की
प्रजाः=प्रजाओं को
करिष्यतः, इति=उत्पन्न करेंगे।

भाष्य—महर्षि पिप्पलाद ने प्रश्नकर्त्ता कबन्धी को यह उत्तर दिया कि परमात्मा ने प्रथम अपने तप=प्रयत्न से रयि और प्राणरूप एक जोड़े को उत्पन्न किया जिसके अर्थ सत्वगुण और रजोगुण के हैं इन्हीं दोनों गुणों से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, और यहां परमात्मा में कामना उपचार से कथन की गई है मुख्य नहीं अर्थात् प्रजा की उत्पत्ति काल में जब जीवों के अदृष्टों का फल देने के लिये परमात्मा प्रयत्न करता है तब सत्वगुण और रजोगुण को प्रथम उत्पन्न करता है जिनसे सृष्टि उत्पन्न होती हैं।

भाव यह है कि परमात्मा ने प्रजा के उद्भवकाल में प्रकृति तथा जीवात्मा का आविर्भाव किया जिससे इस सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है।

सं०— अब उक्त रयि और प्राण को सूर्य्य तथा चन्द्रमा के दृष्टान्त से स्फुट करते हैं:—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः। रयिर्वा-एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान् मूर्त्ति-रेव रयिः ॥ ५ ॥

पद०—आदित्यः। ह। वै। प्राणः। रयिः। एव। चन्द्रमाः। रयिः। वा। एतत्। सर्वं। यत। मूर्त्तं। च। अमूर्त्तं। च। तस्मात्। मूर्त्तिः। एव। रयिः।

अर्थ

ह, वै=यह प्रसिद्ध है कि
आदित्यः=सूर्य्य
प्राणः=प्राण है और
एव=निश्चय करके
रयिः=रयि
चन्द्रमाः=चन्द्रमा है
च=और
यत्= जो
मूर्त्तं, च; अमूर्त्तं; च=स्थूल और सूक्ष्मरूप यह जगत् है
एतत्. सर्वं=यह सब
रयिः=रयि है
तस्मात्=इसलिये
एव=निश्चय करके
रयिः=रयि
मूर्त्तिः=मूर्त्ति है।

भाष्य—इस श्लोक में प्राण को आदित्य इस अभिप्राय से कथन किया है कि जिस प्रकार आदित्य अन्धकार का नाशक है इसी प्रकार प्राण शब्द वाच्य सत्वगुण भी अज्ञानान्धतम का नाशक है, या यों कहो कि ["प्राणिति इति प्राणः"]=जो प्राणों को चेष्टा देने वाला जीवात्मा है वह अज्ञानान्धतम का विनाशक होने से ["प्राण"] कहाता है, इसी अभिप्राय से उसको आदित्य कथन किया गया है, और रजोगुणरूप

["रयि"] को चराचर जगत् की रचना का कारणभूत होने से मूर्त्तामूर्त्तात्मक कथन किया है अथवा यों कहो कि प्रकृति रूप जो रयि है वह कार्य्यकारणरूप से मूर्त्तामूर्त्तरूप कथन की गई है।

भाव यह है कि ["रयि"] के अर्थ प्रकृति और ["प्राण"] के अर्थ पुरुष के हैं, रजोगुण प्रधान होने से प्रकृति को मूर्त्तामूर्त्त-रूप से और सत्वप्रधान होने से पुरुष को सूर्य्यरूप से कथन किया गया है।

सं०—अब प्राणप्रद होने से सूर्य्य में प्राणत्व कथन करते हैं :—

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥ ६ ॥

पद०—अथ । आदित्यः । उदयन् । यत् । प्राचीं । दिशं । प्रविशति । तेन । प्राच्यान् । प्राणान् । रश्मिषु । सन्निधत्ते । यत् । दक्षिणां । यत । प्रतीचीं । यत् । उदीचीं । यत् । अधः । ऊर्ध्वं । यत् । अन्तराः । दिशः । यत । सर्वं । प्रकाशयति । तेन । सर्वान् । प्राणान् । रश्मिषु । सन्निधत्ते ।

अर्थ

अथ=अब	यत्=जब
आदित्यः=सूर्य्य	उदीचीं=उत्तर दिशा को
उदयन्=उदय होता हुआ	यत्=जब
यत्=जब	अधः=नीचे को
प्राचीं, दिशं=पूर्व दिशा में	यत्=जब
प्रविशति=प्रवेश करता है	ऊर्ध्वं=ऊपर की दिशा को
तेन=उससे	यत्, अन्तराः, दिशः=जब ईशानादि बीच की दिशाओं को
प्राच्यां, प्राणान्=प्राचीदिशास्थ प्राणों को	यत्=जब
रश्मिषु=अपनी किरणों में	सर्वं=सबको
सन्निधत्ते=धारण कर लेता है, और	प्रकाशयति=प्रकाशित करता है
यत्=जब	तेन=उस प्रकाश से
दक्षिणां=दक्षिण दिशा को और	सर्वान्, प्राणान्=सब प्राणों को
यत्=जब	रश्मिषु=अपनी किरणों में
प्रतीचीं=पश्चिम दिशा को	सन्निधत्ते=धारण कर लेता है।

भाष्य—सूर्य्य अपने प्रकाश द्वारा सम्पूर्ण दिशाओं के सब पदार्थों को व्याप्त करता हुआ सबका प्राणदाता होने से यह कथन किया गया है कि वह सम्पूर्ण पदार्थों के प्राणों को अपनी रश्मियों में धारण करता है अर्थात् सूर्य्य अपनी रश्मियों द्वारा वायु के साथ प्राणों में प्रविष्ट होकर उनकी शक्ति को उत्तेजित करता है जिससे प्राणाश्रित भोक्तृशक्ति उद्दीप्त होती है, उक्त शक्ति के उत्तेजित करने से सूर्य्य में प्राणत्व कथन किया गया है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि प्राणरूप सूर्य्य

सर्वात्मभाव से सब में ओत-प्रोत होने के कारण उसकी सर्वात्मकता कथन की गई है, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि यहां प्राणरूप सूर्य्य सर्वात्मक होता तो उससे "रयि" को भिन्न वर्णन न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि यहां सर्वरूप सूर्य्य का ग्रहण नहीं और नाहीं इस भौतिक तेजःपुंज सूर्य्य का ग्रहण है किन्तु प्राणप्रद जीवात्मारूपी चिच्छक्तिरूप सूर्य्य का ग्रहण है, जिस २ दिशा वा उपदिशा में यह शक्ति जाती है वहीं अपनी चिच्छक्तिरूप रश्मियों से उन पदार्थों को जीवित कर देती है।

सं०—अब उक्त प्राण का प्रकारान्तर से कथन करते हैं :—

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।
तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

पद०—सः। एषः। वैश्वानरः। विश्वरूपः। प्राणः। अग्निः। उदयते। तत्। एतत। ऋचा। अभ्युक्तम्।

अर्थ

सः, एषः=वह यह आदित्यरूप प्राण
वैश्वानरः=सब जीवों में प्रविष्ट
विश्वरूपः=विश्वरूप
प्राणः=प्राण है, वही
अग्निः=अग्निरूप होकर
उदयते=उदय होता है
तत्, एतत=वह पूर्वोक्त कथन और इस मंत्र का तात्पर्य्य
ऋचा=वेद मंत्र द्वारा
अभ्युक्तम्=कथन किया गया है।

भाष्य—वही प्राण जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, यह अनेक रूपों से प्राणियों में विचर रहा है और यही आदित्य-रूप से उदय होता है, सबका प्राणप्रद होने से आदित्य को

"वैश्वानर" कथन किया गया है, जैसा कि ["विश्वेसर्वे ते नरा जीवाश्चेति विश्वनरास्ते एव वैश्वानराः"]=विश्व के सब चराचर जीव जिससे प्राणनशक्ति लेते हैं उस आदित्य का नाम ["वैश्वानर"] है, इसी को प्राणपद शक्ति द्वारा सबका निरूपक होने से ["विश्वरूप"] तथा सबको प्राणरूप चेष्टा देने से ["प्राण"] और गतिप्रद होने से ["अग्नि"] कहा गया है।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः ॥ ८ ॥

सं०—अब उक्त भाव को मंत्र द्वारा कथन करते हैं :—

पद०—विश्वरूपं । हरिणं । जातवेदसं । परायणं । ज्योतिः । एकं । तपन्तं । सहस्ररश्मिः । शतधा । वर्त्तमानः । प्राणः । प्रजानां । उदयति । एषः । सूर्य्यः ।

अर्थ

विश्वरूपं=सब पदार्थों में व्यापक
हरिणं=रश्मियों वाला
जातवेदसं=जिससे विज्ञान उत्पन्न होता है, और जो
परायणं=प्राणों का आश्रयभूत
एकं, ज्योतिः=एकमात्र तेजोरूप है
तपन्तं=जो इस ब्रह्माण्ड को तपा रहा है, ऐसे प्राणरूप सूर्य्य को जानकर ही ब्रह्मवेत्ता लोग प्रसन्न होते हैं, फिर वह कैसा है
सहस्ररश्मिः=सहस्रों किरणों वाला है
शतधा, वर्त्तमानः=अनन्त प्रकार से वर्त्तमान
प्रजानां, प्राणः=प्रजाओं को

प्राणः=जीवनाधार
एषः, सूर्य्यः=यह सूर्य्य
उदयति=उदय होता है ।

भाष्य—सब पदार्थों में व्यापक सूर्य्य उदय होकर अपनी रश्मियों द्वारा जब प्रजाओं में प्राण का संचार करता है तब सब उद्बोधित होकर अपने २ कार्य्य करने में समर्थ हो जाते हैं अर्थात आदित्य ही अपने प्रकाश द्वारा सबको जाग्रतावस्था में लाकर चेष्टावान् करता है, इसलिये उसको ["प्राण"] कहा गया है ।

तात्पर्य्य यह है कि जिसका पूर्व कथन किया गया है और जो जीवात्मा का उपमानभूत है वही सूर्य्य प्रकाशक होने से ["विश्वरूप"] रश्मियों वाला होने से ["हरिण"] अपने प्रकाश द्वारा सब ज्ञानों का उत्पादक होने से ["जातवेद"] प्राणप्रद होने से ['परायण"] प्रकाशक होने से ["ज्योतिः"] अनन्त गृहों का एकमात्र चालक होने से ["एक"] और सबको तपाने वाला होने से ["तपन्तं '] कहा गया है, इत्यादि सब विशेषण उपमान रूप सूर्य्य पक्ष में उपपन्न होते हैं, और उपमेयरूप जीवात्मापक्ष में अथवा सत्वगुण पक्ष में यह विशेषण इस प्रकार उपपन्न होते हैं कि ज्ञान द्वारा विश्व का निरूपक होने से जीवात्मा ["विश्वरूप"] अन्तःकरणरूपी वृत्तिवाला होने से ["हरिण"] ज्ञानों का उत्पादक होने से ["जातवेद"] प्राणों का आश्रय होने से ["परायण"] और अनेक प्रकार की योनियों के धारण करने से ["शतधा"] कहाता है, यही जीवात्मा सब प्रजाओं के व्यवहार का निर्वाहक होकर उदय होता अर्थात् आविर्भाव को प्राप्त होता है ।

मायावादी इस मन्त्र को सर्वात्मवाद में लगाते हैं कि जो कुछ चराचर ब्रह्माण्ड है यह सब प्राणरूप सूर्य्य ही है, यदि

यह भाव मंत्र का होता तो प्रजापति से उक्त प्राणरूप सूर्य्य की उत्पत्ति कथन न की जाती, उत्पत्ति कथन करने से सिद्ध है कि यह मंत्र सर्वात्मवाद का साधक नहीं किन्तु प्राण के उपमानभूत सूर्य्य वा सत्वगुण का बोधक है अर्थात् जीवात्मा का आदित्य-रूप से वर्णन करके रूपकालङ्कार द्वारा आदित्य के सब गुण उसमें घटाये हैं।

सं०—अब प्रजापति को संवत्सररूप से वर्णन करते हुए प्राण और रयि को उत्तरायण तथा दक्षिणायन रूप से कथन करते हैं:—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चो-त्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्यु-पासते। ते चान्द्रमसमेव लोकमभिज-यन्ते। त एव पुनरावर्त्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रति-पद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥ ९॥

पद०—संवत्सरः। वै। प्रजापतिः। तस्य। अयने। दक्षिणं। च। उत्तरं। च। तत्। ये। ह। वै। तत्। इष्टापूर्त्ते। कृतं। इति। उपासते। ते। चान्द्रमसं। एव। लोकं। अभिजयन्ते। ते। एव। पुनः। आवर्त्तन्ते। तस्मात्। एते। ऋषयः। प्रजाकामाः। दक्षिणां। प्रतिपद्यन्ते। एषः। ह। वै। रयिः। यः। पितृयाणः।

अर्थ

वै=निश्चय करके
संवत्सरः=कालरूप संवत्सर ही
प्रजापतिः=प्रजापति है
तस्य=उसके
दक्षिणं, च, उत्तरं, च=दक्षिणायन और उत्तरायण यह दो
अयने=मार्ग हैं
तत्, ये, ह, वै=जो लोग निश्चय करके
तत्, इष्टापूर्त्ते=उन इष्ट=यज्ञादि, आपूर्त्त=वापी, कूप तड़ागादि
कृतं, इति=कर्मों का
उपासते=अनुष्ठान करते हैं
ते=वह
एव=ही
चान्द्रमसं, लोकं=चन्द्रलोक=आह्लादित रजोगुण रूप लोकों को
अभिजयन्ते=जीत लेते हैं
ते, एव=वह लोग
पुनः=फिर
आवर्त्तन्ते=संसार में आते हैं
तस्मात्=इसलिये
प्रजाकामाः=प्रजा की कामना=सन्तान ऐश्वर्य्यादि की कामना वाले
एते, ऋषयः=ये ऋषि लोग
दक्षिणं=दक्षिणायन को
प्रतिपद्यन्ते=प्राप्त होते हैं
यः=जो
पितृयाणः=पितरों=इष्टापूर्त्त कर्म वालों का मार्ग है
एषः=यही
ह, वै=निश्चय करके
रयिः=रयि कहाता है

भाष्य—इस श्लोक में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाले परमात्मा को प्रजापति रूप से वर्णन किया गया है और उसके दक्षिणायन तथा उत्तरायण दो मार्ग कथन किये गये हैं, जो लोग अग्निहोत्रादि श्रौतकर्म, कूप, तड़ाग, विद्यालय और अनाथालय आदि स्मार्त्त कर्मों को करते हैं वह दक्षिणायन को जीत लेते हैं अर्थात् नाना प्रकार के भोग ऐश्वर्य्यादि को प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि "इष्टापूर्त्त" कर्मों को करने वाले कर्मी

लोग दक्षिणायन को प्राप्त होकर रजोगुण को अपने वशीभूत कर लेते हैं और इससे वह फिर कर्ममार्ग में पुनः २ आवर्त्तन करते रहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रजा की कामना वाले पुरुष पितृयाण=कर्मी लोगों के मार्ग से रजोगुण को वशीभूत कर लेते हैं, चदि=आह्लादने से "चन्द्रमस्" शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ आह्लादजनक होने से रजोगुण के हैं और उस रजोगुण से जो अवस्थाविशेष प्राप्त होती है उसका नाम ["चान्द्रमस"] है, एवंविध रजोगुणजन्य अवस्थाविशेष को प्राप्त हुए पुरुष आवर्त्तनशील होते हैं, इसीलिये यहां पुनरावर्त्तन कथन किया गया है किसी लोकविशेष के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब ज्ञानमार्गगामी पुरुष की गति कथन करते हैं:—

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥१०॥

पद०—अथ। उत्तरेण । तपसा । ब्रह्मचर्य्येण। श्रद्धया। विद्यया। आत्मानं । अन्विष्य । आदित्यं । अभिजयन्ते। एतत्। वै। प्राणानां । आयतनं। एतत्। अमृतं । अभयं। एतत्। परायणं । एतस्मात् । न। पुनरावर्त्तन्ते । इति। एषः। निरोधः। तद्। एषः। श्लोकः।

अर्थ

अथ=और
उत्तरेण, तपसा=उत्तरायण तप द्वारा
ब्रह्मचर्य्येण=ब्रह्मचर्य्य से
श्रद्धया=श्रद्धा से
विद्यया=ज्ञान से
आत्मानं=परमात्मा को
अन्विष्य=खोजकर
आदित्यं=अपने आत्मा वा सत्व को
अभिजयन्ते=सब ओर से जीत लेते हैं
एतत्, वै=यह ही
प्राणानां=प्राणों का
आयतनं=स्थान है
एतत्=यही
अमृतं=अमृत
अभयं=भयरहित है
एतत्=यही
परायणं=परमपद है
एतस्मात्=इस अवस्था से
न, पुनरावर्त्तन्ते=फिर चलायमान नहीं होते
इति, एषः=यही
निरोधः=योग है
तत्, एषः=और वहां
श्लोकः=मन्त्र भी है अर्थात् इसी भाव को आगे के मन्त्र में वर्णन किया है

भाष्य—पूर्व श्लोक में दक्षिणायन अर्थात् इष्टापूर्त्त तथा अग्निहोत्रादि शुभ कर्मों का फल कथन करके इस श्लोक में उत्तरायण अर्थात् ज्ञानयज्ञ का फल कथन किया गया है कि जो लोग ब्रह्मचर्य्यादि साधनों द्वारा विज्ञानी बनकर अविनाशी परमात्मा को जानलेते हैं फिर वह नीचे नहीं गिरते अर्थात् जो प्राणों का प्राण, अमृत, अभय, अविनाशी और सारे सुखों की पराकाष्ठा है उस को पाकर अमृत हो जाते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष सत्व को अपने अधीन करके तत्वज्ञान द्वारा परमात्मा का अन्वेषण करते हैं वह अमृत पद को प्राप्त होते हैं, यही अभय पद है, यही अमृत है और यही

परमस्थान है, भाव यह है कि सर्वोपरि मार्ग का नाम ["उत्तरायण"] है और इसी को ज्ञानियों का मार्ग कथन किया है, इसमें पुनरावृत्ति का निषेध इस अभिप्राय से किया है कि कर्मी लोगों के समान इसमें पुनः २ कर्म नहीं करने पड़ते अर्थात् तत्वज्ञान के होने पर फिर इस मार्गगामी पुरुषों को आवृत्ति नहीं करनी पड़ती, जैसाकि ["आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"] बृह० ४।५।६। इत्यादि वाक्यों से पाया जाता है कि कर्मी लोगों को श्रवणादि साधन करने पड़ते हैं और अमृत पद को प्राप्त पुरुष उक्त साधन नहीं करते, इसी अभिप्राय से उत्तरायणगामी पुरुषों की पुनरावृत्ति का निषेध कथन किया गया है किसी लोकविशेष की प्राप्ति से यहां पुनरावृत्ति का निषेध नहीं।

सं०—अब संवत्सर को प्रजापति कथन करते हैं:

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे
अर्द्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उ
परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आ-
हुरर्पितमिति ॥ ११॥

पद०—पञ्चपादं । पितरं । द्वादशाकृतिं । दिवः । आहुः । परे । अर्द्धे । पुरीषिणं । अथ । इमे । अन्य । उ । परे । विचक्षणं । सप्तचक्रे । षडरे । आहुः । अर्पितं । इति ।

अर्थ

पितरं=सम्पूर्ण संसार के जनक प्रजापति परमात्मा को
पञ्चपादं=पांच पादों वाला
द्वादशाकृतिं=द्वादशाकृति वाला

दिवः, परे=द्यु लोक से परे
अर्द्धे=बीच में
पुरीषिणं=जलवाला
आहुः=कथन करते हैं
अथ=और
इमे, अन्ये, परे=ये अन्य काल-
वेत्ता लोग
उ=तर्क द्वारा
आहुः=कथन करते हैं कि
सप्तचक्रे=सात लोक रूप चक्र
तथा
षडरे=छः ऋतु रूप अरों में
विचक्षणं=विविध प्रकार से
अर्पितं, इति=जुड़ा हुआ है।

भाष्य—इस मन्त्र में संवत्सर के कालविभाग विषयक दो पक्ष हैं, कई आचार्य्यों का कथन है कि यह अपने पांच ऋतुरूप पैरों और बारहमासरूप लिङ्गों से द्यु लोक के बीच में स्थित है, और कई एक आचार्य्य कथन करते हैं कि यह संवत्सर सात लोक-रूप चक्र और छः ऋतुरूप अरों में ठहरा हुआ है अर्थात् जैसे अरों में रथ की नाभि ठहरी हुई होती है इसी प्रकार यह संवत्सर भी ठहरा हुआ है।

तात्पर्य्य यह है कि प्रजापति परमात्मा में यह सारा ब्रह्माण्ड ओतप्रोत हो रहा है और वह इस प्रकार कि हिमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद यह पांच ऋतु उक्त प्रजापति के पादस्था-नीय हैं, या यों कहो कि उक्त ऋतुओं द्वारा इस चराचर ब्रह्माण्ड में वह गमन करता है और द्वादशमास उसकी आकृतिरूप हैं तथा द्यु लोक से परे मेघमण्डल द्वारा जलाधार कथन किया गया है अर्थात् आदित्य की तेजोराशि से जलों को आकर्षण करके वर्षाता है, भूः आदि सात लोक इसके चक्र हैं और इनमें काल-गमन के हेतु उत्तरायण, दक्षिणायन, दिन, रात, शुक्ल और कृष्ण यह छः कालरूप चक्र के घुमाने वाले रथ की नाभि के समान आरे लगे हुए हैं, इस मंत्र में शिशिर ऋतु हेमन्त के अंतर्गत होने से पांच ही ऋतुयें गिनाई हैं।

स्मरण रहे कि यहां प्रजापति परमात्मा में काल के रूप का विन्यास करके द्वादश मासों को आकृति तथा भूः आदि लोकों को चक्र कथन किया गया है अर्थात् उक्त कथन उपचार से है वास्तव में परमात्मा का कोई रूप नहीं, जैसा कि ["अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ"] मुण्ड० २।४ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि परमात्मा का अग्नि मुख और चन्द्र-सूर्य्य नेत्र हैं, जैसे इस वाक्य में आरोपित रूपोपन्यास है इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये।

सं०—अब प्रजापति परमात्मा को मासरूप तथा प्राण और रयि को शुक्ल, कृष्ण रूप कथन करते हैं :—

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्। १२।

पद० मासः। वै। प्रजापतिः। तस्य। कृष्णपक्षः। एव। रयिः। शुक्लः। प्राणः। तस्मात्। एते। ऋषयः। शुक्ले। इष्टिं। कुर्वन्ति। इतरे। इतरस्मिन्।

अर्थ

मासः, वै=मास ही
प्रजापतिः=प्रजापति है
तस्य=उसका
कृष्णपक्षः, एव=कृष्णपक्ष ही
रयिः=रयि
शुक्लः=शुक्लपक्ष
प्राणः=प्राण है
तस्मात्=इसलिये
एते=यह
ऋषयः=ऋषि लोग
शुक्ले=शुक्लपक्ष में
इष्टिं=यज्ञादि कर्मों को
कुर्वन्ति=करते हैं, और
इतरे=वैदिकों से भिन्न
इतरस्मिन्=कृष्णपक्ष में यज्ञादि कर्म को करते हैं।

भाष्य—जिस प्रकार पूर्व मन्त्र में संवत्सर के दक्षिणायन और उत्तरायण दो भाग किये हैं इसी प्रकार इस मन्त्र में मास के भी दो भाग हैं जिनको कृष्णपक्ष तथा शुक्लपक्ष कहते हैं, कृष्णपक्ष "रयि" और शुक्लपक्ष "प्राण" है, और मास को प्रजापति इस अभिप्राय से कहा है कि जिस प्रकार कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष द्वारा मास गति करता है इसी प्रकार कृष्ण=अचिद्वस्तु प्रकृति और शुक्ल=चिद्वस्तु जीव द्वारा परमात्मा सबका चालक है, जैसाकि ["चिदचिद्वस्तुभ्यामीश्वर एव निखिलं चराचरात्मकं जगत् प्रजापतिरूपेण गमयति इत्यभिप्रायेण मासस्य प्रजापतिरूपेण रूपकालङ्कारः"]=जड़ चेतन रूप सारे संसार को परमात्मा समय के चक्र से घुमा रहा है, इसलिये उसको मास के अलङ्कार द्वारा प्रजापति रूप से वर्णन किया गया है किसी अभ्यास अथवा मिथ्याविश्वास के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब ब्रह्मचर्य की दृढ़ता के लिये दिन-रात्रि को प्रजापतिरूप से कथन करते हैं:—

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते। १३।

अहोरात्रः। वै। प्रजापतिः। तस्य। अहः। एव। प्राणः। रात्रिः। एव। रयिः। प्राणं। वा। एते। प्रस्कन्दन्ति। ये। दिवा। रत्या। संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्य्यं। एव। तत्। यत्। रात्रौ। रत्या। संयुज्यन्ते।

अर्थ

अहोरात्रः, वै=दिन रात ही	ये=जो
प्रजापतिः=प्रजापति है	दिवा=दिन में
तस्य=उसका	रत्या, संयुज्यन्ते=स्त्री के साथ रति=संयोग करते हैं
अहः, एव=दिन ही	वा=और
प्राणः = प्राण है	यत्, रात्रौ=जो रात्रि में
रात्रिः, एव=रात्रि ही	रत्या, संयुज्यन्ते=स्त्री के साथ संयोग करते हैं
रयिः=रयि है	तत्=वह
एते=वह पुरुष	ब्रह्मचर्य्यं, एव=ब्रह्मचर्य्य ही है
प्राणं=अपने आत्मा का	
प्रस्कन्दन्ति=हनन करते हैं	

भाष्य– इस श्लोक में उसी पूर्व प्रकृत मासात्मक काल को दिन और रात्रि में विभक्त किया है, दिन में भोक्तृशक्ति के प्रबल होने से उसको ["प्राण"] और रात्रि में भोग्य शक्ति प्रधान होने से उसको ["रयि"] कहा गया है, जो पुरुष दिन में स्त्री के साथ रति करते हैं उनके प्राण क्षीण हो जाते हैं अर्थात् कई प्रकार के रोगों में ग्रसित होकर नष्ट हो जाते हैं और जो रात्रि में संयोग करते हैं वह ब्रह्मचारी के समान अपने बल की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकाशक होने से दिन चिद्वस्तु जीवात्मा का उपमान और रात्रि प्रकाशाभाववती होने से अचिद्वस्तु प्रकृति का उपमान है, या यों कहो कि दिन सत्वगुण का उपमान और रात्रि रजोगुण का उपमान है, जो राजसभावों वाले लोग रात्रि में रति क्रिया करते हैं वह अपनी आत्मा का हनन न करते हुए ब्रह्मचारी के समान अपने बल को पुष्ट करते हैं और जो

प्रकाशप्रधान सत्व के द्योतक दिन में विषयासक्ति में लम्पट होते हैं वह अपने प्राण को नष्ट कर देते हैं. इसलिये पुरुष को उचित है कि वह सत्वप्रधानावस्था में कदापि विषयासक्त न हो, क्योंकि राजसभावों का मार्जन सात्विक भावों से होता है, यदि सात्विकभावापन्न पुरुष ही विषयसागर से पार न हो तो अन्य कौन हो सकता है, अतएव पुरुष को उक्त व्रत द्वारा अपने आपको दृढ़ बनाना चाहिये, यही पुरुष के उच्चजीवन का एकमात्र परमधर्म है।

सं०—अब अन्न को प्रजापति रूप मे कथन करते हैं—

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मा-दिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

पद०—अन्नं। वै। प्रजापतिः। ततः ह। वै। तत्। रेतः। तस्मात्। इमाः। प्रजाः। प्रजायन्ते। इति।

अर्थ

अन्नं, वै=अन्न ही
प्रजापतिः=प्रजापति है, क्योंकि
ततः=उससे
ह, वै=निश्चय करके
तत्, रेतः=इस संसृति का बीजभूत रेतस् उत्पन्न होता है
और
तस्मात्=उस वीर्य्य से
इमाः, प्रजाः=यह मनुष्यादि विविध प्रजायें
प्रजायन्ते, इति=उत्पन्न होती हैं

भाष्य—पिप्लाद ऋषि कबन्धी के प्रश्न का उत्तर देते हुए इस श्लोक में उपसंहार रूप से कथन करते हैं कि वही संवत्सर ऋतुरूप से अन्न में परिणत होता है, अन्न से जगत् का कारण वीर्य्य बनता है और वीर्य्य से प्रजा उत्पन्न होती है अर्थात्

प्राण और रयि से सम्वत्सर की उत्पत्ति, सम्वत्सर से क्रमशः अन्न का विपरिणाम, अन्न से वीर्य्य और वीर्य्य से प्रजा की उत्पत्ति होती है।

भाव यह है कि ["अद्यते इत्यन्नम्"]=भोक्ता से भिन्न वस्तुजात का नाम ["अन्न"] है, इस प्रकार यहां अन्न शब्द के अर्थ प्रकृतिमात्र के हैं और वह प्रकृति इस चराचर ब्रह्माण्ड का उपादानकारण है, इसलिये उससे सब प्रजाओं का उत्पन्न होना कथन किया गया है।

सं०—अब कबन्धी के प्रश्न का उपसंहार करते हुए इष्टापूर्त्तादि स्मार्त्त कर्मों और ज्ञान का फल कथन करते हैं—

तद्ये ह प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्य्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

पद०—तत्। ये। ह। प्रजापतिव्रतं। चरन्ति। ते। मिथुनं। उत्पादयन्ते। तेषां। एव। एषः। ब्रह्मलोकः। येषां। तपः। ब्रह्मचर्य्यं। येषु। सत्यं। प्रतिष्ठितं।

अर्थ

तत्=इस संसार में
ह=निश्चय करके
ये=जो पुरुष
प्रजापतिव्रतं=ऋतुकाल में संयोगरूप व्रत को
चरन्ति=करते हैं
ते=वह
मिथुनं=पुत्र पुत्री रूप जोड़े को
उत्पादयन्ते=उत्पन्न करते हैं और
येषां=जिनका

तपः=तितिक्षा तथा
ब्रह्मचर्य्यं=इन्द्रियसंयम पूर्वक वेदाध्ययन है और
येषु=जिनमें
सत्यं=सत्य
प्रतिष्ठितं=वर्त्तमान है
तेषां, एव=उन्हीं का
एषः=यह
ब्रह्मलोकः=ब्रह्मलोक है

भाष्य—जो गृहस्थ पुरुष इन्द्रियनिग्रहपूर्वक ऋतुकाल में अपनी स्त्री से समागम करते हैं वह अमोघवीर्य्य होकर उत्तम सन्तान उत्पन्न करते हैं, और जो पुरुष तप, ब्रह्मचर्य्य और सत्य का पालन करते हैं उन्हीं के लिये यह संसार ब्रह्मलोक है।

स्मरण रहे कि यहां प्रजापतिव्रत से तात्पर्य्य परमात्मा की आज्ञापालनरूप व्रत का है अर्थात् जो लोग परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हुए ऋतुस्नाताभार्य्या से गमन करते हैं वह पुत्र पुत्री रूप उत्तम जोड़े को उत्पन्न करते हैं, या यों कहो कि दिन में ब्रह्मचर्य्यव्रतपूर्वक वेदाध्ययनादि वैदिक कर्म और रात्रि को ऋतुकाल में स्वस्त्री से रमण करते हैं उनके उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है, और जिनमें ब्रह्मचर्य्य, शारीरिक तप इन्द्रियसंयम और सत्यभाषणादि नियम हैं उन्हीं का यह संसाररूपी ब्रह्मलोक है अनियमियों के लिये नहीं, जैसाकि ["अग्ने व्रनपते व्रतं चरिष्यामि"] यजु० २। २८ इत्यादि मन्त्रों में वर्णित है कि हे व्रतों के पति परमात्मन्! मैं आपके आज्ञापालनरूप व्रत को करूं, इसी भाव को लक्ष्य रखकर यहां प्रजापतिव्रत का कथन किया गया है।

मायावादी टीकाकार इसके यह अर्थ करते हैं कि कर्मी लोगों के लिये प्रजापतिव्रत से चन्द्रलोक की प्राप्ति कथन की गई है और ज्ञानी लोगों के लिये रजोगुण रहित ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कथन है जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् उनको वहां

ही ज्ञानोपदेश से मुक्ति उपलब्ध हो जाती है उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि यहां ब्रह्मलोक से चन्द्र तथा सूर्य्यलोक की प्राप्ति अभिप्रेत होती तो ऋतुकाल में स्वस्त्री से गमनपूर्वक उत्तम पुत्र पुत्री की उत्पत्ति का वर्णन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि इसी लोक को यहां ब्रह्मलोक शब्द से कथन किया गया है अर्थात् सद्गृहस्थों के लिये यही ब्रह्मलोक और दुराचारियों के लिये यही नरकलोक है।

सं —अब तत्वज्ञान का फल कथन करते हैं—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु।
जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

पद०—तेषां। असौ। विरजः। ब्रह्मलोकः। न। येषु। जिह्मं। अनृतं। न। माया। च। इति।

अर्थ

तेषां=उन्हीं का
असौ=यह
विरजः=रजोगुण से रहित निर्मल
ब्रह्मलोकः=ब्रह्मलोक है
येषु=जिनमें
जिह्मं=कुटिलता
अनृतं=असत्य
न=नहीं है
च=और
माया=कपट भी
न, इति=नहीं है

भाष्य—जिनके कौटिल्यादि दोष ज्ञान द्वारा दूर होगये हैं अर्थात् जिनमें कोई छलछिद्र नहीं उनके लिये यही उत्तरायण गतिगम्य=ज्ञानगम्य ब्रह्मलोक है, या यों कहो कि तत्वज्ञान के प्रसाद से जिनका हृदय शुद्ध, निष्कपट होगया है वही उस परमपद के अधिकारी होते हैं अन्य नहीं।

यहां ज्ञानी लोगों के लिये ब्रह्मलोक को रजोगुणरहित इसलिये कथन किया गया है कि वह सत्वप्रधान होने से रजोगुण रहित होते हैं और इतर संसारी जन रजोगुण प्रधान होने से कर्मों की अवस्था में वर्त्तमान होने के कारण प्रजा को उत्पन्न करने के अधिकारी हैं।

तात्पर्य्य यह है कि इस प्रथम प्रश्न में रयि और प्राण द्वारा प्रकृति तथा जीवरूप मिथुन=जोड़ा कथन किया गया है और इसी से सारे ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है, इसी को आदित्य और चन्द्रमा के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है. क्योंकि आदित्य और चन्द्रमा द्वारा ही प्रजा के सब रसों की उत्पत्ति तथा पाक होता है और फिर उससे वीर्य्य और वीर्य्य से प्रजा उत्पन्न होती है, फिर इस मिथुन को दक्षिणायन तथा उत्तरायण रूप से कथन किया है जिससे ज्ञान तथा कर्म द्वारा प्रजा की उत्पत्ति होती है, फिर इस मिथुन को कृष्ण, शुक्लरूप से निरूपण किया गया है कि प्राण शुक्ल और रयि कृष्ण है अर्थात् चिद्वस्तु प्रकाशस्वरूप और अचिद्वस्तु जड़ है, और फिर उपसंहार में प्रजापति परमात्मा के आज्ञापालनरूपव्रत को लाभ करने से सन्ततिरूप पुत्रपुत्री युग्म की उत्पत्ति कथन की है जिससे ["कबन्धी"] प्रश्नकर्त्ता को लोक परलोक का फल कथन करते हुए सृष्टि का सप्रयोजनत्व सिद्ध करके अन्त में इस बात को स्पष्ट किया है कि मायावी लोग ज्ञानकर्म द्वारा इस प्रजापति की प्रजा से कोई लाभ नहीं उठा सकते, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह माया रहित होकर प्रजापति परमात्मा को तथा उसकी प्रजा को यथावस्थित समझे ॥

इति प्रथमः प्रश्नः

ओ३म्

अथ द्वितीयः प्रश्नः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम प्रश्न में "कबन्धी" के किये हुए प्रश्न का भले प्रकार समाधान किया, अब इस द्वितीय प्रश्न में "वैदर्भि" यों प्रश्न करता है कि—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

पद०—अथ । ह । एनं । भार्गवः । वैदर्भिः । पप्रच्छ । भगवन् । कति । एव । देवाः । प्रजां । विधारयन्ते । कतरे । एतत् । प्रकाशयन्ते । कः । पुनः । एषां । वरिष्ठः । इति ।

अर्थ

अथ=प्रथम प्रश्न का उत्तर सुनने के अनन्तर
ह=प्रसिद्ध है कि
एनं=पिप्लाद ऋषि से
भार्गवः, वैदर्भिः=भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि ने
पप्रच्छ=पूछा कि
भगवन्=हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न
कति, एव, देवाः=कितने देव=इन्द्रिय
प्रजां=इस शरीररूपी प्रजा को
विधारयन्ते=धारण करते हैं और
कतरे=कितने
एतत्=इसको
प्रकाशयन्ते=प्रकाशित करते हैं
पुनः=फिर
एषां=इनमें
कः=कौन
वरिष्ठः, इति=श्रेष्ठ है

भाष्य—प्रथम प्रश्न का उत्तर समाप्त होने पर भृगुकुलोत्पन्न वैदर्भि नामक दूसरा शिष्य पिप्पलाद ऋषि से यह प्रश्न करता है कि हे भगवन्! आत्मा के स्थितिभूत इस शरीर को कौन २ देव धारण करते हैं? तथा कौन २ इसको प्रकाशित करते हैं? और इन दोनों प्रकार के देवों में सबसे श्रेष्ठ कौन है?

सं०—अब पिप्पलाद ऋषि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायु-रग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेत-द्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

पद०—तस्मै। सः। ह। उवाच। आकाशः। ह वै। एषः। देवः। वायुः। अग्निः। आपः। पृथिवी। वाक्। मनः। चक्षुः। श्रोत्रं। च। ते। प्रकाश्य। अभिवदन्ति। वयं। एतत्। वाणं। अवष्टभ्य। विधारयामः।

अर्थ

तस्मै=वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर देने के लिये
सः=वह पिप्पलाद
ह=स्पष्टतया
उवाच=बोले
ह वै=प्रसिद्ध है कि
एषः=यह
आकाशः=आकाश
वायुः=वायु
अग्निः=अग्नि
आपः=जल
पृथिवी=पृथिवी यह पांच भूत
वाक्=वाणी
मनः=मन
चक्षुः=नेत्र
च=और

श्रोत्रं=श्रोत्र यह सब
देवः=देव हैं
ते=यह
प्रकाश्य=शरीर को प्रकाशित करके
अभिवदन्ति=कहने लगे कि
वयं=हम
एतत्, वाणं=इस शरीर को
अवष्टभ्य=आश्रय करके
विधारयामः=धारण करते हैं

भाष्य—इस श्लोक में महर्षि पिप्पलाद ने उक्त प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि आकाशादि पांच भूत जिनसे यह शरीर बनता है तथा वागादि पांच कर्मेन्द्रिय और चक्षुरादि पांच ज्ञानेन्द्रिय यह सब इस शरीर को धारण और प्रकाशित करते हैं इसलिये इन्हीं की देव संज्ञा है, यहां "वाण" शब्द का अर्थ शरीर इस प्रकार है कि ['वणति शब्दं करोतीति वाणम्"=जो शब्द करे उसका नाम ["वाण'] है अथवा ['वातिगच्छतीति वाणम्"]=जो गमन करे उसका नाम ["वाण"] है।

भाव यह है कि उक्त पांच भूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन इन सबकी देवसंज्ञा है, इन देवों को यह अभिमान हुआ कि हम ही इस शरीर को धारण कर रहे हैं, या यों कहो कि परस्पर एक दूसरे की प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि हम से भिन्न अन्य कोई इसका धारक तथा नाशक नहीं है।

सं०—अब देवों के उक्त अभिमान को प्राण असत्य कथन करता है—

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥३॥

पद०—तान् । वरिष्ठः । प्राणः । उवाच । मा । मोहं । आपद्यथ । अहं । एव । एतत् । पंचधा । आत्मानं । प्रविभज्य । एतत् । वाणं । अवष्टभ्य । विधारयामि । इति ।

अर्थ

तान्=उन सब देवों से
वरिष्ठ=श्रेष्ठ
प्राणः=प्राण
उवाच=बोला कि
मा=मत
मोहं=मोह को
आपद्यथ=प्राप्त होओ
अहं=मैं
एव=ही
पंचधा=प्राणादि पांच भेदों से
आत्मानं=अपने आपको
प्रविभज्य=विभक्त करके
एतत्, वाणं=इस शरीर को
अवष्टभ्य=थामे हुआ हूं और मैं ही
एतत विधारयामि, इति=इसको धारण करता हूं

भाष्य—उपरोक्त श्लोक में लिखे अनुसार सब देव आपस में विवाद कर रहे थे तब उन सबका नेता प्राण उनसे बोला कि तुम सब अज्ञान को प्राप्त होकर ऐसा अभिमान करते हो तुममें से कोई भी स्वतन्त्ररूप से इस शरीर को धारण करने में समर्थ नहीं, मैं ही प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान रूप से अपने पांच विभाग करके शरीर को धारण करता और तुमको भी चलाता हूँ, यदि मैं न होऊं तो तुम सब मिलकर कुछ नहीं कर सकते, यह तुम्हारा कथन मोहमात्र है।

सं०—अब प्राण उक्त इन्द्रियों के अभिमान को भङ्ग करता है—

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमतइव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रा-

मन्ते तस्मिंश्चप्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते ।
तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रा-
मन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च
प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त
एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते
प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ।४।

पद०—ते । अश्रद्दधानाः । बभूवुः । सः । अभिमानात् । ऊर्ध्वं । उत्क्रमते, इव । तस्मिन् । उत्क्रामति । अथ । इतरे । सर्वे । एव । उत्क्रामन्ते । तस्मिन् । च । प्रतिष्ठमाने । सर्वे । एव प्राति-ष्ठन्ते । तद्यथा । मक्षिका । मधुकरराजानं । उत्क्रामन्तं । सर्वाः । एव । उत्क्रामन्ते । तस्मिन् । च । प्रतिष्ठमाने । सर्वाः । एव । प्रातिष्ठन्ते । एवं । वाक् । मनः । चक्षुः । श्रोत्रं । च । ते । प्रीताः । प्राणं । स्तुन्वन्ति ।

अर्थ

ते=वह सब देवरूप इन्द्रिय
अश्रद्दधानाः=अश्रद्धा वाले
बभूवुः=हुए तब
सः=वह प्राण
अभिमानात्=अभिमान से
ऊर्ध्वं=उपर को
उत्क्रमते,इव=उत्क्रमण करने की नाईं उठता दीख पड़ा
तस्मिन् उत्क्रामति=उसको निकलता हुआ देख
इतरे, सर्वे, एव=अन्य सब ही
उत्क्रामन्तो=निकलने लगे
च=और
तस्मिन्=उसके
प्रतिष्ठमाने=ठहरने पर
सर्वे,एव=सब ही

प्रतिष्ठन्ते=ठहर गये
तद्यथा=जैसे
सर्वाः, एव, मक्षिका=मधु की
सारी मखियां
उत्क्रामन्ते, मधुकरराजनं=अपने
राजा के निकलने पर
उसके पीछे
उत्क्रामन्ते=निकल जाती हैं
च=और
तस्मिन्, प्रतिष्ठमाने=उसकेस्थित
होने पर
सर्वाः, एव=सब ही
प्रातिष्ठन्ते=स्थित होजाती हैं
एवं=इसी प्रकार प्राणके अधीन
वागादि सब देव हैं
अथ=तब
ते=वह
वाक्, मनः, चक्षुः श्रोत्रं, च=
वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्रादि
इन्द्रिय
प्रीताः=विश्वास वाले हुए
प्राणं=प्राण की
स्तुन्वन्ति=स्तुति करने लगे।

भाष्य—प्राण के इस कथन में चक्षुरादि सब इन्द्रियों को अश्रद्धा हुई कि मैं ही इस शरीर को धारण कर रहा हूं यह मिथ्या है अर्थात् उस पर विश्वास नहीं किया। तब प्राण ने इन्द्रियों का अभिमान भङ्ग करने के लिये शरीर के सब अङ्गों में से निकलना प्रारम्भ किया, ऐसा करने पर सब इन्द्रिय व्याकुल होकर शरीर से बाहर निकलने को उद्यत हो गये और फिर प्राण के स्थिर होने पर सब इन्द्रिय भी ठहर कर अपना२ काम करने लगे, जैसाकि सब मधुमक्षिकाओं की प्रधानभूत मधुमक्खी के निकलने पर सब मधुमक्खियां उसके पीछे चल पड़ती हैं और उसके स्थित होने पर सब बैठ जाती हैं, इसी प्रकार प्राण सब इन्द्रियों का राजा है वह जब इस शरीर को छोड़ देता है तब उसके अनुगामी वाणी आदि शरीर में नहीं रह सकते, जब सब इन्द्रियों ने प्राण का ऐसा महत्व देखा तब सब प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करने लगे।

तात्पर्य्य यह है कि चक्षुः के निकल जाने पर शरीर की स्थिति देखी जाती है, श्रोत्र के चले जाने से वधिर पुरुषों को जीता हुआ देखा जाता है, एवं वागिन्द्रिय के निकल जाने से मूक पुरुष भी जीते रहते हैं, इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों में से किसी की भी प्रधानता नहीं पाई जातीं परन्तु प्राण के चले जाने पर कोई भी इन्द्रिय शरीर की रक्षा नहीं कर सकता इससे सिद्ध है कि प्राण ही सब में प्रधान है इन्द्रिय नहीं, उचित है कि प्राणों की प्रधानता समझकर उनको प्राणायामादि द्वारा वशीभूत करके अपने शरीर की रक्षा करे, जैसाकि "सदाचारेण पुरुषः शतवर्षाणि जीवति" इत्यादि वाक्यों में लिखा है कि सदाचार से पुरुष सौ वर्ष तक जीता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि सदाचारी बनकर इस प्राणविद्या के तत्व को समझकर अपने जीवन को सफल करे लोहकार की निर्जीव भस्त्रिका के समान केवल श्वासमात्र ही न ले।

सं०—अब सब देव प्राण की स्तुति करते हैं:—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ५।

पद०—एषः। अग्निः। तपति। एषः। सूर्य्यः। एषः। पर्जन्यः मघवान्। एषः। वायुः। एषः। पृथिवी। रयिः। देवः। सत्। असत्। च। अमृतं। च। यत्।

अर्थ.

एषः=यह प्राण
अग्निः=अग्निरूप से
तपति=तपता है
एषः=यह प्राण

सूर्य्यः= सूर्य्य रूप से प्रकाश करता है
एषः=यह प्राण
भगवान=ऐश्वर्य्य का हेतु
पर्जन्यः=मेघ है
एषः=यह
वायुः=बेगवान होनेसे वायु है
एष =यह
पृथ्वी=शरीर को धारण करने तथा उसमें फैला हुआ होने से पृथ्वी है
रयिः—शरीर का पोषक होने से चन्द्रमारूप है
देवः=दीप्ति वाला है
सत् मूर्त्तरूप है
च=और
असत्=अमूर्त्त रूप है
च=और
यत्=जो अमृतं=जीवनदाता है वहीं प्राण है।

भाष्य—["प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः:"=जो जगत् को चेष्टा करावे उसका नाम "प्राण" है, जैसे "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः" तै० २।१।१ इस वाक्य में वायु से प्राणवायु को सब स्थूल कार्य्यों का कारण कथन किया है, इसी प्रकार उक्त श्लोक में भी प्राण से प्राणवायु का ग्रहण है अर्थात् आकाश तत्व के अनन्तर सब पदार्थों के गमक वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, इस कारण प्राणवायु को अग्निरूप से कथन किया है और वहीं वायु परम्परा से जल का कारण होने से जलरूप कथन की गई है और उसी को संघर्षणद्वारा विद्युत का कारण होने से विद्युतरूप कथन किया है, जिस प्रकार सूर्य्य संसार को प्रकाशित करता है इसी प्रकार इस शरीर का प्रकाशक होने से प्राण को "सूर्य्य" कथन किया है और जिस प्रकार मेघ वर्षा करके संसार को जीवनदान देते हैं इसी प्रकार प्राण के संचार से यह शरीर जीवित कहा जाता है, इसलिये उसको "मेघ" कहा है, इसी प्रकार वेगवान् और जीवनाधार होने से "वायु"

शरीर को धारण करने और उसमें फैला हुआ होने के कारण ["पृथिवी"] शरीर का पोषक होने से ["चन्द्रमा"] और इन्द्रियों का प्रकाश होने से ["देव"] कहा गया है, कारणरूप होने से ["सत्"] कार्य्यरूप होने से ["असत्"] और जीवमात्र को जीवन देने के अभिप्राय से प्राण को ["अमृत"] कथन किया है।

सं०—अब प्राण को जीवनदाता होने से ऋगादि वेदों का आधार कथन करते हैं:—

अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः
क्षत्रं ब्रह्म च। ६।

पद०—अरा इव। रथनाभौ। प्राणे। सर्वं। प्रतिष्ठितं। ऋचः। यजूंषि। सामानि। यज्ञः। क्षत्रं। ब्रह्म। च।

अर्थ

रथनाभौ=रथ की नाभि में
अरा इव=अरों के समान
प्राणे=प्राण में
सर्वं=सब
प्रतिष्ठितं=स्थिर हैं
ऋचः=ऋग्वेद
यजूंषि=यजुर्वेद
सामानि=सामवेद
यज्ञः=ज्योतिष्टोमादि यज्ञ
क्षत्रं=क्षत्र से रक्षा करने वाले तेजस्वी क्षत्रिय
च=और
ब्रह्म=आत्मिक बल के देने वाले ब्राह्मण यह सब प्राण के आश्रित हैं।

भाष्य—सम्पूर्ण कर्मकाण्ड के विधायक ऋग्, यजु, साम

और अथर्व इन चारों वेदों को प्राणायामी पुरुष ही पढ़ सकता है, इस अभिप्राय से प्राण को वेदों का आधार कथन किया गया है तथा वेद मंत्रों द्वारा विधेय जो यज्ञादि कर्म हैं उनका यथाविधि अनुष्ठान प्राण के ही आश्रित है और प्राणायामी पुरुष ही क्षत्रिय तथा ब्राह्मण बन सकता है, इसी अभिप्राय से क्षत्र और ब्रह्म का आधार प्राण को कथन किया गया है, ["सर्व"] शब्द यहां संकुचितवृत्ति है निरवधिकसर्ववृत्ति नहीं अर्थात् जिन पदार्थों की उपलब्धि प्राणाधीन है उन सब का आधार होने से [प्राण] को सर्वाधार कथन किया गया है, "अथर्ववेद" को इसलिये पृथक् नहीं गिना कि यहां छन्दों के अभिप्राय से वेदों का वर्णन है और छन्द के तात्पर्य्य से अथर्व यजु में गिना जाता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हम ["शेषे यजुः शब्दः"] मीमां० २।१।३७ इत्यादि सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट कर चुके हैं कि यजु तथा अथर्व का छन्द एक होने से यह दोनों एक ही गिने जाते हैं।

सं०—अब प्राण को प्रजापति रूप से वर्णन करते हैं:—

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति
यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ।७।

पद०—प्रजापतिः। चरसि। गर्भे। त्वं। एव। प्रतिजायसे। तुभ्यं। प्राण। प्रजाः। तु। इमाः। बलिं। हरन्ति। यः प्राणैः। प्रतितिष्ठसि।

अर्थ

प्रजापति:=प्रजापतिरूप से अर्थात् प्राणियों का अध्यक्ष होकर
गर्भे=गर्भ में
चरसि=विचरता है
त्वं, एव=तू ही
प्रतिजायसे=उत्पन्न होता है
प्राण=हे प्राण
यः=जो तू
प्राणैः=प्राणादि पांच भेदों से
प्रतितिष्ठसि=शरीर में रहता है
तुभ्यं=तेरे लिये
इमाः, प्रजाः=यह सब प्रजा
बलिं=बलि को
हरन्ति=देते हैं।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द निश्चयार्थक है, शरीरूपी प्रजा का एकमात्र पति होने से यहां प्राण को प्रजापतिरूप से वर्णन किया गया है, शरीर का मुख्य अधिष्ठाता होने के कारण चक्षुरादि सब इन्द्रिय प्राण को ही बलि देते हैं, प्राण ही नानारूप से शरीर के भिन्न २ अङ्गों में स्थिर है अर्थात् प्राणरूप से हृदय में, अपानरूप से मूलद्वार में, समानरूप से नाभि में, उदानरूप से कण्ठ में और व्यानरूप से सारे शरीर में व्यापक है, उसी की रक्षा के लिये सब जीव अन्नादि पदार्थों को बलि भेंट देते हैं ताकि शरीर में सुरक्षित रहे, क्योंकि प्राण से प्रिय संसार में कोई पदार्थ नहीं।

सं०—अब प्राण को दिव्यरूप से कथन करते हैं:—

देवानामसि वन्हितमः पितृणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि। ८।

पद०—देवानां । असि । वह्नितमः । पितृणां । प्रथमा । स्वधा । ऋषीणां । चरितं । सत्यं । अथर्वाङ्गिरसां । असि ।

अर्थ

हे प्राण तू	स्वधा=प्रकृति है
देवानां=सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों के मध्य	ऋषीणां=मंत्रवेत्ता ऋषियों के मध्य
वह्नितमः=सर्वोपरि कारण रूप वह्नि	सत्यं, चरितं=सच्चरित्ररूप है
असि=है	अथर्वाङ्गिरसां=ब्रह्मविद्या को जानने वाले ऋषियों में तू
पितृणां=कर्मियों के मध्य	अथर्वा
प्रथमा=पहल=मुख्य	असि=है ।

भाष्य—जिस प्रकार हुतद्रव्य का वाहक वन्हि है इसी प्रकार शरीर रूप कुण्ड में हुतद्रव्य को अपने २ स्थान पर पहुंचाने के कारण सब दिव्य पदार्थों में प्राण को वह्नितम कहा गया है, और कर्मियों को प्रकृतिरूप इस अभिप्राय से कथन किया है कि जैसे कर्मी लोग प्रकृत्याख्य द्रव्य को आश्रय करके सब कर्म करते हैं इसी प्रकार प्राण को आश्रय करके सब इंद्रिय स्व २ कर्म करते हैं तथा जिस प्रकार ऋषियों के जीवन में सच्चरित्र सार होता है इसी प्रकार सब इन्द्रियों का सारभूत प्राण है और जिस प्रकार ब्रह्मवेत्ता ऋषियों में अथर्वा मुख्य ब्रह्मवेत्ता था इसी प्रकार प्राण सब इन्द्रियों में मुख्य है ।

सं०—अब प्राण का ऐश्वर्य्य वर्णन करते हैं:—

**इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्य्यस्त्वं ज्यो-
तिषां पतिः । ६ ।**

पद०—इन्द्रः । त्वं । प्राण । तेजसा । रुद्रः । असि । परिरक्षिता । त्वं । अन्तरिक्षे । चरसि । सूर्य्यः । त्वं । ज्योतिषां । पतिः ।

अर्थ

प्राण=हे प्राण	त्वं=तू
त्वं=तू	अन्तरिक्षे=आकाश में
तेजसा=अपने तेज से	चरसि=विचरता है
रुद्रः=रुद्ररूप है	त्वं=तू
परिरक्षिता=रक्षा करने वाला	ज्योतिषां=नक्षत्रों का
इन्द्रः=परमैश्वर्य वाला	सूर्य्यः=प्रकाशक
असि=है	पतिः=स्वामी है ।

भाष्य—प्राण को ["इन्द्र"] इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि इसी के आश्रय सब जीव सुख का अनुभव करते हैं अर्थात् ऐश्वर्य का भोग कराने में यही मुख्य हेतु है, और ["रुद्र"] इस अभिप्राय से कहा है कि शरीर से निकलता हुआ प्राणियों को रुलाता है, या यों कहो कि जब तक शरीर में प्राण बना रहता है तब तक यह रुद्ररूप से शत्रुओं को रुलाता और दीनों की रक्षा करता है, अव्याहतगति होकर आकाश में विचरने के कारण इसका नाम ["वायु"] है और जैसे सूर्य्य अपने प्रकाश से सब नक्षत्रों को प्रकाशित करता है इसी प्रकार अपने तेज से सब इन्द्रियों को प्रकाशित करने के कारण प्राण को ["सूर्य्य"] कथन किया गया है ।

सं०—अब इन्द्रिय प्राण की जलदातृत्वरूप से स्तुति करते हैं:—

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।

आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं
भविष्यतीति । १० ।

पद०—यदा । त्वं । अभिवर्षसि । अथ । इमाः । प्राण । ते । प्रजाः । आनन्दरूपाः । तिष्ठन्ति । कामाय । अन्नं । भविष्यति । इति ।

अर्थ

प्राण=हे प्राण
यदा=जब
त्वं=तू
अभिवर्षसि=मेघ होकर वर्षता है
अथ=तब
ते=तेरी
इमाः, प्रजाः=यह शरीररूप प्रजायें
कामाय=यथेष्ट
अन्नं=अन्न
भविष्यति, इति=होगा, इसलिये
आनन्दरूपाः=आनन्दरूप होकर
तिष्ठन्ति=ठहरतीं अर्थात् प्रसन्न होती हैं।

भाष्य—प्राण को अखिलब्रह्माण्ड के वायुरूप से वृष्टि का कारण पीछे कथन करचुके हैं अर्थात् वायु और अग्नि यह दो ही पदार्थ वर्षा के कारण हैं, प्राण का दूसरा नाम वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न होता है, अतएव प्राण ही वर्षा का मुख्य कारण माना गया है, जब प्राण मेघरूप होकर पृथिवी पर वर्षता है तब अनेक प्रकार के अन्नादि भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिससे सारी प्रजा पुष्टि को प्राप्त होती और सब प्राणी प्रसन्न होते हैं कि हमारे लिये यथेष्ट अन्न होगा, इस प्रसन्नता का हेतु वायुरूप प्राण ही है ।

सं०—अब प्राण की अन्य प्रकार से स्तुति करते हुए उसको स्वभाव से शुद्ध कथन करते हैं:—

व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः । वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः । ११ ।

पद०—व्रात्यः । त्वं । प्राण । एकः । ऋषिः । अत्ता । विश्वस्य । सत्पतिः । वयं । आद्यस्य । दातारः । पिता । त्वं । मातरिश्वनः ।

अर्थ

प्राण=हे प्राण
त्वं=तू
व्रात्यः=संस्कारानर्ह=स्वभाव से ही शुद्ध है
एकः, ऋषिः=अकेला ही गतिशील है और
अस्य=इस भोग्यरूप
विश्वस्य=विश्व का
अत्ता=भोक्ता=भक्षण करने वाला है
सत्पतिः=चक्षुरादि सब इन्द्रियों का पति है
वयं=हम सब
आद्यस्य=आपके लिये भोग्य के
दातारः=देने वाले हैं
मातरिश्वनः=हे मातरिश्वन्
त्वं=तू हमारा
पिता=रक्षक है अथवा तू ही मातरिश्वा=वायु का पिता=उत्पन्न करने वाला है ।

भाष्य—संस्कार रहित अर्थात् जिसका उपनयनादि कोई संस्कार न हुआ हो उसका नाम ["व्रात्य"] है, यहां प्राण को व्रात्य इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि सृष्टि में सबसे प्रथम वही उत्पन्न हुआ इसलिये उसका संस्कार कैसे हो सकता

था, जिस प्रकार अन्य इन्द्रिय संस्कारार्ह हैं इस प्रकार प्राण नहीं वह स्वभावतः शुद्ध है, जैसा कि अन्य उपनिषदों में भी वर्णन किया गया है कि प्राण निष्काम होने के कारण सब से श्रेष्ठ तथा शुद्ध है, और स्वतन्त्र गतिशील होने के अभिप्राय से "एकऋषि" कहा गया है अर्थात् अकेला ही गतिशील है, जैसे होताओं से हव्यभुक् अग्नि उनकी रक्षा का हेतु होता है इसी प्रकार इन्द्रियों से अन्नादि भोग्य पदार्थों द्वारा सत्ता पाकर प्राण इन्द्रियों का रक्षक होता है।

प्राण की उक्त स्तुति किसी देवविशेष के अभिप्राय से नहीं की गई और नाहीं मायावादियों के सर्वात्मवाद के अभिप्राय से की गई है किन्तु सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ होने के अभिप्राय से की गई है, और जो नानादेववादी टीकाकार यहां इन्द्रादि उपमानों को देवताविशेष मानकर उनके धर्म प्राण में आरोपण करते हैं, यह भाव उपनिषत्कार का कदापि नहीं, यहां केवल यही भाव है कि प्राण सब इन्द्रियों में मुख्य है अर्थात् अन्य सब इन्द्रिय प्राण की सत्ता को पाकर अपने २ कार्य्य में प्रवृत्त होते हैं, इसीलिये प्राण स्तुत्यर्ह है किसी देवता विशेष के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब इस प्रश्न के उपसंहार में सब इन्द्रिय प्राण से स्थिति की प्रार्थना करते हैं:—

याते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि। या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

पद०—या। ते। तनूः। वाचि। प्रतिष्ठिता। या। श्रोत्रे।

या । च । चत्तुषि । या । च । मनसि । सन्तता । शिवां । तां । कुरु । मा । उत्क्रमीः ।

अर्थ

हे प्राण
या=जो
ते=तेरा
तनूः=शरीर=शक्ति
वाचि=वाणी में
या=जो
श्रोत्रे=श्रोत्र में
च=और
या=जो
चत्तुषि=चत्तु में
प्रतिष्ठिता=स्थित है
च=और
या=जो
मनसि=मन में
संतता=फैली हुई है
तां=उस को
शिवां=मङ्गलमय
कुरु=कर
मा=मत
उत्क्रमीः=निकल ।

भाष्य—जब सब इन्द्रियों का अभिमान टूटगया तो सब ने मिलकर प्राण से यह प्रार्थना की कि, हे प्राण ! जो तुम्हारी शक्ति वाणी में स्थित है जिससे प्राणी बोलते हैं, जो श्रोत्र में स्थित है जिससे सुनते हैं, जो चत्तुः में स्थित है जिससे देखते हैं और जो मन में'प्रतिष्ठिव है जिससे संकल्प विकल्प करते हैं, उसको आप हमारे लिए मङ्गलकारिणी करें और हमारे शरीर से न निकलें अर्थात् अपनी सारी सत्ता को हमारे लिये मङ्गलमय करो और तुम उत्क्रमण मत करो ।

भाव यह है कि जब प्राण इन्द्रियों को त्याग देता है तो सब इन्द्रियों के गोलक अमङ्गलमय हो जाते हैं इसलिये सब इन्द्रियों ने मानो मिलकर प्राण से प्रार्थना की कि हमको अमङ्गलमय मत करो अर्थात् हम तेरी उपस्थिति में अपनी

शक्तियों का प्रयोग ऐसे कामों में करें कि जिससे सर्वदा हमारा कल्याण हो और हम को तेरा वियोग न हो।

सं०—अब इन्द्रिय अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं:—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च
विधेहि न इति। १३।

पद०—प्राणस्य। इदं। वशे। सर्वं। त्रिदिवे। यत्। प्रतिष्ठितं। माता, इव। पुत्रान्। रक्षस्व। श्रीः। च। प्रज्ञां। च। विधेहि। नः। इति।

अर्थ

त्रिदिवे=तीनों लोकों में
यत्=जो
प्रतिष्ठितं=वर्त्तमान है
इदं, सर्वं=यह सब
प्राणस्य=प्राण के
वशे=वश में है सो तू
माता, इव=माता के समान
पुत्रान्=पुत्रों की
रक्षस्व=रक्षाकर
च=और
श्रीः=शोभा को
च=और
प्रज्ञां=बुद्धि को
नः=हमारे लिये
विधेहि=दे
इति=द्वितीय प्रश्न की समाप्ति के लिये आया है।

भाष्य—अब अन्त में इस श्लोक में भी सब इन्द्रियों ने मिलकर प्राण से प्रार्थना की है अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो कुछ है वह सब प्राण ही के आधार पर स्थित है, या यों कहो कि विना वायु के संसार में कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता, स्थावर भी विना वायु के न बढ़ सकते और न

जीवित रह सकते हैं, प्राण ही माता के समान सब प्राणियों को रक्षा करता है, प्राण ही की स्थिरता से मनुष्य शारीरिक, आत्मिक बल तथा बुद्धि की वृद्धि कर सकता है, प्राण ही सब से श्रेष्ठ और प्रधान है, इस लिये उससे यह प्रार्थना की है कि जिस प्रकार माता पुत्रों की रक्षा करती है इसी प्रकार हे प्राण! आप हमारी रक्षा तथा हम को शोभा और बुद्धि का दान करें और जो यह कहा गया है कि जो कुछ तीनों लोकों में है वह सब प्राण के आधीन है यह इस अभिप्राय से कहा है कि सुख-मात्र की प्राप्ति प्राणाधीन होती है, इसलिये इसको तप और योगादि साधनों से जो पुरुष अपने वशीभूत रखते हैं वही मनुष्य जीवन के आनन्द को लाभ कर सकते हैं अन्य नहीं।

स्मरण रहे कि इस प्रश्न में प्राण और इन्द्रियों का संवाद ऐसा ही औपचारिक है जैसा कि केनोपनिषद् में यक्ष और अग्न्यादि का संवाद औपचारिक है और इसी प्रकार छान्दोग्य में उपचार से प्राणों की निष्कामता कथन की है कि प्राण अपने लिये कुछ ग्रहण नहीं करते अर्थात् जैसे चक्षु रूप में और रसना रस में फंस जाती है इस प्रकार प्राण किसी विषय में आसक्त नहीं होता, इसी अभिप्राय से यहां प्राणों की दृढ़ता अयोगोलक के समान वर्णन की है और इन्द्रियों को मृत्पिण्ड के समान वर्णन किया है कि जिस प्रकार मृत्पिण्ड अयोगोलक पर पड़ते ही छिन्नभिन्न हो जाता है इसी प्रकार प्राण के साथ प्रतिपक्ष करने से सब इन्द्रिय छिन्नभिन्न होगये, जैसे यह कथा उपचार से आरोपित है वैसे ही यहां प्राणों की स्तुति भी आरोपित है।

भाव यह है कि प्राणों की श्री तथा प्रज्ञा का तत्व समझने वाला पुरुष अपने उद्देश्य से कभी च्युत नहीं होता और अपने

प्राणों के संयम द्वारा इस भवसागर से पार होकर मोक्ष का भागी बनता है और जो इस तत्व को भुला देता है अर्थात् जो तप और योगाभ्यास द्वारा अपने प्राणों को वशीभूत नहीं करता वह इस मङ्गलमय प्राण से मनुष्य जन्म के परम प्रयोजनरूप मुक्ति को प्राप्त न होकर इस संसृति चक्र में भ्रमण करता रहता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह तप और योगादि साधनों से अपने प्राण को वशीभूत करके मोक्ष का भागी बने।

इति द्वितीयः प्रश्नः

———

अथ तृतीयः प्रश्नः प्रारभ्यते

सं०—अब इस प्रश्न में "कौशल्य" महर्षि पिप्पलाद से प्राणों की उत्पत्ति विषयक प्रश्न करता है—

अथ हैनं कौशल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ । भगवन् कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥१॥

पद०—अथ । ह । एनं । कौशल्यः । च । आश्वलायनः । पप्रच्छ । भगवन् । कुतः । एषः । प्राणः । जायते । कथं

आयाति । अस्मिन् । शरीरे । आत्मानं । वा । प्रविभज्य । कथं । प्रातिष्ठते । केन । उत्क्रमते । कथं । वाह्यं । अभिधत्ते । कथं । अध्यात्मं । इति ।

अर्थ

अथ=भार्गववैदर्भि के प्रश्नानन्तर
ह=प्रसिद्ध है कि
एनं=इस पिप्पलाद ऋषि से
आश्वलायन, कौशल्यः=अश्वल के पुत्र कौशल्य ने
पप्रच्छ=पूछा कि
भगवन्=हे भगवन्
एषः, प्राणः=यह प्राण
कुतः=किससे
जायते=उत्पन्न होता है
कथं=किस प्रकार
अस्मिन, शरीरे=इस शरीर में
आयाति=आता है
वा=और
आत्मानं=अपने आपको
प्रविभज्य=विभाग करके
कथं=किस प्रकार
प्रातिष्ठते=स्थित होता है
केन=किस हेतु से
उत्क्रमते=शरीर से निकल जाता है
च=और
कथं=कैसे
वाह्यं=इस शरीर रूप संघातको
अभिधत्ते=धारण करता है और
कथं=कैसे
अध्यात्मं, इति=मन आदिकों को धारण करता है।

भाष्य—आश्वलायन कौशिल्य ने महर्षि पिप्पलादि से पूछा कि हे भगवन्! यह कथन करें कि प्राण कैसे उत्पन्न होता है अर्थात् उसका निमित्तकारण क्या है? उत्पन्न होकर किस प्रकार इस शरीर में आता है और कितने भागों में विभक्त होकर स्थित होता है? किस प्रकार शरीर से निकलता है? तथा इस शरीररूप संघात और मन आदिकों को कैसे धारण करता है?

सं०—अब महर्षि पिप्पलाद उक्त प्रश्न का समाधान करते हैं—

तस्मै स होवाचाति प्रश्नान् पृच्छसि ब्रह्मि-ष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥२॥

पद०—तस्मै । सः । ह । उवाच । अति । प्रश्नान् । पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठः । असि । इति । तस्मात् । ते । अहं । ब्रवीमि ।

अर्थ

तस्मै=उस प्रश्नकर्त्ता कौशल्य से
सः=वह महर्षि
ह=स्पष्टतया
उवाच=बोले कि
अति, प्रश्नान्=बहुत सूक्ष्म प्रश्नों को
पृच्छसि=पूछता है
ब्रह्मिष्ठः=तू वेद का जानने वाला
असि, इति=है
तस्मात्=इस कारण
ते=तेरे लिये
अहं=मैं
ब्रवीमि=कहता हूँ

भाष्य—उपरोक्त प्रश्न सुनकर महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि हे कौशल्य ! तू बहुत सूक्ष्म प्रश्नों को पूछता है जो जिज्ञासु के पूछने योग्य नहीं अर्थात् प्राण की उत्पत्ति, विभाग, उत्क्रमण आदि जो बड़े सूक्ष्म विषय हैं जिनको विद्वान् भी सुगमता से नहीं जान सकते परन्तु ब्रह्मज्ञान के लिये इनका जानना उपयोगी है और तू ब्रह्म वेत्ता=वेद के जानने वाला है, इसलिये मैं तुम्हारे प्रति कहता हूं, यदि तुम अधीतवेद न होते तो तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर न देता ।

सं०—अब प्रथम प्रश्न का उत्तर कथन करते हैं—

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥३॥

पद० – आत्मनः । एषः । प्राणः । जायते । यथा । एषा । पुरुषे । छाया । एतस्मिन् । एतत् । आततं । मनोकृतेन । आयाति । अस्मिन् । शरीरे ।

अर्थ

आत्मनः=परमात्मारूप निमित्तकारण से
एषः=यह
प्राणः=प्राण
जायते=उत्पन्न होता है
यथा=जैसे
पुरुषः=पुरुष के शरीर में
एषा, छाया=यह छाया है
इसी प्रकार
एतस्मिन्=इस आत्मा में
एतत्=यह प्राण
आततं=फैला हुआ है
मनोकृतेन=मन से किये हुए शुभाशुभ कर्मों द्वारा
अस्मिन्, शरीरे=इस शरीर में
आयाति=आता है

भाष्य—इस श्लोक में महर्षि ने प्रथम प्रश्न का यह उत्तर दिया कि आत्मारूपी निमित्तकारण से प्राण की उत्पत्ति होती है, जैसाकि ["एतस्माज्जायते प्राणः"] इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि उस परमात्मा से प्राण उत्पन्न हुआ, इससे सिद्ध है कि परमात्मा प्राण का निमित्तकारण और वही छायाधार पुरुष के समान उसका आधार है, और शुभाशुभ कर्मों द्वारा प्राण इस शरीर में आता है।

सं०—अब प्राण के शरीर में नियुक्त करने का प्रकार कथन करते हैं—

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते । एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वे-त्येवमेवैष प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते ॥४॥

पद०—यथा । सम्राट् । एव । अधिकृतान् । विनियुङ्क्ते । एतान् । ग्रामान् । एतान् । ग्रामान् । अधितिष्ठस्व ! इति । एवमेव । एषः । प्राणः । इतरान् । प्राणान् । पृथक्पृथक् । एव । सन्निधत्ते ।

अर्थ

यथा=जैसे
एव=निश्चय करके
सम्राट्=राजा
अधिकृतान्=अपने अधिकारियों को
विनियुङ्क्ते=नियुक्त करता है कि
एतान्, ग्रामान्, एतान्, ग्रामान्= इन २ ग्रामों को
अधितिष्ठस्व=अधिकार में ले
एवमेव, इति=इसी प्रकार
एषः, प्राणः=यह प्राण
एव=निश्चय करके
इतरान्, प्राणान्=अन्य प्राणों को
पृथक् पृथक्=अलग २ स्थान विशेषों में
सन्निधत्ते=नियुक्त करता है

भाष्य—जिस प्रकार राजा अपने देश के प्रबन्धार्थ अधिकारियों को एक २ मण्डल में नियुक्त करके उनका अधिष्ठाता बना देता है अर्थात् अमुक २ प्रान्त अमुक २ अधिकारों के साथ अमुक २ अधिकारी के शासनाधीन हैं इसी प्रकार इस शरीर का राजा प्राण भी शारीरिक प्रबन्धार्थ चक्षुरादि इन्द्रियों

और अपानादि प्राणभेदों को उन २ का काम निर्धारण करके आप सर्वोपरिरूप से मुख्याधिष्ठाता बना रहता है, और वह सब प्राण की योजना से अपने २ कार्य्य में प्रवृत्त रहते हैं।

सं०—अब प्राणों की भिन्न २ रूप से शरीर में स्थिति कथन करते हैं—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः प्रस्वयं प्रातिष्ठतेमध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समुन्नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५॥

पद० – पायूपस्थे। अपानं। चक्षुः। श्रोत्रे। मुखनासिकाभ्यां। प्राणः। स्वयं। प्रातिष्ठते। मध्ये। तु। समानः। एषः। हि। एतत्। हुतं। अन्नं। समं। नयति। तस्मात्। एताः। सप्त। अर्चिषः। भवन्ति।

अर्थ

पायूपस्थे=प्राण मलमूत्र के द्वारभूत इन्द्रियों में
अपानं=अपानरूप से स्थिर है
मुखनासिकाभ्यां=मुख तथा नासिका के सहित
चक्षुः, श्रोत्रे=चक्षु और श्रोत्र में
प्राणः=प्राण
स्वयं=आपही
प्रातिष्ठते=स्थिर है
तु=और
मध्ये=नाभिदेश में
समानः=समान रूप से स्थिर है
हि=निश्चय करके
एषः=यह समान वायु
एतत, हुतं, अन्नं=खाये हुए अन्नादि के रस को
समं=समानरूप से सब अङ्गों में
नयति=पहुंचा देता है

तस्मात्=इसलिये
एताः=यह
सप्त=सात
अर्चिषः=ज्वालायें
भवन्ति=उत्पन्न होती हैं

भाष्य—प्राण अपने आपको विभक्त करके इस प्रकार शरीर में स्थिर होता है कि मूलद्वार और उपस्थेन्द्रिय में अपान वायु रहता है जो मलमूत्र को निकालता है, मुख, नासिका, चक्षुः और श्रोत के द्वारों से प्रवेश करता हुआ प्राणवायु शिर में रहता है जो श्वास प्रश्वास द्वारा शरीर को आरोग्य रखता है, नाभिप्रदेश में समान वायु रहता है जो जाठराग्नि को प्रदीप्त करता हुआ अन्नादि के रस का पाक करके सब अङ्गों में पहुंचाता है और इसी समान वायु से दो आंख की, दो कान की दो नासिका की तथा एक मुंह की, इस प्रकार सात ज्वालायें प्रज्वलित होती हैं अर्थात् जब समान वायु अन्नादि के रस को सब अङ्गों में पहुँचा देता है तब उक्त सात गोलक पुष्ट होकर अपने २ अर्थों के ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

सं०—अब जीवात्मा की हृदयदेश में स्थिति तथा व्यान वायु के स्थितिदेश का कथन करते हैं—

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतंशतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

पद०—हृदि । हि । एषः । आत्मा । अत्र । एतत् । एकशतं । नाडीनां । तासां । शतंशतं । एकैकस्यां । द्वासप्ततिः । द्वासप्ततिः । प्रतिशाखानाडीसहस्राणि । भवन्ति । आसु । व्यानः । चरति ।

अर्थ

हि=निश्चय करके
हृदि=हृदय में
एषः=यह
आत्मा=आत्मा रहता है
अत्र=इस हृदय में
एतत्=यह
नाडीनां=नाड़ियों का
एकशतं=एकसौएक समुदाय है
तासां=उनमें से
एकैकस्यां=एक २ के
शतंशतं=सौ २ भेद हैं और फिर उनमें भी
द्वासप्ततिः, द्वासप्ततिः, प्रतिशाखा-नाडीसहस्राणि=प्रत्येक शाखा-रूप नाडी के बहत्तर २ हज़ार भेद
भवन्ति=हैं और
आसु=इनमें
व्यानः=व्यान वायु
चरति=विचरता है

भाष्य—सब इन्द्रियों का राजा जीवात्मा हृदयदेश में विराजमान है और उसके समीप ही नाभिदेश से (एकसौएक) १०१ नाड़ियें निकल कर सारे शरीर में फैली हुई हैं, फिर उनमें से एक २ की सौ २ शाखायें निकल कर "दशहजार-एकसौ" १०१०० होती हैं, उनमें से भी एक २ की "बहत्तरहज़ार" ७२००० शाखायें निकल कर सारे शरीर में फैली हुई हैं, इन सब नाड़ियों में रुधिर का संचार करता हुआ "व्यान" वायु विचरता है अर्थात् सारे शरीर में व्यापक वायु का नाम ["व्यान"] है, इतनी सूक्ष्म नाड़ियों के अतिसूक्ष्म रन्ध्रों में "व्यान" रहता है, यद्यपि सामान्यरूप से शरीर के सब अङ्गप्रत्यङ्गों में व्यान विचरता है तथापि मर्मस्थानों में इसकी विशेषरूप से स्थिति मानी गई है, क्योंकि वहीं से रुधिर बनकर शरीर के सारे अङ्गों और प्रत्यङ्गों में फैलता है।

भाव यह है कि ऐसे सूक्ष्म मर्मस्थानों में प्राणविद्या का

जानने वाला ही प्राण की रक्षा करके आनन्द लाभ कर सकता है अन्य नहीं।

सं०—अब उत्क्रान्ति विषयक चतुर्थ प्रश्न का समाधान करते हैं—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति । पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

पद०—अथ । एकया । ऊर्ध्वः । उदानः । पुण्येन । पुण्यं । लोकं । नयति । पापेन । पापं । उभाभ्यां । एव । मनुष्यलोकम् ।

अर्थ

अथ=इसके अनन्तर
एकया=सुषुम्णा द्वारा
ऊर्ध्वः=ऊपर को ले जाने वाला
उदानः=उदान है जो
पुण्येन=उत्तम कर्मों से
पुण्यलोकं=पवित्र स्थानों को
पापेन=पाप कर्मों से पापयोनियों को और
उभाभ्यां, एव=पापपुण्य दोनों से
मनुष्यलोकं=मनुष्यलोक को
नयति=ले जाता है।

भाष्य—उपरोक्त एकसौएक नाडियों में से एक सुषुम्णा नामक नाडी है जो ब्रह्मरन्ध्र स्थान में से बाहर निकली हुई है इसी के द्वारा उदान वायु जीवात्मा का प्रयाण करता है और यह कण्ठ में रहता हुआ खाद्य अन्नादि को नीचे उतार कर आमाशय में पहुंचाता है जिसके द्वारा पुष्ट होकर पुरुष कर्म करने में समर्थ होता है, यही शुभकर्मी पुरुषों को पवित्र देवताओं की योनि में, अशुभ कर्मियों को असुर राक्षसादि की योनियों में और शुभाशुभ मिले हुए कर्म करने वाले को मनुष्य

योनि में पहुँचाता है ["मनुष्यलोक"] के अर्थ यहां मानवदेह के हैं किसी लोकविशेष के नहीं ।

सं० अब उक्त पांच प्राणों के पांच उपमान कथन करते हैं:—

आदित्यो ह वै वाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः । ८ ।

पद०—आदित्यः । ह । वै । वाह्यः । प्राणः । उदयति । एषः । हि । एनं । चाक्षुषं । प्राणं । अनुगृह्णानः । पृथिव्यां । या । देवता । सा । एषा । पुरुषस्य । अपानं । अवष्टभ्य । अन्तरा । यत् । आकाशः । सः । समानः । वायुः । व्यानः ।

अर्थ

ह=प्रसिद्ध है कि
आदित्यः, वै=सूर्य ही
वाह्यः, प्राणः=वाह्यप्राणरूप हो कर
उदयति=उदय होता है
हि=निश्चय करके
एषः=यह वाह्य प्राण
एनं=इस
चाक्षुषं, प्राणं=चक्षुवृत्ति प्राण को
अनुगृह्णानः=प्रकाश करता हुआ स्थित है
पृथिव्यां=पृथिवी में
या=जो
देवता=दिव्यरूप शक्ति है
सा, एषा,=वह शक्ति
पुरुषस्य=पुरुष के
अपानं=अपान वायु को

अवष्टभ्य=सहारा देकर धारण किये हुए है
अन्तरा=सूर्य और पृथिवी के बीच में
यत्=जो
आकाशः=आकाशस्थ वायु है
सः=वह
समानः=समान वायु है और
वायुः=सामान्य रूप से जो बाह्यवायु है
सः=वह
व्यानः=व्यान है।

भाष्य—प्राण को आदित्य की उपमा इस अभिप्राय से दी गई है कि आदित्य चक्षु रूप प्राण को प्रकाश्य प्रकाशकभाव से सहायता देता है और पृथिवी में जो दिव्यशक्ति है वह अपने आकर्षण द्वारा अपानवायु की तथा अन्तरिक्षस्थ वायु समान की और सामान्य वायु व्यान की सहायक है।

भाव यह है कि सूर्य्य, आकाश, वायु, जल और पृथिवी यह पांच पांचों प्राणों के उपमान हैं, शरीर में रहने वाले उक्त पांचों प्राण सूर्य्यादि की सहायता के विना अपना २ कार्य्य नहीं कर सकते अर्थात् नेत्र सम्बन्धी प्राण सूर्य्य के विना, अपान भौतिकाग्नि के बिना, समान अन्तरिक्षस्थ वायु के बिना, व्यान सामान्य वायु के विना अपने २ कार्य में असमर्थ होने के कारण इनको उपमान कथन किया गया है, या यों कहो कि प्राण इन्हीं के सहारे पुरुष शरीर को धारण किये हुए हैं इस लिये इनका नाम ["उपमान"] है।

सं०—अब उदान को तेजरूप से वर्णन करते हैं:—

तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः । १ ।

पद०—तेजः । ह । वै । उदानः । तस्मात् । उपशान्ततेजाः । पुनर्भवं । इन्द्रियैः । मनसि । सम्पद्यमानैः ।

अर्थ

ह=यह प्रसिद्ध है कि
तेजः, वैं=तेज ही
उदानः=उदान वायु है
तस्मात्=इसीलिये
उपशान्ततेजाः=जब मनुष्य के शरीर की उष्णता शान्त हो जाती है तब वह
मनसि, सम्पद्यमानैः=मन में लय हुए
इन्द्रियैः=इन्द्रियों के साथ
पुनर्भवं=पुनर्जन्म=शरीरान्तर को प्राप्त होता है।

भाष्य—ऊर्ध्वगतिशील प्राण का नाम ["उदान"] है, यही उदान शरीर को तेजस्वी रखता है, और जब इस का तेज शान्त हो जाता है तब जीव सूक्ष्म शरीर के साथ शरीरान्तर को प्राप्त होता है।

तात्पर्य्य यह है कि तेज का नाम "उदान" है अर्थात् शरीर में जो उष्णता है जिसके आश्रित पुरुष गमनागमन तथा कार्य्य में प्रवृत्त रहता है वह उदानवायु के ही आश्रित है, उदानवायु का तेज शान्त होने पर फिर वह उष्णता नहीं रहती और उस के न रहने से जीवात्मा इस शरीर को त्यागकर मन में लीन हुए इन्द्रियों के साथ शरीरान्तर को प्राप्त हो जाता है, या यों कहो कि जब तक शरीर में उदानवायु काम करता रहता है तब तक उसमें उष्णता बनी रहती है जो जीवन का मुख्य आधार है परन्तु उदान की गति का निरोध होते ही शरीर ठंडा हो जाता है, ठण्डा हो जाने पर अन्य प्राण भी अपना २ कार्य छोड़ देते हैं और इसी का नाम ['मृत्यु"] है।

सं०—अब जीवात्मा की शरीर से उत्क्रान्ति का प्रकार कथन करते हैं:—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा

युक्तः । सहात्मना यथा सङ्कल्पितं
लोकं नयति ॥ १० ॥

पद०—यच्चित्तः । तेन । एषः । प्राणं । आयाति । प्राणः । तेजसा । युक्तः । सह । आत्मना । यथा । संकल्पितं । लोकं । नयति ।

अर्थ

यच्चित्तः=जिसमें चित्त होता है
तेन=तद्विषयक संस्कारों से
एषः=यह जीवात्मा
प्राणं=इन्द्रियों के साथ प्राणों को
आयाति=ग्रहण करके
प्राणः=प्राणवायु
तेजसा=तेज से
युक्तः=युक्त हुआ २
आत्मना, सह=आत्मा के साथ
तम्=उसको
यथा, सङ्कल्पितं, लोकं=अपने अन्तःकरण की वासना-वाले शरीर को
नयति=लेजाता है ।

भाष्य—पूर्वप्रारब्धकर्मानुसार मृत्युकाल में जिस में चित्त होता है, या यों कहो कि मरण समय में शुभाशुभ कर्मों की वासना के अनुसार जीवात्मा के जैसे संस्कार होते हैं वैसे ही शरीरान्तर की प्राप्ति होती है अर्थात् मरण समय में सब इन्द्रियों की वृत्ति क्षीण हो जाने से प्राण वायु के आश्रित जीवात्मा रहता है, उस समय प्राण उस को उस की वासनाओं के अनुसार यथेष्ट योनि को प्राप्त कराता है ।

सार यह निकला कि जीवात्मा के अपने शुभाशुभ कर्म ही उस की शुभाशुभ गति के निमित्त होते हैं, ["लोक"] शब्द के अर्थ यहां देहान्तर के हैं ।

सं०—अब उक्त प्राणविद्या का दो श्लोकों में फल कथन करते हैं:—

य एवं विद्वान् प्राणं वेद। न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥

पद०—यः। एवं। विद्वान्। प्राणं। वेद। न। ह। अस्य। प्रजा। हीयते। अमृतः। भवति। तत्। एषः। श्लोकः।

अर्थ

यः=जो
विद्वान्=विद्वान् पुरुष
एवं=इस प्रकार
प्राणं=प्राण को
वेद=जानता है
ह=यह प्रसिद्ध है कि
अस्य=उसकी
प्रजा=सन्तति
न, हीयते=नष्ट नहीं होती, और वह
अमृतः=अमृत
भवति=हो जाता है
तत्=वहां
एषः=यह
श्लोकः=श्लोक है।

भाष्य—इस प्रश्न में वर्णन की हुई प्राणविद्या को जो पुरुष जानते हैं। उनका शरीर नीरोग, इन्द्रियें बलवान् तथा मन स्वस्थ रहता है और उनका पुष्टवीर्य्य होने के कारण सन्तान उत्तम और बलिष्ट उत्पन्न होकर दीर्घायु होती है अर्थात् बाल्यावस्था में ही माता पिता से पृथक् हो जाने वाली नहीं होती और इस प्राण को ही पुरुष अपने वशीभूत करके योगी बन सकता है और योग द्वारा इस मरणधर्मा शरीर में ममत्व बुद्धि न रखता हुआ अमृत को प्राप्त होता है।

भाव यह है कि जो प्राणविद्या को जानता है वह सब इन्द्रियों का ज्ञानाग्नि में हवन कर देता है विषयाग्नि में नहीं, इसीलिये उसको अमृत की प्राप्ति कथन की गई है।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा। अध्यात्मञ्चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञाया-मृतमश्नुत इति॥ १२॥

पद०—उत्पत्तिं। आयतिं। स्थानं। विभुत्वं। च। एव। पञ्चधा। अध्यात्मं। एव। प्राणस्य। विज्ञाय। अमृतं। अश्नुते। विज्ञाय। अमृतं। अश्नुते। इति।

अर्थ

प्राणस्य=प्राण की
उत्पत्तिं=उत्पत्ति को
आयतिं=स्थिति को
च=और
पञ्चधा=पांच प्रकार से अपना विभाग करके
स्थानं=हृदयादि स्थानों में स्थिति को
च=और
विभुत्वं=व्यापकता को
अध्यात्मं=चक्षुरादि इन्द्रियों में स्थिति को
विज्ञाय=जान कर पुरुष
अमृतं=मुक्ति को
अश्नुते=प्राप्त होता है।

भाष्य—श्लोक में ["विज्ञायामृतमश्नुत इति"] पाठ दो वार तृतीय प्रश्न की समाप्ति का सूचक है, जो पुरुष प्राणों की उत्पत्ति तथा स्थिति को जानता है और यह भी जानता है कि प्राण अपना विभाग करके किस प्रकार भिन्न २ स्थानों में रहता है और उसका जीवात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इस ज्ञान वाला पुरुष जीवात्मा के अविनाशी धर्म को प्राप्त होता है अर्थात् जो पुरुष अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय कोषों का ज्ञाता है वह अपने आपको मरणधर्मा

नहीं मानता किन्तु अनादि अनन्त मानता है और यही उसका अमृत पद है।

तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष निमित्तकारण परमात्मा से प्राण की उत्पत्ति, स्वकर्मानुसार शरीर में स्थिति अर्थात् प्राणरूप से चक्षु और श्रोत्र में, अपानरूप से मूलद्वार और उपस्थेन्द्रिय में समान रूप से नाभि में, व्यानरूप से सारे शरीर में और उदानरूप से सुषुम्णा नाडी में स्थिति को तथा उदान द्वारा उत्क्रान्ति को जो जानता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

मायावादी यहाँ "विभु" के अर्थ सर्वव्यापक करते हैं अर्थात् प्राण को ब्रह्म मानते हैं, उनका यह मानना इसलिये ठीक नहीं कि यहां प्राणविद्या का प्रकरण है ब्रह्मविद्या का नहीं, विभु शब्द के अर्थ यहाँ विशेषरूप से शरीर में व्यापकता के हैं सर्वदेशी के नहीं।

इति तृतीयः प्रश्नः

——⌘——
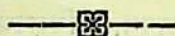
अथ चतुर्थः प्रश्नः प्रारभ्यते

सं०—अब "सौर्यायणी गार्ग्य" महर्षि पिप्लाद से सुषुप्ति विषयक प्रश्न करता है—

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति, कस्यैतत्सुखं भवति, कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

पदं०—अथ। ह। एनं। सौर्यायणी। गार्ग्यः। पप्रच्छ। भगवन्। एतस्मिन्। पुरुषे। कानि। स्वपन्ति। कानि। अस्मिन् जाग्रति। कतरः। एषः। देवः। स्वप्नान्। पश्यति। कस्य। एतत्। सुखं। भवति। कस्मिन्। नु। सर्वे। संप्रतिष्ठिताः। भवन्ति। इति।

अर्थ

अथ=तृतीय प्रश्नानन्तर
ह=प्रसिद्ध है कि
एनं=पिप्पलाद ऋषि से
सौर्यायणी,गार्ग्यः=सौर्य्य ऋषि के पुत्र गार्ग्य ने
पप्रच्छ=पूछा कि
भगवन्=हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न
एतस्मिन्, पुरुषे=इस हस्तपादादि आकृति वाले शरीर-में
कानि=कौन २ इन्द्रिय
स्वपन्ति=सोते हैं ?
कानि=कौन
अस्मिन्=इसमें
जाग्रति=जागते हैं ?
एषः,देवः=जो यह देव
स्वप्नान्=स्वप्न
पश्यति=देखता है सो
कतरः=कौन है ?
कस्य=किसको
एतत्,सुखं=यह सुख
भवति=होता है ?
नु=यह संशय है कि
कस्मिन्=किसमें
सर्वे=सब
संप्रतिष्ठिताः=स्थित
भवन्ति,इति=होते हैं।

भाष्य—उक्त श्लोक में पांच प्रश्न किये गये हैं अर्थात् प्रश्न-कर्त्ता का अभिप्राय यह है कि जब पुरुष सोजाता है तब कौन२ इन्द्रिय जागते हैं ? कौन २ सोते हैं ? वह देव कौन है जो स्वप्नावस्था का साक्षी है ? यह सुख किसको होता है ? और जब यह पुरुष अत्यन्त गाढ़ निन्द्रा में सोता है तब यह सब इन्द्रिय किसमें स्थिर-होते हैं ?।

सं०—अब महर्षि पिप्पलाद उक्त प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं:

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते॥ २॥

पद०—तस्मै। सः। ह। उवाच। यथा। गार्ग्य। मरीचयः। अर्कस्य। अस्तं। गच्छतः। सर्वाः। एतस्मिन्। तेजोमण्डले। एकीभवन्ति। ताः। पुनः। पुन। उदयतः। प्रचरन्ति। एवं। ह। वै तत्। सव। परे। मनसि। एकीभवति। तेन। तर्हि। एषः। पुरुषः। न। शृणोति। न। पश्यति। न। जिघ्रति। न। रसयते। न। स्पृशते। न। अभिवदते। न। आदत्ते। न। आनन्दयते। न। विसृजते न। इयायते। स्वपिति। इति। आचक्षते।

अर्थ

तस्मै=उस प्रश्नकर्त्ता से
स:=वह ऋषि
ह=स्पष्टतया
उवाच=बोले कि
गार्ग्य=हे गार्ग्य?
यथा=जैसे
अस्तं,गच्छतः=अस्त होते हुए
अर्कस्य=सूर्य्य की
सर्वाः=सब
मरीचयः=किरणें

एतस्मिन्, तेजोमण्डले=इस तेजोमण्डल में	एषः,पुरुषः=यह पुरुष
एकीभवन्ति=एकरूप हो जाती हैं और	न,शृणोति=न सुनता है
पुनः पुनः, उदयतः=पुनः २ सूर्य्य के उदय होते हुए	न, पश्यति=न देखता है
ताः=वे किरणें	न, जिघ्रति= न सूंघता है
प्रचरन्ति=फैल जाती हैं	न, रसयते=न रस लेता है
एवं=इसी प्रकार	न, स्पृशते=न स्पर्श करता है
ह वै=निश्चय करके	न, अभिवदते=न बोलता है
तत्, सर्वं=वह सब ज्ञान	न, आदत्ते=न किसी को ग्रहण करता है
परे, देवे, मनसि=इन्द्रियों का परमदेव जो मन है उसमें	न, आनन्दयते=न विषयजन्य आनन्द अनुभव करता है
एकीभवति=एक हो होजाता है	न, विसृजते=न छोड़ता है और
तेन=इस कारण	न, इयायते=न चलता है
तर्हि=तब	स्वपिति=सोता है
	इति=ऐसा आचक्षते कहते हैं।

भाष्य—महर्षि पिप्पलाद ने इस प्रथम प्रश्न का "जिस में यह पूछा था कि कौन २ इन्द्रिय सोते हैं अर्थात् सुषुप्ति क्यों होती है"? यह उत्तर दिया कि हे गार्ग्य! जैसे सायंकाल में जब सूर्य्य की सब रश्मियें सिमटकर उस तेजोमण्डल में लीन=एकता को प्राप्त हो जाती हैं तब उस देश में अन्धकार हो जाता है और फिर वही रश्मियें प्रातःकाल में जब सूर्य्य उदय होता है तब उसमें से प्रचार पाकर सर्वत्र फैलजाती हैं जिन से प्रकाश होकर व्यवहार होने लगता है, इसी प्रकार सुषुप्ति काल में जब सब इन्द्रिय मन में लय हो जाते हैं उस अवस्था में पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता

है, न चलता है, न छूता है, न बोलता है, न छोड़ता है, न सुख का अनुभव करता और न चलता है किन्तु ["सोता है"] यह कहा जाता है, और फिर निद्रा से उपरत होकर जब जागता है तब मन में से इन्द्रिय निकलकर पदार्थों का पृथक् २ प्रकाश कर देती हैं जिससे दर्शन तथा श्रवणादि ज्ञान होने लगता है इसी का नाम ["जागरण"] और मन में इन्द्रियों के लय हो जाने का नाम ["सुषुप्ति"] है, इस अवस्था में पुरुष अपने स्वरूपभूत ज्ञान से विराजमान होने के कारण सोता हुआ कहा जाता है।

और जो कई एक लोगों का यह कथन है कि इस अवस्था में जीव पाषाणकल्प जड़ हो जाता है, यह ठीक नहीं, क्योंकि जीव की उक्त अवस्था जड़ पदार्थों से विलक्षण होती है अर्थात् जिस प्रकार जड़ पदार्थों में ज्ञानाभाव होता है इस प्रकार जीव में सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानाभाव नहीं होता जीव का अपना स्वरूपभूत ज्ञान बना रहता है, और जो मायावादियों का यह कथन है कि अविद्या का साक्षात् परिणाम रूप वृत्ति सुषुप्ति में होती है और यह वृत्ति किञ्चित् ज्ञान और किञ्चित् अज्ञान को अनुभव करती है इसलिये पुरुष कहता है कि मैं सुख से सोया और मैं कुछ नहीं जानता था, यह ठीक नहीं, वास्तव में बात यह है कि उस समय सब इन्द्रियों की वृत्तियें मन में लय हो जाती हैं और मन संयुक्त आत्मा किसी इन्द्रिय के गोलक के साथ सम्बन्ध नहीं करता इसलिये उसको विशेष ज्ञान नहीं होता किन्तु चिन्मात्र स्वसत्ता का ज्ञान होता है, इस अवस्था का नाम "सुषुप्ति" है।

सं०—अब "कौन जानते हैं" इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

पद०—प्राणाग्नयः । एव । एतस्मिन् । पुरे । जाग्रति । गार्हपत्यः । ह वै । एषः । अपानः । व्यानः । अन्वाहार्यपचनः । यत् । गार्हपत्यात् । प्रणीयते । प्रणयनात् । आहवनीयः । प्राणः ।

अर्थ

एतस्मिन्, पुरे=इस पुरे=शरीर में
एव=निश्चय करके
प्राणाग्नयः=प्राणरूप पांच अग्नि ही
जाग्रति=जागते हैं
ह वै=यह प्रसिद्ध है कि
एषः=यह
अपानः=अपानवायु ही
गार्हपत्यः=गार्हपत्य अग्नि है, और
व्यानः=व्यान
अन्वाहार्यपचनः=दक्षिणाग्नि है
यत्=जो
गार्हपत्यात=गार्हपत्य अग्नि से
प्रणीयते=लीजाती है
प्रणयनात्=गार्हपत्याग्नि से ली जाने के कारण
प्राणः=प्राणवायु
आहवनीयः=आहवनीयाग्नि कहाती है ।

भाष्य—इस श्लोक में महर्षि दूसरे प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि इस नवद्वार वाले शरीर में जब सब इन्द्रिय सुषुप्तिकाल में सोते हैं अर्थात् मन में लीन हुए अपने २ कार्य्य से उपरत हो जाते हैं तब पांच प्राणरूप अग्नि ही ["जागते"] हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं, और अपानवायु को गार्हपत्य अग्नि इस अभिप्राय से कहा है कि जिस प्रकार गार्हपत्य अग्नि से

नौमित्तिक यज्ञों में आहवनीय अग्नि ली जाती है अर्थात् आहवनीयादिकों का मूल गार्हपत्याग्नि है इसी प्रकार सुषुप्ति-काल में अपानरूप प्राण जीवन का मूल है अर्थात् सोये हुए पुरुष का अपानवायु ही मुख नासिका के छिद्रों से प्राणरूप होकर निकलने के कारण आहवनीय अग्नि को ही प्राणवायु कहते हैं, क्योंकि वह अपानरूप गार्हपत्य अग्नि से उत्पन्न होता है, और समान को अन्वाहार्य्यपचन इस अभिप्राय से कहा गया है कि जिस प्रकार अन्वाहार्य्यपचनरूप अग्नि नाभिप्रदेश में अन्न को पकाता है इसी प्रकार नाभिमण्डल में वृत्ति होने से समानवायु को अन्वाहार्य्यपचन कथन किया गया है, दूसरी बात यह है कि प्राण को इसलिये भी आहवनीय अग्नि स्थानीय कहा गया है कि वह अहर्निश दुर्गन्धियुक्त वायु को निकालकर सुगन्धि युक्त वायु को भीतर ले जाता है अर्थात् वह आहवनीय अग्नि के समान सुगन्धि को बढ़ाता और दुर्गन्धि को दूर करता है।

सं०—अब समान और उदान का कथन करते हैं:—

यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नय-
तीति स समानः। मनो ह वाव यजमान
इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमान-
महरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

पद०—यत्। उच्छ्वासनिश्वासौ। एतौ। आहुती। समं। नयति। इति। सः। समानः। मनः। ह। वाव। यजमानः। इष्टफलं। एव। उदानः। सः। एनं। यजमानं। अहरहः। ब्रह्म। गमयति।

अर्थ

यत्=जो
उच्छ्वासनिश्वासौ=श्वासप्रश्वास-रूप
एतौ=इन दो
आहुती=आहुतियों को
समं, नयति, इति=समानरूप से प्राप्त करता है
सः=वह
समानः=समान है, और
ह=निश्चय करके
मनः, वाव=मन ही
यजमानः=यजमान=यज्ञ का कर्त्ता है
इष्टफलं, एव=यज्ञ का फल ही
उदानः=उदानवायु है
सः=वह उदान
एनं, यजमानं=इस यजमान को
अहरहः=प्रतिदिन
ब्रह्म=ब्रह्म को
गमयति=प्राप्त कराता है।

भाष्य—इस श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि जो श्वास प्रश्वासरूप दो आहुतियों को समान रूप से प्राण में हवन करता है वह समान वायु है अर्थात् जिस प्रकार सुगंधित द्रव्य की आहुतियों द्वारा दुर्गन्ध की निवृत्तिपूर्वक सुगन्धि का प्रचार होता है इसी प्रकार समान वायु द्वारा शुद्ध वायु का ग्रहण और अशुद्ध वायु का त्याग होता है, इस यज्ञ का कर्त्ता यजमान मन है और इस यज्ञ का फल उदानवायु है जो मन रूप यजमान को सुषुप्ति अवस्था में लेजाकर सुख का अनुभव कराता है।

भाव यह है कि जिस प्रकार बाह्ययज्ञ में आहुति, यजमान और इष्टफल आदि नानासाधन होते हैं तब यज्ञ की पूर्ति होती है इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष के यज्ञ की पूर्त्ति आध्यात्मिक साधनों द्वारा कथन की गई है जिसकी श्वास, प्रश्वास रूप आहुतियें हैं, मन यजमान और उदान फल है, यही उदानरूप

इष्टफल इस पुरुष को ब्रह्मप्राप्ति अर्थात् सुखविशेष का हेतु होता है।

सं०—अब स्वप्न के द्रष्टा देव का कथन करते हैं:—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्-दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनु-शृणोति देशदिगन्तरैश्चप्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

पद०—अत्र। एषः। देवः। स्वप्ने। महिमानं। अनुभवति। यत्। दृष्टंदृष्टं। अनुपश्यति। श्रुतंश्रुतं। एव। अथ। अनु-शृणोति। देशदिगन्तरैः। च। प्रत्यनुभूतं। पुनःपुनः। प्रत्यनु-भवति। दृष्टं। च। अदृष्टं। च। श्रुतं। च। अश्रुतं। च। अनुभूतं। च। अननुभूतं। च। सत्। च। असत्। च। सर्वं। पश्यति। सर्वः। पश्यति।

अर्थ

अत्र=इस
स्वप्ने=स्वप्नावस्था में
एषः, देवः=यह जीवात्मारूप देव
महिमानं=नानाविध पदार्थों के महत्त्व को
अनुभवति=अनुभव करता है
यत्=जिसको

दृष्टं=पूर्व देखा है उसको
दृष्टं, अनुपश्यति=देखे हुए के समान पुनः देखता है
श्रुतं, अर्थं=सुने हुए अर्थ को
श्रुतं,एव, अनुशृणोति=सुने हुए के समान फिर सुनता है
च=और
देशदिगन्तरैः, प्रत्यनुभूतं= भिन्न २ दिशाओं में जो अनुभव किया गया है उसी का
पुनः पुनः, प्रत्यनुभवति=पुनः २ अनुभव करता है
च=और
दृष्टं=देखे हुए को
च=और
अदृष्टं=बिना देखे हुए को
च=और
श्रुतं=सुने हुए को
च=और
अश्रुतं=बिना सुने हुए को
च=और
अनुभूतं=अनुभव किये हुए को
च=और
अननुभूतं=बिना अनुभव किये हुए को
च=और
सत्=जो कूटस्थनित्य तथा परिणामी नित्य हैं उनको
च=और
असत्=जो अनित्य पदार्थ हैं उन
सर्वं=सब को
पश्यति=देखता है
सर्वः=सब इन्द्रियों को अपने में लीन करके
पश्यति=देखता है।

भाष्य—इस श्लोक में महर्षि पिप्पलाद ने इस तीसरे प्रश्न का उत्तर कि "कौन देव स्वप्न देखता है" यह दिया कि जब श्रोत्रादि सब इन्द्रिय अपने २ कार्य्य से उपरत हो जाते हैं तब केवल प्राणादि पांच प्राण इस शरीर में जागते हैं अर्थात् अपने २ कार्य्य में प्रवृत्त रहते हैं उस समय जीवात्मारूप देव पूर्व देखे हुए अथवा सुने हुए अर्थों को उन के संस्कारों द्वारा अपने में देखता, सुनता और अनुभव करता है इसी का नाम

["स्वप्नावस्था"] है, स्वप्न के पदार्थ अत्यन्त असत्=प्रातिभासिक नहीं किन्तु निद्रादोष से जाग्रत के पदार्थों की ही अन्यथा स्मृति का नाम ["स्वप्न"] है, इसी अभिप्राय से इस श्लोक में वर्णन किया है कि ["दृष्टं दृष्टं अनुपश्यति"] पूर्वानुभूत पदार्थों को ही देखता है, और जो यह कथन किया है कि दृष्टादृष्ट, श्रुताश्रुत, अनुभूताननुभूत, सब को देखता है, इसका तात्पर्य यह है कि जो इस जन्म में नहीं देखे अथवा नहीं सुने उन को भी स्वप्नावस्था में निद्राद्वारा चित्तवृत्ति निरोध होने के कारण स्मरण करता है अर्थात् स्वप्न में स्मृतिज्ञान होता है जिससे जीवात्मा उन पदार्थों का अनुभव करता है परन्तु स्वप्न में अत्यन्तासत् पदार्थों का भान नहीं होता ।

मायावादियों के मत में स्वप्न के पदार्थ प्रातिभासिक हैं अर्थात् रज्जु सर्प के समान उनकी अधिकरण से भिन्न सत्ता नहीं, यह अर्थ वह इस श्लोक से लाभ करते हैं और सत्, असत् के अर्थ व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक करते हैं, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि स्वप्नावस्था में व्यावहारिक पदार्थों का अनुभव होता है तो फिर वह प्रातिभासिक कैसे ? क्योंकि इन के मत में वह पदार्थ प्रातिभासिक कहे जाते हैं जिनका अधिष्ठान ज्ञान से बाध हो जाय, जैसा कि रज्जु के ज्ञान से सर्प्प का बाध हो जाता है परन्तु स्वप्न के पदार्थ ऐसे नहीं, यदि वह भी ऐसे होते तो अत्यन्त असत् पदार्थों का भी स्वप्न आता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि स्वप्न के पदार्थ प्रातिभासिक नहीं ।

और जो उनका यह कथन है कि अपने कटे हुए शिर को अपने हाथ पर रखे हुए का स्वप्न देखता है जो किसी जन्म से अनुभव नहीं किया गया ? इसका उत्तर यह है कि शिर और

शिर का कटना उसने जाग्रत् अवस्था में अनुभव किया है अथवा सुना है, उसी की अन्यथा स्मृति से अपना शिर अपने हाथ पर रखा हुआ प्रतीत होता है।

और जो यह कहा जाता है कि अन्यथास्मृतिवादी के मत में ["सोयंगजः"]=वह यह गज है, ऐसी प्रतीति होनी चाहिय न कि ["अयंगजः"]=यह गज है, ऐसी ? इसका उत्तर यह है कि निद्रादोष से तत्ता का प्रमोष हो जाता है अर्थात् स्वप्न के पदार्थों में तत्तावगाहि ज्ञान नहीं होता किन्तु ["अयंगजः"]= यह गज है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है, इसलिये स्मृति ज्ञान से भेद है।

सं०—अब "किस को सुख होता है" इस चतुर्थ प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

स यदा तेजसाभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

पद०—सः। यदा। तेजसा। अभिभूतः। भवति। अत्र। एषः। देवः। स्वप्नान्। न। पश्यति। अथ। तदा। एतस्मिन्। शरीरे। एतत्। सुखं। भवति।

अर्थ

सः=वह जीवात्मा
यदा=जिस समय
तेजसा=तमोगुण से
अभिभूतः=तिरस्कृत
भवति=होजाता है
अत्र=इस अवस्था में
एषः,देवः=यह जीवात्मारूप देव

स्वप्नान्=स्वप्नों को
न, पश्यति=नहीं देखता
अथ=फिर
तदा=तब
एतस्मिन्. शरीरे=इस शरीर में
एतत्,सुखं=यह सुख
भवति=होता है।

भाष्य—जब जीवात्मा का सामर्थ्य निद्रारूपी तमोभाव से तिरस्कृत होजाता है तब उसको स्वप्न नहीं होता किन्तु सुषुप्ति अवस्था होती है, उस अवस्था में निद्रा द्वारा चित्तवृत्ति निरोध होने से जीवात्मा सुख का अनुभव करता है अर्थात् जब सांसारिक सुख से सन्तुष्ट होकर मन शान्त होजाता है उसको "सुषुप्ति" और पारमार्थिक सुख का अनुभव करके जीवात्मा के सन्तुष्ट होजाने का नाम "तुरीयावस्था" है इन दोनों अवस्थाओं में मन की गति का निरोध होने से जीवात्मा न कोई स्वप्न देखता है और न किसी दुःख का अनुभव करता है अर्थात् उसको निन्तर सुख की प्राप्ति होती है।

सं०—अब "यह सब संघात किस पदार्थ में स्थिर होता है" इस पांचवें प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृत्तं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

पद०—सः। यथा। सोम्य। वयांसि। वासः। वृत्तं। संप्रतिष्ठन्ते। एवं। ह वै। तत्। सर्वं। परे। आत्मनि। संप्रतिष्ठते।

अर्थ

सोम्य=हे प्रियदर्शन
सः=सो

यथा=जैसे
वयांसि=पक्षी
वासः,वृक्षं=वासस्थानरूप वृक्ष को
संप्रतिष्ठन्ते=प्राप्त होते हैं
एवं=इसी प्रकार
ह वै=निश्चय करके
तत् सर्वं=यह सब संघात
परे,आत्मनि=परमसूक्ष्म परमात्मा में
संप्रतिष्ठते=स्थिर होजाता है।

भाष्य—महर्षि पिप्पलाद ने उक्त पांचवें प्रश्न का यह उत्तर दिया कि हे सोम्य ! जिसप्रकार निवास के लिये पक्षीगण वृक्ष पर ठहरते हैं इसी प्रकार प्रलयकाल में यह सब संघात जिसका आगे के श्लोक में वर्णन किया जायगा उस परमात्मा में लीन=स्थिर होजाता है।

तात्पर्य्य यह है कि इस श्लोक में सुषुप्ति तथा प्रलय दोनों अवस्थाओं का निरूपण किया गया है अर्थात् जिस प्रकार प्रलय काल में यह सब कार्य्यरूप जगत् कारणरूप होकर परमात्मा में स्थिर होता है इसी प्रकार सुषुप्ति में सब इन्द्रिय अपने शब्दादि विषयों को छोड़कर जीवात्मा में स्थिर होजाते हैं और तेज द्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति का निरोध होने से उस अवस्था को सुख की अवस्था कहते हैं, जैसाकि "तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्" यो० १।३=उस अवस्था में परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है, इस सूत्र में वर्णन किया गया है अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा इन्द्रियों का बहिर्गमन न होने से परमात्मा में स्थिति कथन की गई है एवं यह सब संघात प्रलयकाल में परमसूक्ष्म परमात्मा में स्थिर होजाता है।

सं०—अब प्रलय काल में भूतों का अपने कारणसहित परमात्मा में लय कथन करते हैं:—

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्राचाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रञ्च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्त्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥ ८ ॥

पद०—पृथिवी । च । पृथिवीमात्रा । च । आपः । च । आपोमात्रा । च । तेजः । च । तेजोमात्रा । च । वायुः । च । वायुमात्रा । च आकाशः । च । आकाशमात्रा । च । चक्षुः । च । द्रष्टव्यं । च । श्रोत्रं । च । श्रोतव्यं । च । घ्राणं । च । घ्रातव्यं । च । रसः । च । रसयितव्यं । च । त्वक् । च । स्पर्शयितव्यं । च । वाक् । च । वक्तव्यं । च । हस्तौ । च । आदातव्यं । च । उपस्थः । च । आनन्दयितव्यं । च । पायुः । च । विसर्जयितव्यं । च । पादौ । च गन्तव्यं । च । मनः । च । मन्तव्यं । च । बुद्धिः । च । बोद्धव्यं । च । अहङ्कारः । च । अहङ्कर्त्तव्यं । च । चित्तं । च । चेतयितव्यं । च ।

तेजः । च । विद्योतयितव्यं । च । प्राणः । च । विधारयितव्यं । च ।

अर्थ

पृथिवी, च, पृथिवीमात्रा, च= पृथिवी और उसकी मात्रा गन्ध
आपः,च, आपोमात्रा, च=जल और उसकी मात्रा रस
तेजः, च, तेजोमात्रा, च=तेज और उसकी मात्रा सूक्ष्म अग्नि तत्व
वायुः, च,वायुमात्रा, च=वायु और उसकी मात्रा स्पर्श
आकाशः, च, आकाशमात्रा,च आकाश और उसकीमात्रा शब्द, "यह स्थूल और सूक्ष्म पांच भूत"
च=और
चक्षुः, च,द्रष्टव्यं, च=चक्षुः और उसका विषय देखना
श्रोत्रं, च, श्रोतव्यं, च=श्रोत्र और उसका विषय शब्द सुनना
घ्राणं, च, घ्रातव्यं, च=नासिका और उसका विषय गन्ध सूंघना
रसः, च, रसयितव्यं, च= रसना और उसका विषय रस का स्वाद लेना, और
त्वक्, च स्पर्शयितव्यं, च= त्वचा और उसका विषय स्पर्श, यह पांच ज्ञानेंद्रिय और इनके विषय
वाक्, च वक्तव्यं, च=वाणी और बोलना
हस्तौ, च, आदातव्यं, च=हाथ और उनसे ग्रहण करना
उपस्थः,च, आनन्दयितव्यं च= उपस्थेन्द्रिय और उससे होने वाला मैथुनविषयक आनन्द
पायुः, च, विसर्जयितव्यं, च= पायु इन्द्रिय और उस से होने वाला मल का त्याग
पादौ, च, गन्तव्यं, च=पैर और उन का काम चलना यह पांच कर्मेन्द्रिय, और इनके विषय

मनः, च, मन्तव्यं, च=मन और मनन करने योग्य विषय
बुद्धिः, च, बोद्धव्यं, च=बुद्धि और उसका जानना रूप विषय
अंहकारः, च, अहंकर्तव्यं, च= अहंकार और अहं करने योग्य उसका विषय
चित्तं, च, चेतयितव्यं, च= चित्त और उसका चिन्तनरूप विषय, यह चार अन्तःकरण और उनके विषय
च=और
तेजः, च, विद्योतयितव्यं, च= तेज और उसकी द्युति
प्राणः, च, विधारयितव्यं, च= प्राण और उसका धारण करना, यह सब पदार्थ प्रलयकाल में परमात्मा में लय होकर रहते हैं।

सं०—अब परमात्मा में जीवात्मा की आधेयता कथन करते हैं:—

एष हि द्रष्टा श्रोता स्प्रष्टा घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परे अक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते। १।

पद०—एषः। हि। द्रष्टा। श्रोता। स्प्रष्टा। घ्राता। रसयिता। मन्ता। बोद्धा। कर्त्ता। विज्ञानात्मा। पुरुषः। सः। परे। अक्षरे आत्मनि। संप्रतिष्ठते।

अर्थ

हि=निश्चय करके
एषः=यह जीवात्मा जो
द्रष्टा=देखने वाला है
श्रोता=सुनने वाला है
स्प्रष्टा=स्पर्श करने वाला है
घ्राता=सूंघनेवाला है
रसयिता=रस लेनेवाला है
मन्ता=मनन करने वाला है
बोद्धा=जानने वाला है और जो

कर्त्ता=शुभाशुभ कर्म्मों का करनेवाला
विज्ञानात्मा=विज्ञानस्वरूप आत्मा
पुरुषः=इस शरीररूपी पुर में शयन करने वाला है
सः=वह
परे=सर्वोपरि
अक्षरे=नाश न होने वाले
आत्मनि=परमात्मा में
संप्रतिष्ठते=स्थिर होता है।

भाष्य—इस श्लोक में ज्ञानेन्द्रियजन्य सब ज्ञानों का आश्रय जीवात्मा को कथन किया गया है और उसका आधार एकमात्र परमात्मा वर्णन किया है अर्थात् जो चक्षुओं से देखता है, श्रोत्रों से सुनता है, त्वक् से स्पर्श करता है, घ्राण से सूंघता है, रसना से रस लेता है, मन से मनन करता है, बुद्धि से सब पदार्थों का ज्ञाता है, और अपनी स्वतन्त्रता से सम्पूर्ण कर्म्मों को करता है वह जीवात्मा है, वह भी उसी अक्षर ब्रह्म को जिस में यह सारा प्राकृत जगत् कारणरूप से लय हो जाता है अपने वास्तविक रूप से आश्रय करता है।

सं०—अब परमात्मप्राप्ति का फल कथन करते हैंः—

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छा-यमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः। १०।

पद०—परं। एव। अक्षरं। प्रतिपद्यते। सः। यः। ह वै। तत्। अच्छायं। अशरीरं। अलोहितं। शुभ्रं। अक्षरं। वेदयते। यः। तु। सोम्य। सः। सर्वज्ञः। सर्वः। भवति। तत्। एषः। श्लोकः।

अर्थ

सोम्य=हे प्रियदर्शन
एव=निश्चय करके
यः, तु=जो तो
ह वै=प्रसिद्ध है कि
यः=जो
तत्=उस
अच्छायं=छाया=अज्ञान से रहित
अशरीरं=शरीर से रहित
अलोहितं=रक्तादि वर्णों से रहित
शुभ्रं=प्रकाशस्वरूप
अक्षरं=अविनाशी परमात्मा को
वेदयते=जानता है
सः=वह
परं, अक्षरं=सूक्ष्म से सूक्ष्म अविनाशी परमात्मा को
प्रतिपद्यते=प्राप्त होता है
सः=वह
सर्वज्ञः=सम्पूर्ण रूप से ब्रह्म का ज्ञाता
सर्वः=तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्म के गुणों को धारण करके तद्रूप
भवति=होता है
तत्=इसी विषय में
एषः=यह
श्लोकः=श्लोक है।

भाष्य—इस श्लोक में "अच्छायं" से परमात्मा को निरञ्जन, "अशरीरं" से उस में शरीर धारण का निषेध किया है और "अलोहितं" से रक्तादि वर्णों का निषेध कथन किया है अर्थात् जो परमात्मा सत्व, रज, तम, इन गुणों से रहित जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से रहित, रक्त पीतादि वर्णों से रहित जो शुद्ध और अविनाशी ब्रह्म है जिस में पंचभूतों से लेकर जीवात्मा पर्य्यन्त यह सारा ब्रह्माण्ड लय हो जाता है उस को जो पुरुष जानता है फिर उसके लिये क्या जानना शेष रह जाता है अर्थात् कुछ नहीं, जैसाकि ["तस्मिन्नेव विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"] इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि उसके जानने से यह सब जाना जाता है अर्थात् ब्रह्म को

जानने वाला उसके धर्मों को धारण करके तद्धर्मतापत्ति द्वारा उसके भावों को प्राप्त होता है, इसी अभिप्राय से कहा है कि ब्रह्म का उपासक ब्रह्मरूप हो जाता है ["सर्व"] शब्द के अर्थ यहां ब्रह्म के हैं, जैसा कि ["एषो हि देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः"] यजु० ३२ ।४। मन्त्र में वर्णन किया है, ["सव जानातीति सर्वज्ञः"]=परमात्मा को जानने वाले का नाम ["सर्वज्ञ"] है, सब पदार्थों का ज्ञाता होने के अभिप्राय से नहीं।

भाव यह है कि जो परमात्मा को जानता है वह तद्धर्मतापत्ति द्वारा उसके भावों को प्राप्त होकर जीवन्मुक्त हुआ ब्रह्मानन्द को भोगता है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जो अक्षर ब्रह्म में मिल जाता है वह सर्वज्ञ और सर्व हो जाता है, यह अर्थ इस लिये ठीक नहीं कि इनके मत में ब्रह्म में सर्वज्ञत्व नहीं क्योंकि यह लोग सर्वज्ञत्व मायाशबल में मानते हैं शुद्ध में नहीं फिर ब्रह्म में मिल जाने वाले को सर्वज्ञ कथन करना केवल साहस मात्र है।

सं०—अब लिङ्ग शरीर के साथ जीवात्मा का ब्रह्म में निवास कथन करते हैं:—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ।११।

पद०—विज्ञानात्मा। सह। देवैः। च। सर्वैः। प्राणाः। भूतानि। संप्रतिष्ठन्ति। यत्र। तत्। अक्षरं। वेदयते। यः। तु। सोम्य। सः। सर्वज्ञः। सर्वं। एव। आविवेश। इति।

अर्थ

सोम्य=हे प्रियवर	यः, तु=जो तो
प्राणाः=पांच प्राण	विज्ञानात्मा=जीवात्मा
भूतानि=पृथिव्यादि पांच भूत	वेदयते=जानता है
च=और	सः=वह
सर्वैः, देवैः,सह=चक्षुरादि सब इन्द्रियों के साथ	सर्वज्ञः=सर्व नाम परमात्मा का ज्ञाता होकर
यत्र=जिस में	सर्वं=सर्व ब्रह्म को
संप्रतिष्ठन्ति=ठहरते हैं	एव=निश्चय करके
तत् , अक्षरं=उस अक्षर परमात्मा को	आविवेश,इति=प्राप्त होता है।

भाष्य—जिस परमात्मा में प्राण, इन्द्रिय तथा पृथिव्यादि सब भूत स्थिर हैं अर्थात् जो सारे विश्व का अधिष्ठान है उस अविनाशी ब्रह्म को जो जानता है वह निश्चय करके तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्म के भावों को धारण करके जीवन्मुक्त हो जाता है।

इन्द्रियों के साथ ब्रह्म में स्थिर होना कथन करने से यह बात स्पष्ट हो गई कि जीवात्मा ब्रह्मरूप नहीं किन्तु ब्रह्म को आश्रय करता है अन्यथा इन्द्रियों के साथ लय होने के क्या अर्थ ? क्योंकि प्राण तथा भूतों का जो लय कथन किया गया है उससे इन्द्रियों का भी लय आजाता है पुनः इन्द्रियों का पृथक् उपादान करने से यह बात स्पष्ट है कि ब्रह्म में प्रविष्ट हो कर जीव ब्रह्म नहीं बनता किन्तु उपास्य रूप ब्रह्म का उपासक भाव से ज्ञाता रहता है और इसी भाव को पुष्ट करने के लिये ["वेदयते"] शब्द आया है जिसके अर्थ जानने के हैं अर्थात् ब्रह्म को जानता है, इससे भेद की सिद्धि स्पष्ट पाई जाती है,

यदि मायावादियों के मतानुसार जीव को ब्रह्मभाव प्राप्त होता तो जीव में ज्ञातृत्वधर्म का कथन न किया जाता, क्योंकि इनके मत में शुद्ध ब्रह्म में ज्ञातृत्वधर्म नहीं, ज्ञातृत्व इनके मत में मायाविशिष्ट में पाया जाता है, इसलिये यहां जीव ब्रह्म की एकता का गन्ध भी नहीं किन्तु भेदसिद्धि स्पष्ट है ॥

इति चतुर्थः प्रश्नः

———

। अथ पञ्चमः प्रश्नः प्रारभ्यते ।

सं०—अब इस प्रश्न में "सत्यकाम" यह पूछता है कि "प्रणव" का उपासक किस गति को प्राप्त होता है—

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रयाणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

पद०—अथ । ह । एनं । शैब्यः । सत्यकामः । पप्रच्छ । सः । यः । ह वै । तत् । भगवन् । मनुष्येषु । प्रयाणान्तं । ओंकारं । अभिध्यायीत । कतमं । वाव । सः । तेन । लोकं । जयति । इति ।

अर्थ

अथ=अब गार्ग्य के प्रश्नानन्तर एनं=महर्षिपिप्पलाद से
ह=प्रसिद्ध है कि शैब्यः, सत्यकामः=शिवि ऋषि

के पुत्र सत्यकाम ने
पप्रच्छ=पूछा कि
भगवन्=हे भगवन्
यः=जो
सः=वह
ह वै=प्रसिद्ध विद्वान्
प्रयाणान्तं=मरणपर्य्यन्त
तत्=उस
ओङ्कारं=प्रणव का
अभिध्यायीत=ध्यान करे तो
सः=वह
वाव=निश्चय करके
तेन=उससे
कतमं, लोकं=किस लोक को
जयति, इति=जीतता=प्राप्त होता है

भाष्य—इस श्लोक में "सत्यकाम" ने महर्षि पिप्पलाद से यह प्रश्न किया कि ओ३म्=प्रणव की उपासना करने वाला किस लोक को जीतता है, या यों कहो कि उक्त कर्म करने वाला किस अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् जो पुरुष सांसारिक सुखों को छोड़कर यावदायुष ब्रह्मचर्य्यपूर्वक योगाभ्यास तथा तप करता हुआ ब्रह्म की उपासना करता है तो वह किस अवस्था को प्राप्त होता है ? यहां "लोक" शब्द के अर्थ अवस्थाविशेष के हैं किसी लोकविशेष के नहीं।

सं०—अब उक्त प्रश्न का समाधान करते हैं—

तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवा-यतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

पद०—तस्मै । सः । ह । उवाच । एतत् । वै । सत्यकाम । परं । च । अपरं । च । ब्रह्म । यत् । ओङ्कारः । तस्मात् । विद्वान् । एतेन । एव । आयतनेन । एकतरं । अन्वेति ।

अर्थ

तस्मै=उस प्रश्नकर्त्ता सत्यकामसे
सः=महर्षि पिप्पलाद
ह=स्पष्टतया
उवाच=बोले कि
सत्यकाम=हे सत्यकाम
यत्=जो
परं, च, अपरं, च=पर और अपर
ब्रह्म=ब्रह्म है
एतत्=वही
वै=निश्चय करके
ओङ्कारः=ओङ्कार है
तस्मात्=इसलिये
विद्वान्=विवेकी पुरुष
एतेन=इस
एव=ही
आयतनेन=अवलम्ब से
एकतरं=उक्त परापर में से एक अनुकूल को
अन्वेति=प्राप्त होता है

भाष्य—पिप्पलाद ऋषि ने उक्त प्रश्न का यह उत्तर दिया कि हे सत्यकाम ! पर और अपर रूप से ब्रह्म दो प्रकार का है अर्थात् वाचक रूप से अपरब्रह्म और वाच्यरूप से परब्रह्म कहाता है और यह दोनों प्रकार का ब्रह्म ओङ्कार ही है जिससे यहां सम्पूर्ण वेदों का ग्रहण होता है, या यों कहो कि यह परमात्मा का निजनाम होने के अभिप्राय से "ओंकार" शब्द द्वारा यहां सम्पूर्ण वेद को वर्णन किया गया है।

भाव यह है कि इसी ओंकार का उपासक पुरुष अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों फलों में जिसको उपलब्ध करना चाहे करसक्ता है, इसी के अवलम्बन से पुरुष को मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय को प्राप्ति होती है और यही मोक्षावस्था का एकमात्र साधन है, इसी भाव को पीछे कठोपनिषद् में भी वर्णन कर आये हैं कि:—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

यही आलम्बन सबसे श्रेष्ठ है और यही सर्वोत्तम है, इसी को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में पूजा जाता है, इसी भाव को छान्दोग्य उपनिषद् में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जिसको वहीं छान्दोग्य भाष्य में वर्णन करेंगे ॥

सं०—अब ओंकाररूप वेद को ऋग, यजुः और साम रूप मात्रा भेद से तीन प्रकार का कथन करते हुए प्रथम मात्रा के ध्यान का फल कथन करते हैं :—

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

पद०—सः । यदि एकमात्रं । अभिध्यायीत । सः । तेन । एव । संवेदितः । तूर्णं । एव जगत्यां । अभिसम्पद्यते । तं । ऋचः । मनुष्यलोकं । उपनयन्ते । सः । तत्र । तपसा । ब्रह्मचर्य्येण । श्रद्धया सम्पन्नः । महिमानं । अनुभवति ।

अर्थ

सः=वह उपासक
यदि=जो
एकमात्रं=एक मात्रा को
अभिध्यायीत=ध्यान करे तो

सः=वह
तेन,एव=उस एकमात्रा के ध्यान से
संवेदितः=साक्षात्कार वाला होकर
तूर्णं,एव=शीघ्र ही
जगत्यां=जगत् में
अभिसम्पद्यते=प्राप्त होता है
तं= उसको
ऋचः=ऋग्वेद के उपदेश
मनुष्यलोकं=मनुष्यलोक को
उपनयन्ते=प्राप्त कराते हैं
सः=वह उपासक
तत्र=उस मनुष्यलोक में
तपसा=तप से
ब्रह्मचर्य्येण=ब्रह्मचर्य्य से
श्रद्धया=श्रद्धा से
सम्पन्नः=युक्त हुआ
महिमानं=परमात्मा के महत्व को
अनुभवति=अनुभव करता है।

भाष्य—अ, उ, म्, इन तीन मात्राओं के समुदाय का नाम "ओङ्कार" है, या यों कहो कि इन तीन अक्षरों से मिलकर एक "ओ३म्" समुदाय हुआ है जिनमें से "अकार" के अर्थ कर्म "उकार" के उपासना और "मकार" के अर्थ ज्ञान के हैं, जो पुरुष ओङ्कार की एकमात्रा "अकार" रूप ऋग्वेद का मनन करता है वह मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है और इस मनुष्य जन्म में अभ्युदय रूप श्रेष्ठ गति को पाकर तप=शीतोष्णादि सहन रूप तितिक्षा, ब्रह्मचर्य=इन्द्रियसंयमपूर्वक वेदाध्ययन, श्रद्धा वेदोक्त अर्थों में आस्तिक बुद्धि, इन भावों से सम्पन्न होकर परमात्मा के महत्व को अनुभव करता है।

सं०—अब कर्म तथा उपासनारूप द्विमात्रिक ध्यान का फल कथन करते हैं:—

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकं स

सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ ४ ॥

पद०—अथ । यदि । द्विमात्रेण । मनसि । सम्पद्यते । सः । अन्तरिक्षं । यजुर्भिः । उन्नीयते । सः । सोमलोकं । सः । सोमलोके । विभूतिं । अनुभूय । पुनः । आवर्त्तते ।

अर्थ

अथ=और
यदि=जो
द्विमात्रेण=कर्म तथा उपासना रूप दो मात्राओं से
मनसि=मन में
सम्पद्यते=वेद के आशय को धारण करता है
सः=वह पुरुष
अन्तरिक्षं=सोम्यगुण वाले
सोमलोकं=सोमलोकविशिष्ट देह को
यजुर्भिः=यजुर्वेद द्वारा उपासनाओं से
उन्नीयते=प्राप्त होता है
सः=वह उपासक
सोमलोके—उस उपासनात्मक देह में
विभूतिं=परमात्मा की विभूति को
अनुभूय=अनुभव करके
पुनः, आवर्त्तते=पुनः २ अभ्यास करता है

भाष्य—जो पुरुष अकार, उकार रूप दो मात्राओं द्वारा कर्म तथा उपासना रूप से ब्रह्म का ध्यान करता है वह यजुर्वेद के द्वारा सोम्यगुणविशिष्ट दिव्य देह को धारण करता है अर्थात् उसमें दैवीसम्पत्ति के गुण होते हैं, साधारण मनुष्यों के समान उसकी देह का निर्माण नहीं होता किन्तु दिव्य गुणों से उसके देह का निर्माण होता है और इसलिये ऐसा पुरुष देवता कहा जाता है ।

सं०—अब कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों भावों से वेद का अनुष्ठान करने वाले उपासक की गति का कथन करते हैं—

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५॥

पद०—यः। पुनः। एतं। त्रिमात्रेण। ओ३म्। इति। एतेन। एव। अक्षरेण। परं। पुरुषं। अभिध्यायीत। सः। तेजसि। सूर्य्ये। सम्पन्नः। यथा। पादोदरः। त्वचा। विनिर्मुच्यते। एवं। ह वै। सः पाप्मना। विनिर्मुक्तः। सः। सामभिः। उन्नीयते। ब्रह्मलोकं। सः। एतस्मात्। जीवघनात्। परात्। परं। पुरिशयं। पुरुषं। ईक्षते। तत्। एतौ। श्लोकौ। भवतः।

अर्थ

पुनः=फिर
यः=जो पुरुष
त्रिमात्रेण=कर्म, उपासना तथा ज्ञान वाले
ओ३म्, इति=ओ३म्
एतेन=इस

एव=ही
अक्षरेण=अक्षर से
एतं, परं, पुरुषं=इस परब्रह्म परमात्मा का
अभिध्यायीत=ध्यान करता है
सः=वह
तेजसि, सूर्य्ये=तेजोमय प्रकाशस्वरूप परमात्मा को
सम्पन्नः=प्राप्त होता है
यथा=जैसे
पादोदरः=सर्प
त्वचा=अपनी केंचुली को छोड़कर
विनिर्मुच्यते=पृथक् होजाता है
एवं=इसी प्रकार
ह वै=निश्चय करके
सः=वह त्रिमात्रिक "ओ३म्" का ध्यान करने वाला
पाप्मना=पापरूप संसार के बन्धनों से
विनिर्मुक्तः=छूट जाता है
सः=वह
सामभिः=सामवेद के मनन से
ब्रह्मलोकं=ब्रह्मलोक को
उन्नीयते=प्राप्त होता है और
सः=वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ
एतस्मात्=इस
जीवघनात्=जीव समुदाय से
परात्, परं=सर्वोपरि
पुरिशयं=सब ब्रह्माण्डों में शयन करने वाले
पुरुष=परमात्मा को
ईक्षते=देखता है
तत्=इस विषय में
एतौ, श्लोकौ=निम्नलिखित दो श्लोक
भवतः=हैं।

भाष्य—जो पुरुष ऋग्, यजुः, साम इन तीनों वेदों द्वारा कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों भावों का अनुष्ठान करता है अर्थात् "ओ३म्" की अ, उ, म् इन तीनों मात्राओं से उस परमपुरुष परमात्मा का ध्यान करता है वह आविद्यक बन्धनों से छूटकर तेजोमय प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है, इसमें उदाहरण यह है कि जिसप्रकार सर्प अपनी मृतत्वचा को छोड़कर निर्बन्धन हो जाता है इसी प्रकार उक्त भावों वाला

पुरुष पापरूप मल के आवरण से मुक्त होकर सामवेद के द्वारा सर्वोपरि ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है अर्थात् आनन्दमय हो जाता है।

इन श्लोकों में कर्म, उपासना तथा ज्ञान भेद से वेद के तीन भाग वर्णन किये गये हैं, कर्मभाग का नाम ["ऋग्वेद"] उपासना भाग का नाम ["यजुर्वेद"] और ज्ञान भाग का नाम ["सामवेद"] है।

मायावादी तथा अन्य टीकाकार "ओंकार" की तीन मात्रा लेकर इनसे पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और ब्रह्मलोक की प्राप्ति मानते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि इन लोकों में जाकर जीव रहते हैं, यदि उक्त श्लोकों के यह अर्थ होते, या यों कहो कि इन लोकों की प्राप्ति ही उक्त श्लोकों का अभिप्राय होता तो ओंकार का परापररूप से वर्णन न किया जाता: परापररूप से दो प्रकार का वर्णन किये जाने के कारण स्पष्ट है कि अपररूप से तात्पर्य्य तत्प्रतिपाद्य परब्रह्म का है, इस प्रकार संगति लगाने से उक्त श्लोक कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूप तीन मात्राओं का ही वर्णन करते हैं, अ, उ, म् , इन तीन वर्णात्मक मात्राओं का नहीं, और इसी अभिप्राय से उक्त श्लोकों में लोकान्तरों का वर्णन नहीं किन्तु ज्ञानादि भावों से मनुष्य, देवादि भावों का वर्णन है जो पूर्वोत्तर संगति से स्पष्ट है॥

सं०—अब उक्त भाव को निम्नलिखित श्लोक द्वारा स्फुट करते हैं:—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्य-सक्ता अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्या-

भ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्ता-
सु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

पद०—तिस्रः । मात्राः । मृत्युमत्यः । प्रयुक्ताः । अन्योऽन्य-सक्ताः । अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु । बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु । सम्यक् । प्रयुक्तासु । न । कम्पते । ज्ञः ।

अर्थ

अन्योऽन्यसक्ताः=परस्पर संबद्ध
तिस्रः=तीन
मात्राः=अकारादि भाग
अनविप्रयुक्ताः=ज्ञेय ब्रह्म की प्रतीति से रहित शब्दरूप से प्रयोग किये गये
मृत्युमत्यः=मरणधर्म वाले
प्रयुक्ताः=होते हैं और
सम्यक्,प्रयुक्तासु=यथार्थ रूप से प्रयोग करने पर
बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु=बाह्य, अभ्यन्तर और मध्यम से तीन प्रकार की
क्रियासु=क्रियाओं में
ज्ञः=बुद्धिमान् अनुष्ठानशील पुरुष
न, कम्पते=चलायमान नहीं होता ।

भाष्य—कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों को बाह्याभ्यन्तर इस अभिप्राय से कहा गया है कि कर्म उपासना की अपेक्षा स्थूल होनेसे ["बाह्य"] तथा उपासना ज्ञान की अपेक्षा न्यून होने से ['मध्यम"] और ज्ञानसर्वोपरि होनेके कारण ["आभ्यन्तर"] कहाता है, इन तीनों का जो यथावत् अनुष्ठान करता है वह अपने लक्ष्य से चलायमान नहीं होता अर्थात् कर्म उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है, और ऐसे तत्ववेत्ता का प्राकृतजनों के समान बारंबार जन्म नहीं होता, और जो उक्त तीनों में विपरीत बुद्धि रखता है

उसके लिये यह तीनों मात्रायें मृत्युमत्य:=वारंवार जन्म के देने वाली होती हैं।

सं०—अब कर्मादि तीनों का फल कथन करते हुए इस प्रश्न का उपसंहार करते हैं:—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्य-
त्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणै-
वायतनेनान्वेति विद्वान् यत्त-
च्छान्तमजरममृतमभयं-
परंचेति ॥ ७ ॥

पद०—ऋग्भि:। एतं। यजुर्भि:। अन्तरिक्षं। स:। सामभि:। यत्। तत्। कवय:। वेदयन्ते। तं। ओंकारेण एव। आयत-नेन। अन्वेति। विद्वान्। यत्। तत्। शान्तं। अजरं। अमृतं। अभयं। परं। च। इति।

अर्थ

स:=वह पुरुष
ऋग्भि:=कर्म से
एतं=इस मनुष्य जन्म की अवस्था को प्राप्त होता है
यजुर्भि:=उपासनाओं से
अन्तरिक्षं=देवभाव को प्राप्त होता है और
सामभि:=ज्ञान से
यत्, तत्=जिस उसको
कवय:=ज्ञानी लोग
वेदयन्ते=जानते हैं
तं=उस मार्ग को
विद्वान्=सदसद्विवेकी
ओंकारेण, एव, आयतनेन=ओंकार ही के अवलंबन से
अन्वेति=प्राप्त होता है, यह वह स्थान है
यत्=जो

शान्तं=शान्तिप्रधान है
अजरं=वृद्धावस्था से रहित है
अमृतं=मृत्यु से रहित है
अभयं=भयरहित है
च=और
परं=सर्वोत्तम है
तत्=उस मार्ग को
अन्वेति=प्राप्त होता है।

भाष्य—इस प्रश्न का उपसंहार करते हुए महर्षि पिप्पलाद कथन करते हैं कि ओङ्कार के अवलम्बन करने से ही ध्याता यथेष्ट फल को प्राप्त होता है अर्थात् ओंकाररूप अपरब्रह्म वेद के कर्म, उपासना तथा ज्ञानरूप जो तीन अंग हैं इन तीनों का यदि कोई पुरुष सम्यक् प्रयोग करता है तो वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है जहां जरा मरणादिकों की भीति नहीं।

कर्म को ऋग् इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि ऋग्वेद में जिस प्रकार सब कर्तव्य कर्मों का स्तवन है इसी प्रकार कर्म भी एक स्तावक है, उपासनाओं को यजुः इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि उपासना एक प्रकार का यजन=ब्रह्मयज्ञ है, और ज्ञान को साम इसलिये कहा है कि जैसे गीति शब्द भली भांति अर्थ के दर्शक होते हैं इसी प्रकार ज्ञान सब अर्थों का अवभास कर देता है।

पौराणिक तथा आधुनिक मायावादी लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि "ओंकार" की अ, उ, म् यह तीनों मात्रा मृत्यु के देने वाली हैं और वह इस प्रकार कि "अ" से ऋग्वेद की ऋचायें उसको इस लोक को "उ" से यजुर्वेद की अन्तरिक्ष को और "म्" से सामवेद की ब्रह्मलोक को प्राप्त कराती हैं और यह तीनों प्रकार की प्राप्ति मृत्यु से वर्जित न होने के कारण मृत्यु वाली हैं, यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि उक्त श्लोकों में स्पष्टरीति से वर्णन किया गया है कि अन्य में अन्य बुद्धि करने वाले अर्थात् मिथ्याज्ञानी को उक्त मात्रायें मृत्यु के देने वाली

हैं यथार्थ दर्शी को नहीं, क्यायह मिथ्याबुद्धि नहीं कि यजुः की ऋचायें उसको अन्तरिक्ष में ले जाती हैं, क्या ऋचा कोई जीता जागता पदार्थ है जो पुरुष को पकड़ कर अन्तरिक्ष में ले जाता है, यदि उपचार से मानें तो फिर ओंकार के अर्थ शब्दब्रह्म मानने में क्या बाधा ? शब्द ब्रह्म की अनुगत मात्रा कर्म, उपासना तथा ज्ञान ही ठीक हो सकते हैं अन्य नहीं, और ओंकार से शब्द ब्रह्मात्मक वेद के ग्रहण करने में अन्य युक्ति यह भी है कि इस प्रश्न के प्रारम्भ में पर तथा अपर भेद से दो प्रकार के ब्रह्म का कथन किया गया है, शब्दब्रह्म परब्रह्म का प्रतिपादक होने से परब्रह्म नाम से कथन किया है इसकी मात्रा कर्म, उपासना तथा ज्ञान ही ठीक हो सकती हैं और जो इनसे लोकांतरों की प्राप्ति कथन की गई है वह अवस्थान्तर के अभिप्राय से है न कि लोकान्तर के अभिप्राय से, क्योंकि ब्रह्मलोक प्राप्ति से किसी लोकविशेष की प्राप्ति अभिप्रेत नहीं किन्तु ज्ञानावस्था अभिप्रेत है जैसा कि इस प्रश्न में निरूपण किया गया है, इस प्रकार यहां परब्रह्म का प्रापक वेद है अन्य नहीं।

इति पञ्चमः प्रश्नः

। अथ षष्ठः प्रश्नः प्रारभ्यते ।

——❀०❀——
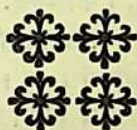
सं०—अब भरद्वाज का पुत्र "सुकेशा" महर्षि पिप्पलाद से ब्रह्म विषयक प्रश्न करता है:—

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन् हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं, स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज, तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

पद०—अथ। ह। एनं। सुकेशा। भारद्वाजः। पप्रच्छ। भगवन्। हिरण्यनाभः। कौसल्यः। राजपुत्रः। मां। उपेत्य। एतं। प्रश्नं। अपृच्छत। षोडशकलं। भारद्वाज। पुरुषं। वेत्थ। तं। अहं। कुमारं। अब्रुवं। न। अहं। इमं। वेद। यदि। अहं। इमं। अवेदिषं। कथं। ते। न। अवक्ष्यं। इति। समूलः। वै। एषः। परिशुष्यति। यः। अनृतं। अभिवदति। तस्मात्। न। अर्हामि। अनृतं। वक्तुं। सः। तूष्णीं। रथं। आरुह्य। प्रवव्राज। तं। त्वा। पृच्छामि। क। असौ। पुरुषः। इति।

अर्थ

अथ=सत्यकाम के प्रश्नानन्तर
ह=प्रसिद्ध है कि
एनं=इस महर्षिपिप्पलाद से
सुकेशा, भारद्वाजः=भरद्वाज के पुत्र सुकेशा ने
पप्रच्छ=पूछा कि
भगवन्=हे भगवन्
हिरण्यनाभः, कौसल्यः, राजपुत्रः=कौशलदेशीय हिरण्यनाभ नाम वाले राजपुत्र ने
मां,उपेत्य=मेरे समीप आकर
एतं, प्रश्नं=इस प्रश्न को
अपृच्छत=पूछा कि
भारद्वाज=हे भारद्वाज
षोडशकलं, पुरुषं=सोलह कला वाले पुरुष को तू
वेत्थ=जानता है
अहं=मैंने
तं,कुमारं=उस राजकुमार को
अब्रुवं=कहा कि
अहं= मैं
इमं=इसको
अवेदिषं=जानता होता तो
कथं=किस प्रकार
ते=तुम्हारे लिये
न, अवक्ष्यं, इति= कथन न करता, अवश्य करता
वै=निश्चय करके
एषः=वह
समूलः=मूल सहित
परिशुष्यति=सूखजाता है
यः=जो
अनृतं=असत्य
अभिवदति=भाषण करता है
तस्मात्=इस कारण मैं
अनृतं=झूठ
वक्तुं=कहने को
न, अर्हामि=समर्थ नहीं हूं, इस कथन के अनन्तर
सः=वह राजकुमार
तूष्णीं=मौन धारण किये हुए
रथं, आरुह्य=रथ में बैठकर
प्रवव्राज=चला गया
तं=उस पुरुष को
त्वा=आप से
पृच्छामि=पूछता हूं कि
असौ,पुरुषः=वह पुरुष
क=कहां है
इति=यह कथन करें।

भाष्य—भरद्वाज के पुत्र सुकेशा ने महर्षिपिप्पलाद से कहा कि हे भगवन्! एक समय कौसलदेशीय हिरण्यनाभ नामक राजपुत्र ने मेरे समीप आकर यह प्रश्न किया कि हे भारद्वाज! तू उस षोडशकला वाले पुरुष को जानता है? यदि जानता है तो मेरे प्रति उपदेश कर, मैंने उसको उत्तर दिया कि मैं नहीं जानता, मेरे इस कथन पर उसको विश्वास नहीं हुआ तब मैंने कहा कि यदि मैं उसको जानता होता तो अवश्य आपके प्रति कथन करता, मैं नहीं जानता, यह सत्य है, जो पुरुष असत्यभाषण करता है वह मूलसहित नष्ट होजाता है, आप विश्वास करें मैं आपके सन्मुख झूठ नहीं बोलता, मेरा यह कथन सुनकर वह राजकुमार चुपचाप अपने रथपर आरूढ़ होकर चला गया, हे आचार्य्यवर! मैं प्रार्थनापूर्वक निवेदन करता हूं कि कृपया आप मेरे प्रति उस षोडशकला युक्त पुरुष का उपदेश करें।

सं०—अब उस षोडशकला युक्त पुरुष का कथन करते हैं:-

तस्मै स होवाच इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

पद०—तस्मै। सः। ह। उवाच। इह। एव। अन्तःशरीरे। सोम्य। सः। पुरुषः। यस्मिन्। एताः। षोडशकलाः। प्रभवन्ति। इति।

अर्थ

तस्मै=उस प्रश्नकर्त्ता सुकेशा के लिये   सः=वह महर्षि पिप्पलाद
ह=स्पष्टतया

उवाच=बोले कि
सोम्य=हे प्रियदर्शन
इह, एव, अन्तःशरीरे=इस ही शरीर के भीतर
सः, पुरुषः= वह पुरुष है
यस्मिन्=जिसमें
एताः=यह
षोडशकलाः= सोलह कलायें
प्रभवन्ति=हैं
इति=इस प्रकार उक्त ऋषि ने कहा।

भाष्य—महर्षि पिप्पलाद ने "सुकेशा" के प्रश्न का यह उत्तर दिया कि हे सोम्य ! वह सोलहकलाओं वाला पुरुष इसी शरीर के भीतर निवास करता है अर्थात् प्राणादि षोडशकला वाला जीवात्मा है।

सं०—अब उक्त कला वाले जीवात्मा का कथन करते हैं—

स ईक्षाञ्चक्रे, कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि ॥ ३ ॥

पद०—सः । ईक्षाञ्चक्रे । कस्मिन् । अहं । उत्क्रान्ते । उत्क्रान्तः । भविष्यामि । कस्मिन् । वा । प्रतिष्ठिते । प्रतिष्ठास्यामि ।

अर्थ

सः=उस जीवात्मा ने
ईक्षाञ्चक्रे=ईक्षण=विचार किया कि
अहं=मैं
कस्मिन्=किसके
उत्क्रान्ते=निकलने पर
उत्क्रान्तः, भविष्यामि=शरीर से पृथक् होऊंगा
वा=और
कस्मिन्=किसके
प्रतिष्ठिते=ठहरने पर
प्रतिष्ठास्यामि=ठहरूंगा

भाष्य—जीवात्मा ने यह ईक्षण किया कि मैं किसके निकलने पर शरीर से पृथक् होऊंगा और किसके ठहरने पर ठहरूंगा अर्थात् पूर्वकर्मकृत इच्छा से जीवात्मा ने यह विचार किया कि किन साधनों से मैं शरीरविशिष्ट होऊं और किन २ साधनों से शरीर से पृथक् होऊंगा।

मायावादी इसके अर्थ अध्यारोप से प्राणादि कलाओं की उत्पत्ति के करते हैं और अग्रिम श्लोकों में परमात्मा विषयक लय कथन करके इसका अपवाद करते हैं, इसी का नाम इनके मत में अध्यारोप और अपवाद है परन्तु इन दोनों का यहाँ गन्ध भी नहीं क्योंकि यहाँ षोडशकलाओं से तात्पर्य्य लिंग-शरीर का है, इनके अभाव से मुक्ति में केवल जीवात्मा का चिन्मात्रस्वरूप रह जाने का अभिप्राय है और जिस विषयक ज्ञान से उक्त षोडशकलाओं का लय होता है उसका नाम "परब्रह्म" है, और प्राणादिकों की उत्पत्ति का कर्त्ता जीवात्मा को स्वकर्मों द्वारा कथन किया गया है वस्तुतः इनकी उत्पत्ति का कर्त्ता परमात्मा है।

सं०—अब प्राणादिकों की उत्पत्ति कथन करते हैं—

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्य्यं तपो मंत्राः कर्मलोका लोकेषु नाम च॥ ४॥

पद०—सः। प्राणं। असृजत। प्राणात्। श्रद्धां। खं। वायुः। ज्योतिः। आपः। पृथिवी। इन्द्रियं। मनः। अन्नं।

अन्नात् । वीर्य्यं । तपः । मंत्राः । कर्म । लोकाः । लोकेषु । नाम । च ।

अर्थ

सः=उस जीवात्मा ने
प्राणं=प्राण को
असृजत=रचा
प्राणात्=प्राण के अनन्तर
श्रद्धां=श्रद्धा को उसके पश्चात्
खं, वायुः, ज्योतिः, आपः, पृथिवी=आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच भूतों को
इन्द्रियं, मनः=दश इन्द्रिय और ग्यारहवें मन को इसके पश्चात्
अन्नं=अन्न को
अन्नात्=अन्न से
वीर्यं=बल को, फिर
तपः=तप को
मंत्राः=मन्त्रों को
कर्म,लोकाः=यज्ञादि कर्म करने वाले शरीर को
च=और
लोकेषु=उन शरीरों में
नाम, च=नाम और रूप को रचा

भाष्य—इस मन्त्र में क्रमशः षोडशकलाओं की उत्पत्ति कथन की गई है अर्थात् जीवात्मा ने सबसे प्रथम प्राण को रचा, इसके पश्चात् शुभकर्मों में प्रवृत्त कराने वाली श्रद्धा=निश्चयात्मक बुद्धि को उत्पन्न किया, फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच भूतों को, इनके अनन्तर पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा ग्यारहवें मन को बनाया, फिर प्राणों की स्थिति के लिये अन्न को उत्पन्न किया, अन्न से बल, बल से तप,

भाष्य—जीवात्मा ने यह ईक्षण किया कि मैं किसके निकलने पर शरीर से पृथक् होऊंगा और किसके ठहरने पर ठहरूंगा अर्थात् पूर्वकर्मकृत इच्छा से जीवात्मा ने यह विचार किया कि किन साधनों से मैं शरीरविशिष्ट होऊं और किन २ साधनों से शरीर से पृथक् होऊंगा।

मायावादी इसके अर्थ अध्यारोप से प्राणादि कलाओं की उत्पत्ति के करते हैं और अग्रिम श्लोकों में परमात्मा विषयक लय कथन करके इसका अपवाद करते हैं, इसी का नाम इनके मत में अध्यारोप और अपवाद है परन्तु इन दोनों का यहाँ गन्ध भी नहीं क्योंकि यहाँ षोडशकलाओं से तात्पर्य्य लिंग-शरीर का है, इनके अभाव से मुक्ति में केवल जीवात्मा का चिन्मात्रस्वरूप रह जाने का अभिप्राय है और जिस विषयक ज्ञान से उक्त षोडशकलाओं का लय होता है उसका नाम "परब्रह्म" है, और प्राणादिकों की उत्पत्ति का कर्त्ता जीवात्मा को स्वकर्मों द्वारा कथन किया गया है वस्तुतः इनकी उत्पत्ति का कर्त्ता परमात्मा है।

सं०—अब प्राणादिकों की उत्पत्ति कथन करते हैं—

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्य्यं तपो मंत्राः कर्मलोका लोकेषु नाम च॥ ४॥

पद०—सः। प्राणं। असृजत। प्राणात्। श्रद्धां। खं। वायुः। ज्योतिः। आपः। पृथिवी। इन्द्रियं। मनः। अन्नं।

अन्नात् । वीर्य्यं । तपः । मंत्राः । कर्म । लोकाः । लोकेषु । नाम । च ।

अर्थ

सः=उस जीवात्मा ने
प्राणं=प्राण को
असृजत=रचा
प्राणात्=प्राण के अनन्तर
श्रद्धां=श्रद्धा को उसके पश्चात्
खं, वायुः, ज्योतिः, आपः, पृथिवी=आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच भूतों को
इन्द्रियं, मनः=दश इन्द्रिय और ग्यारहवें मन को इसके पश्चात्
अन्नं=अन्न को
अन्नात्=अन्न से
वीर्य्यं=बल को, फिर
तपः=तप को
मंत्राः=मन्त्रों को
कर्म,लोकाः=यज्ञादि कर्म करने वाले शरीर को
च=और
लोकेषु=उन शरीरों में
नाम, च=नाम और रूप को रचा

भाष्य—इस मन्त्र में क्रमशः षोडशकलाओं की उत्पत्ति कथन की गई है अर्थात् जीवात्मा ने सबसे प्रथम प्राण को रचा, इसके पश्चात् शुभकर्मों में प्रवृत्त कराने वाली श्रद्धा=निश्चयात्मक बुद्धि को उत्पन्न किया, फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच भूतों को, इनके अनन्तर पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा ग्यारहवें मन को बनाया, फिर प्राणों की स्थिति के लिये अन्न को उत्पन्न किया, अन्न से बल, बल से तप,

तप से कर्मों के साधनभूत ऋगादि वेदों के मन्त्र, उनसे यज्ञादि कर्म, कर्मों से शरीर और उन शरीरों में नाम और रूप को रचा।

यहां जो जीवात्मा को प्राणादिकों का स्रष्टा कथन किया गया है वह स्वकर्मों द्वारा उपचार से कथन किया है वास्तव में इनका स्रष्टा ब्रह्म है, जैसा कि ["तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"] तैत्ति० ब्रह्मा० व० अ० १ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है, पाँच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन, इन षोडशकला वाला जीवात्मा को कथन किया गया है और जो अन्नादिकों की उत्पत्ति इस कारण में कथन की गई है वह उत्पत्तिक्रम दर्शाने के अभिप्राय से है षोडशकलाओं की पूर्त्ति के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब उक्त षोडशकलाओं का नदियों के दृष्टान्त से परम पुरुष परमात्मा में लय कथन करते हैं:—

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाःपुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष

इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽक-
लोऽमृतो भवति, तदेष
श्लोकः ॥ ५ ॥

पद०—सः । यथा । इमाः । नद्यः । स्यन्दमानाः । समुद्रा-यणाः । समुद्रं । प्राप्य । अस्तं । गच्छन्ति । भिद्येते । तासां । नामरूपे । समुद्रः । इति । एवं । प्रोच्यते । एवं । एव । अस्य । परिद्रष्टुः । इमाः । षोडशकलाः । पुरुषायणाः । पुरुषं । प्राप्य । अस्तं । गच्छन्ति । भिद्येते । तासां । नामरूपे । पुरुषः । इति । एवं । प्रोच्यते । सः । एषः । अकलः । अमृतः । भवति । तत् । एषः । श्लोक ।

अर्थ

सः=वह दृष्टान्त यह है कि
यथा=जैसे
इमाः, नद्यः=यह नदियां
स्यन्दमानाः, समुद्रायणाः=समुद्र की ओर बहती हुई
समुद्रं=समुद्र को
प्राप्य=प्राप्त होकर
अस्तं, गच्छन्ति=उसी में लय हो जाती हैं
तासां=उनके
नामरूपे=नाम और रूप
भिद्येते=नाश हो जाते हैं
समुद्रः, इति=समुद्र है
एवं=इस प्रकार
प्रोच्यते=कहा जाता है
एवं, एव=इसी प्रकार
अस्य=इस
परिद्रष्टुः=जीवात्मा की

इमाः = यह
षोडशकलाः=सोलह कलायें
पुरुषायणाः=पुरुषरूप अधिष्ठान वाली
पुरुषं=पुरुष को
प्राप्य=प्राप्त होकर
अस्तं, गच्छन्ति=उसी में लय हो जाती हैं
च=और
तासां=इनके
नामरूपे=नाम और रूप
भिद्येते=नाश हो जाते हैं
पुरुषः,इति=पुरुष ही हैं
एवं=इस प्रकार
प्रोच्यते = कहा जाता है
सः, एषः = वह यह जीवात्मा
अकलः = कलाओं से विहीन
अमृतः = मृत्यु से रहित
भवति = होता है
तत् = इस विषय में
एषः, श्लोकः = यह निम्नलिखित श्लोक है।

भाष्य—उक्त सोलह कलायें जिनका पूर्व के श्लोक में वर्णन किया गया है वह जिस प्रकार परमपुरुष परमात्मा में लय होती हैं वह प्रकार दृष्टान्त द्वारा कथन करते हैं, जैसे गंगादि नदियें समुद्र की ओर बहती हुई इसको प्राप्त होकर उसी में लय हो जाती हैं अर्थात् अपने नाम और रूप को परित्याग कर समुद्र ही कहलाने लगती हैं इसी प्रकार इस जीवात्मा की मुक्ति अवस्था में लिङ्गशरीररूपी षोडशकलायें उस को प्राप्त होकर उसी में लय हो जाती हैं उस समय उन का नाम और रूप नहीं रहता तब जीवात्मा केवल अपने स्वरूप से विराजमान होता है और इसलिये वह कलाओं से विहीन कहा जाता है।

स्मरण रहे कि नदी और समुद्र के दृष्टान्त से यहां विवक्षि-

तांश यह है कि जिस प्रकार समुद्राभिमुख गमन करती हुईं नदियें समुद्र को प्राप्त होकर उसी में मिल जाती हैं इसी प्रकार उक्त षोडशकलायें परमात्मा को प्राप्त होकर उसी में लय हो जाती हैं फिर उनका नाम रूप नहीं रहता, यहां नाम रूप के लय से अभिप्राय कारणरूप का है अत्यन्त नाश का नहीं और नाहीं परमात्मा रूप हो जाने का है।

सं०—अब निम्नलिखित मन्त्र द्वारा उक्त भाव को स्फुट करते हैं:—

अराइव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः
परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

पद०—अराइव । रथनाभौ । कलाः । यस्मिन् । प्रतिष्ठिताः । तं । वेद्यं । पुरुषं । वेद । यथा । मा । वः । मृत्युः । परिव्यथाः । इति ।

अर्थ

रथनाभौ=रथ की नाभि में
अराइव=दण्डों के समान
यस्मिन्=जिस पुरुष में
कलाः=सोलह कलायें
प्रतिष्ठिता=स्थित हैं
तं=उस
वेद्यं=जानने योग्य
पुरुषं=पुरुष को
वेद=जानता हूँ
यथा=जैसे

वः=तुम को
मृत्युः=काल
मा, परिव्यथाः, इति=दुःख न
दे, इसलिये तुम भी उस को जानो।

भाष्य—महर्षि पिप्लाद ने कहा कि हे शिष्यो! जैसे रथ-चक्र की नाभि में छोटे २ दण्डाकार अरे ओतप्रोत होते हैं इसी प्रकार उस परमात्म देव में सब कलायें ओतप्रोत हैं अर्थात् मुख्यतया सब कलाओं का आधार एकमात्र परमात्मा ही है, यदि तुम मृत्यु के भयानक आक्रमण से बचना चाहते हो तो उसी को जानो वही मृत्यु से रक्षा करने वाला है. जैसाकि ["तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"] यजु० ३१। १८ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि केवल उसी को जानकर पुरुष मृत्यु से बच सकता है और कोई मार्ग नहीं।

मायावादियों ने इस स्थल में षोडशकल पुरुष और परमात्मपुरुष दोनों को मिला दिया है सो ठीक नहीं, वस्तुतः बात यह है कि षोडशकल पुरुष यहां जीवात्मा को कथन किया गया है और वही उक्त कलाओं से रहित होकर मुक्तिभाव को प्राप्त होता है, और जिस परमात्मदेव में यह चराचर भूतजात सूक्ष्म होकर रहते हैं उस का नाम "वेद्यपुरुष" है उस समय उस पुरुष को समुद्र के समान एक कथन किया जाता है जैसाकि ["न मृत्युरासीदमृतं तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः"] ऋग् १०। ११। १२६। २ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि

वह सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद शून्य है अर्थात् प्रलयकाल में परमात्मा का सजातीय=उसके समान जाति वाला शक्तिसम्पन्न और कोई नहीं और नाहीं यह जड़वर्ग विजातीय वस्तु परमात्मा के आधार से भिन्न स्थित को लाभ करता है इसी अभिप्राय से उसमें विजातीय भेद शून्यत्व कथन किया गया है और निराकार होने के अभिप्राय से उस में स्वागत भेद नहीं, इस प्रकार एकत्व बोधन करने के अभिप्राय से यहाँ नदी समुद्र तथा रथनाभि का दृष्टान्त है जड़ चेतन की एकता के अभिप्राय से नहीं।

यदि यह कहा जाय कि रथनाभि में अरों के समान इस प्राकृत वर्ग के ओतप्रोत होने से विजातीय भेद बना रहता है फिर विजातीयभेदशून्य ब्रह्म कैसे? इसका उत्तर यह है कि वैदिक अद्वैत वादियों के मत में प्रकृति तदाश्रित होने से विजातीय भेद की आपादक नहीं, या यों कहो कि प्रकृति की ऐसी स्वतन्त्र सत्ता नहीं जिसके कारण वह परमात्मा से अत्यन्त भिन्न कही जा सके पर मायावादियों के मत में अविद्या तो ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है फिर अविद्या से विलक्षण ब्रह्म को मानते हुए इनके मत में विजातीय भेद क्यों नहीं? यदि यह कहा जाय कि समुद्र के दृष्टान्त से यहां एकत्व बोधन किया गया है? तो उत्तर यह है कि रथनाभि के दृष्टान्त से नाभिरूप ब्रह्म में अरों के समान सम्पूर्ण प्राकृतिक वर्ग का ओतप्रोत होना स्पष्ट भेद का प्रतिपादक है फिर अत्यन्त अभेद सिद्धि कैसे? इस

प्रकार आद्योपान्त विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि षोडशकल पुरुष यहां जीवात्मा को वर्णन किया गया है और परमात्मा को प्रलयकाल में सब कलाओं का आधारभूत वर्णन किया है जिससे वैदिक भेदवाद की सिद्धि स्पष्टतया पाई जाती है।

सं०—अब उक्त प्रकरण का उपसंहार करते हैं:—

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परंब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

पद०—तान्। ह। उवाच। एतावत्। एव। अहं। एतत्। परं। ब्रह्म। वेद। न। अतः। परं। अस्ति। इति।

अर्थ

तान्=उन छओं शिष्यों से	एतत्, परं, ब्रह्म=इस पर ब्रह्म को
ह=स्पष्टतया	वे जानता हूँ
उवाच=महर्षि पिप्पलाद बोले कि	अतः, परं=इससे परे
एतावत्, एव=इतना ही	न, अस्ति, इति=कुछ नहीं है।
अहं=मैं	

भाष्य—इस प्रश्न का उत्तर समाप्त करते हुए सरलभाव से महर्षि पिप्पलादि उन छओं शिष्यों से कहने लगे कि मैं इतना ही जितना तुम्हारे प्रति उस ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है जानता हूं अर्थात् जिस परमपुरुष का मैंने तुम्हारे प्रति उपदेश

किया है वही परब्रह्म है, इससे भिन्न जानने तथा उपासना करने योग्य अन्य कोई नहीं।

सं०—अब छओं शिष्य महर्षि पिप्लादि का पूजन करते हैं:—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माक-मविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ।८।

पद०—ते । तं । अर्चयन्तः । त्वं । हि । नः । पिता । यः । अस्माकं । अविद्यायाः । परं । पारं । तारयसि । इति । नमः । परमऋषिभ्यः । नमः । परमऋषिभ्यः ।

अर्थ

ते=वह छओं शिष्य
तं=उस महर्षि को
अर्चयन्तः=पूजते हुए कहते हैं कि
त्वं, हि=आप ही
नः=हमारे
पिता=पिता हैं
यः=जो
अस्माकं=हमको
अविद्यायाः=अविद्या के
परं, पारं=परले पार को
तारयसि=प्राप्त कराते हो
इति=इस लिये
परमऋषिभ्यः=ब्रह्म विद्या के ज्ञाता परम ऋषियों को
नमः=नमस्कार है।

भाष्य—["नमः परमऋषिभ्य"] पाठ दोबार षष्ठ प्रश्न की समाप्ति के लिये आया है, अब वह सब शिष्य कृतज्ञतापूर्वक

पुष्पाञ्जलि द्वारा महर्षि का पूजन करते हुए कहते हैं कि हे गुरो! आप हमारे ब्रह्मदाता पिता हैं आपने अपनी कृपा से हमको अविद्यारूपी समुद्र से पार किया है अर्थात् इस महामोहरूप सागर से पार करने वाले एकमात्र आपही हमारे रक्षक पिता हैं, इसलिये हम आपको नमस्कार करते हैं और इस ब्रह्मविद्या के प्रवर्तक महर्षियों के चरणों में अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा से पुनः२ नमस्कार करते हैं।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये
प्रश्नोपनिषत्
समाप्ता

ओ३म्

अथ मुण्डकोपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते ।

——❀——

सं०—प्रश्नोपनिषद् में महर्षिपिप्पलाद ने सुकेशादि छ ऋषि पुत्रों को सृष्टि की उत्पत्ति द्वारा प्राणविद्या, प्रणवोपासना तथा षोडशकल पुरुष का भले प्रकार उपदेश किया, अब ब्रह्मविद्या-प्रधान मुण्डकोपनिषद् का प्रारम्भ करते हुए प्रथम ब्रह्मविद्यावेत्ता ऋषियों का इतिहास कथन करते हैं :—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।१॥

पद०—ब्रह्मा । देवानां । प्रथमः । संबभूव । विश्वस्य । कर्त्ता । भुवनस्य । गोप्ता । सः । ब्रह्मविद्यां । सर्वविद्याप्रतिष्ठां । अथर्वाय । ज्येष्ठपुत्राय । प्राह ।

अर्थ

देवानां=ब्रह्मवेत्ता विद्वानों में
प्रथमः=प्रसिद्ध
विश्वस्य=ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा
कर्त्ता=सबका उत्पादक
भुवनस्य=संसार का
गोप्ता=रक्षक
ब्रह्मा=ब्रह्मा नामक ऋषि

संबभूव=उत्पन्न हुआ
स:=उसने
अथर्वाय=अथर्वा नामक
ज्येष्ठपुत्राय=अपने बड़े पुत्र को
सर्वविद्याप्रतिष्ठां=सब विद्याओं में श्रेष्ठ
ब्रह्मविद्यां=ब्रह्मविद्या का
प्राह=उपदेश किया।

भाष्य—ब्रह्मवेत्ता विद्वानों में प्रसिद्ध और ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा अपने शिष्यवर्ग को जन्म देने वाला "ब्रह्मा" नामक ऋषि हुआ और उस ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा के प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, ब्रह्मविद्या को सबविद्याओं में श्रेष्ठ इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि इसी के द्वारा परमपिता जो सम्पूर्ण जगत् का आधार है जाना जाता है और उसके जानने पर फिर कुछ जानने को शेष नहीं रहता, जैसाकि "यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इत्यदि वाक्यों में वर्णन किया है कि उसके जान लेने से फिर कुछ जानने को अवशिष्ट नहीं रहता।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मश्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों के मध्य धर्म, ज्ञान और वैराग्यादि दैवीसम्पत्ति की प्राप्ति से प्रसिद्ध एक ब्रह्मा नामक ऋषि था, उसको ["भुवनस्यगोप्ता"] =संसार का रक्षक, इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि उसने ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा सांसारिक लोगों को अविद्यान्धकार से निकाल कर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया।

और जो कई एक पौराणिक लोग इसी श्लोक से 'ब्रह्मा" को विश्व का कर्त्ता, धर्त्ता मानते हैं, वह इसलिये ठीक नहीं कि उन्हीं के सिद्धान्तानुसार विश्व का कर्त्ता, धर्त्ता आदि विशेषणों वाला निराकार ईश्वर है ब्रह्मा नहीं, जैसा कि ["जन्माद्यस्य यत:"] ब्र० सू० १।१।३ से स्पष्ट है, दूसरी बात यह है कि निरतिशय स्वत: सिद्ध ऐश्वर्य्य वाला ही सृष्टिकर्त्ता

हो सकता है जैसा कि ["जगद्व्यापारवर्जंप्रकरणादसन्निहितत्वाच्च"] ब्र० सू० ४।४।१७ के भाष्य में स्वा० शङ्कराचार्य्य ने लिखा है कि ["जगद्व्यापारस्तुनित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य"] = जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि का व्यापार एकमात्र परमेश्वराधीन है, अतः एव ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता मानना ठीक नहीं।

और जो कई एक लोग यह मानते हैं कि शवलरूप द्वारा ईश्वर ही ब्रह्मा होकर प्रकट हुआ, यह इसलिये ठीक नहीं कि ईश्वर जन्मादि भावों को धारण नहीं करता, यदि यह कहा जाय कि तत्तद्रूप होने से ईश्वर विशिष्टरूप से अवतार कहा जा सकता है ? इस का उत्तर यह है कि ऐसा मानने से ब्रह्मा के पुत्र अथर्वा को भी ईश्वर का अवतार मानना चाहिये, क्योंकि वह भी शवलभाव से ईश्वररूप ही है, यदि यह कहो कि अथर्वा ईश्वर रूप नहीं तो उत्तर यह है कि ब्रह्मा ईश्वर का शवलरूप और अथर्वा नहीं इस में क्या हेतु ? इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट सिद्ध है कि देवताओं के मध्य ब्रह्मा को शवलरूप से ईश्वर मानना पौराणिक भाव है।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् । स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

पद०—अथर्वणे। यां। प्रवदेत। ब्रह्मा। अथर्वा। तां। पुरा। उवाच। अङ्गिरे। ब्रह्मविद्यां। सः। भारद्वाजाय। सत्यवाहाय। प्राह। भारद्वाजः। अङ्गिरसे। परावरां।

अर्थ

पुरा=पहले
अथर्वणे=अथर्वा को
यां=जिस विद्या का
ब्रह्मा, प्रवदेत्=ब्रह्मा ने उपदेश किया
अथर्वा=अथर्वा ने
अङ्गिरे=अङ्गिर ऋषि के लिये
तां, ब्रह्मविद्यां=उस ब्रह्मविद्या को
उवाच=कहा
सः=उसने
भारद्वाजाय, सत्यवाहाय=भरद्वाज गोत्रवाले सत्यवाह को और
भारद्वाजः=सत्यवाह ने
अङ्गिरसे=अङ्गिरा ऋषि को
परावरां=पर और अवर विद्या का
प्राह=उपदेश किया।

भाष्य—अथर्वा ने जिस ब्रह्मविद्या को अपने पिता ब्रह्मा से उपलब्ध किया उसी को उसने अङ्गिर नामक ऋषि के प्रति वर्णन किया, ऋङ्गिर ने सत्यवाह को और सत्यवाह ने उसी परावर ब्रह्म विद्या का उपदेश अपने शिष्य अङ्गिरा को किया।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

पद०—शौनकः। ह वै। महाशालः। अङ्गिरसं। विधिवत्। उपसन्नः। पप्रच्छ। कस्मिन्। नु। भगवः। विज्ञाते। सर्वं। इदं। विज्ञातं। भवति। इति।

अर्थ

ह वै=यह प्रसिद्ध है कि
महाशालः=महागृहस्थी
शौनकः=शुनक ऋषि के पुत्र शौनक ने

विधिवत्=विधिपूर्वक
अङ्गिरसं=अङ्गिरा नामक ऋषि के
उपसन्नः=समीप जाकर
पप्रच्छ=पूछा कि
भगवः=हे भगवन्
नु=निश्चय करके
कस्मिन्, विज्ञाते=किसके जानने पर
इदं, सर्वं=यह सब
विज्ञातं, भवति, इति=जाना जाता है।

भाष्य—["समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमभिगच्छेत्"] =जिज्ञासु पुरुष हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर प्रश्न करे, इस विधि के अनुसार "शौनक" ने अङ्गिरा ऋषि के समीप जाकर यह प्रश्न किया कि हे भगवन्! किसके सम्यक् जानने से इस कार्य्य रूप जगत् का विशेषरूप से बोध होता है, या यों कहो कि वह कौन पदार्थ है जिसके साक्षात्कार से फिर अन्य पदार्थ विषयक ज्ञान की इच्छा नहीं रहती अर्थात् इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक आदि कारण जिसके जानने पर जगत् के सारे कार्य्य कारण और उनके अवान्तर भेद स्वयमेव जाने जाते हैं वह क्या है?

सं०—अब अङ्गिरा उक्त प्रश्नविषयक उपदेश करने के लिये प्रथम उसकी प्राप्ति के साधनभूत परापर भेद से दो विद्याओं का उपदेश करते हैं:—

तस्मै स होवाच, द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ ४॥

पद०—तस्मै। सः। ह। उवाच। द्वे। विद्ये। वेदितव्ये।

इति । ह । स्म । यत् । ब्रह्मविदः । वदन्ति । परा । च । एव । अपरा । च ।

अर्थ

ह=निश्चय करके	इसी प्रकार
तस्मै=शौनक के प्रति	ब्रह्मविदः=ब्रह्मवेत्ता पुरुष
सः=वह अङ्गिरा	वदन्ति=कथन करते हैं कि
उवाच=बोला कि	परा=परा
द्वे, एव, विद्ये=दो ही विद्या	च=और
वेदितव्ये, इति=जाननी चाहियें	अपरा=अपरा भेद से विद्या
यत्=क्योंकि	दो प्रकार की हैं।
इति, ह, स्म=निश्चय करके	

भाष्य—उस प्रश्नकर्त्ता शौनक से महर्षि अङ्गिरा ने कहा कि जो पुरुष ब्रह्म की जिज्ञासा रखता हो उसको प्रथम परा और अपरा यह दो विद्या जाननी चाहियें. ऐसा ही ब्रह्मवेत्ता आचार्य्य कथन करते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि हे शौनक ! जिस परम पुरुषार्थरूप पदार्थ के ज्ञान से फिर शेष ज्ञातव्य नहीं रहता उसके जानने के लिये परा और अपरा भेद से जो दो प्रकार की विद्या है उसका प्रथम जानना आवश्यक है अर्थात् परमात्मविषयक प्रज्ञा का नाम ही "परा" विद्या है और इसी को योगशास्त्र में निदिध्यासन की पराकाष्ठा रूप निर्वीज समाधि कहते हैं, क्योंकि यही सम्पूर्ण ध्येय तथा ज्ञेय पदार्थों की अवधि होने से मोक्षरूप कहाती है, जैसाकि मु०२।२।३ में वर्णन किया है कि:—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदाविद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

जब विवेकी=पराविद्या का जानने वाला पुरुष स्वयंप्रकाश जगत्कर्त्ता परमात्मा को देखता है तब अज्ञान से रहित होकर पुण्य पाप की निवृत्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है।

सं०—अब परा तथा अपरा विद्या का स्वरूप कथन करते हैं—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो
ज्योतिषमिति । अथ परा यया
तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

पद०—तत्र । अपरा । ऋग्वेदः । यजुर्वेदः । सामवेदः । अथर्ववेदः । शिक्षा । कल्पः । व्याकरणं । निरुक्तं । छन्दः । ज्योतिषं । इति । अथ । परा । यया । तत् । अक्षरं । अधिगम्यते ।

अर्थ

तत्र=उक्त दोनों विद्याओं के मध्य
ऋग्वेदः=ऋग्वेद
यजुर्वेदः=यजुर्वेद
सामवेदः=सामवेद
अथर्ववेदः=अथर्ववेद
शिक्षा=शिक्षा
कल्पः=कल्प
व्याकरणं=व्याकरण
निरुक्तं=निरुक्त
छन्दः=छन्द
ज्योतिषं=ज्योतिष
इति=यह
अपरा=अपराविद्या है
अथ=और
यया=जिससे
तत्=वह
अक्षरं=अविनाशी परमात्मा
अधिगम्यते=प्राप्त होता है वह
परा=परा विद्या है

भाष्य—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व यह चारों वेद और याज्ञवल्क्यादि ऋषि प्रणीत जिसमें वर्ण और स्वरों के उच्चारण की विधि कथन की गई है उसका नाम ["शिक्षा"] कात्यायनमुनि प्रणीत जिसमें मन्त्रविनियोगपूर्वक कर्मकाण्ड का विधान है उसका नाम ["कल्प"] पाणिनिमुनि प्रणीत शब्दशास्त्र का नाम ["व्याकरण"] यास्कमुनि प्रणीत जिसमें वैदिक पदों का निर्वचन किया गया है उसका नाम ["निरुक्त"] पिङ्गलाचार्य्य कृत जिसमें छन्दों के लक्षण हैं उसका नाम ["छन्दः"] और भृगुऋषि प्रणीत जिसमें ग्रहनक्षत्रादि भूगोल का वर्णन किया गया है उसका नाम ["ज्योतिष"] यह छओं वेदों के अङ्ग ["अपरा"] विद्या कहाते हैं, और जिन वैदिक वाक्यों से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है उसका नाम ["परा"] विद्या है, या यों कहो कि अपरा विद्या द्वारा शम दमादि साधनसम्पन्न मुमुक्षुपुरुष जिसका अधिकारी है और जो अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति का एकमात्र अन्तरङ्ग साधन है उसका नाम ["परा"] विद्या है।

स्मरण रहे कि इस स्थल में कई एक टीकाकार इस भ्रान्ति में पड़े हैं कि ऋगादि चारों वेद और शिक्षादि वेदों के अङ्ग "अपरा" विद्या है और इनसे भिन्न परा विद्या है अर्थात् वेद अपराविद्या के ग्रन्थ हैं और उपनिषद् ब्रह्मविद्या के ग्रन्थ हैं, यदि श्लोक का यह आशय होता तो जिस प्रकार अपराविद्या के ग्रन्थों की यहां संख्या गिनाई है इसी प्रकार परा विद्या के ग्रन्थों की भी संख्या गिनाई जाती, पर ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि उपनिषत्कार को परा और अपरा दोनों विद्यायें वेदों में अभिप्रेत हैं और वास्तव में यही ठीक भी है कि वेदों में ["सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्"] यजु० ४०।८

इत्यादि मन्त्रों में जहां परब्रह्म का प्रतिपादन है वह "परा" विद्या है और जहां अग्न्यादि भौतिक पदार्थों का यज्ञोपयोगी होने से वर्णन है अथवा विवाह, उपनयनादि संस्कारों का वर्णन है वह "अपरा" विद्या कहाती है, इस प्रकार वेदों में दोनों प्रकार की विद्यायें हैं, इसलिये यह कथन करना कि वेद केवल 'परा" विद्या के ही ग्रन्थ हैं भ्रान्तिमूलक है।

सं०—अब पराविद्या के विषयभूत अक्षर ब्रह्म का कथन करते हैं—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रंतदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतंसुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

पद०—यत् । तत् । अद्रेश्यं । अग्राह्यं । अगोत्रं । अवर्णं । अचक्षुःश्रोत्रं । तत् । अपाणिपादं । नित्यं । विभुं सर्वगतं । सुसूक्ष्मं । तत् । अव्ययं । यत् । भूतयोनिं । परिपश्यन्ति । धीराः ।

अर्थ

यत्=जो
तत्=वह
अद्रेश्यं=ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं
अग्राह्यं=कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं
अगोत्रं=उसका कोई गोत्र=कारण नहीं
अवर्णं=लालपीतादि वर्णों से रहित
अचक्षुः श्रोत्रं=चक्षुः श्रोत्रादिकों से रहित
अपाणिपादं=हस्तपादादि से रहित
सर्वगतं=सर्वत्र व्यापक और जो
सुसूक्ष्मं=अत्यन्त सूक्ष्म है

तत्=उस
अव्ययं=वृद्धि और क्षय से रहित
नित्यं=अविनाशी
विभुं=इयत्ता से रहित
यत् भूतयोनिं=जिस चराचर सृष्टि के कारण को
धीराः=विवेकी पुरुष
परिपश्यन्ति=ज्ञानदृष्टिसे सर्वत्र देखते हैं उसका नाम ब्रह्म है

भाष्य—जो पराविद्या से जाना जाता है उस अक्षर ब्रह्म का इस मन्त्र में कथन किया गया है, ज्ञानेन्द्रियों का जो विषय न हो उसको ["अदृश्य"] कर्मेन्द्रियों का विषय न हो उसको ["अग्राह्य"] जिसका कोई आदिकारण न हो उसको ["अगोत्र"] जो शुक्ल कृष्ण, पीतादि वर्णों से रहित हो उसका नाम ["अवर्ण"] है, वह बिना चक्षु के देखता और बिना श्रोत्र के सुनता है, इसी प्रकार बिना हाथ के सबको ग्रहण करता और बिना पांव के सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, उत्पन्न न होने से ["नित्य"] सर्वत्र व्यापक होने से ["विभु"] सब चराचर पदार्थों में ओतप्रोत होने से ["सर्वगत"] इत्यादि विशेषणविशिष्ट पुरुष अक्षर कहाता है उसको धीरपुरुष ज्ञानदृष्टि से देखते हैं।

भाव यह है कि उक्त अदृश्यत्वादि धर्मों वाले अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति का साक्षात्साधन "परा" विद्या है और यही मुमुक्षुजनों के लिये उपादेय है।

स्वामी शंकराचार्य्य जी ["विभु"] शब्द का यह अर्थ करते हैं कि ["ब्रह्मादिस्थावरान्त प्राणिभेदैर्भवतीति विभुः"]= ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्य्यन्त अनेक प्राणियों का रूप धारण करने से ब्रह्म का नाम ["विभु"] है अर्थात् अक्षरपदवाच्य ब्रह्मही स्थावर, जङ्गमादि रूप धारण करके अविद्यावशात् नानाप्रकार का प्रतीत हो रहा है वस्तुतः वह नानारूप नहीं,

अखिल भारतवर्षी मानव धर्मप्रचारक मण्डल

के

मुख्योद्देश्य:—

१- भारतीय संस्कृति और साहित्य का उत्थान।

२- रचनात्मक कार्यों द्वारा चरित्र निर्माण।

३- राष्ट्रीय और सामाजिक उन्नति।

४- प्रेम सेवा सद्भाव और सङ्गठन।

५- वेद, उपनिषद् और गीता के ध्येय की पूर्त्ति।

उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि ब्रह्म ही स्थावरादि नानारूपों को धारण किये हुए होता तो उसको "अद्रेश्य" और "आग्राह्यादि" विशेषणों से विशिष्ट कदापि निरूपण न किया जाता, और नाही उक्त स्वामीजी अपने भाष्य में स्वयं "अद्रेश्य" पद का यह अर्थ करते कि वह ["सर्वेषांबुद्धीन्द्रियाणामगम्यम्"]=सब ज्ञानेन्द्रियों से अगम्य=जानने योग्य नहीं, जब स्वा० शंकराचार्य्य को भी यही अर्थ अभिप्रेत है तो फिर उसको स्थावरादिरूप से इन्द्रियागोचर कथन करना केवल साहसमात्र है।

यदि यह कहा जाय कि विवर्त्ति उपादानकारण होने के अभिप्राय से उसको इन्द्रियागोचर कथन किया गया है इसलिये कोई दोष नहीं ? तो उत्तर यह है कि जिससे अदृश्यादि बिशेषण कथन करके तुमने ब्रह्म को भिन्न निरूपण किया है वह क्या पदार्थ है ? यदि यह कहो कि वह अवस्तु है कोई वस्तु नहीं तो ब्रह्म को उक्त विशेषणों से रहित क्यों कथन किया है, यदि यह कहें कि वह माया है तो माया का परिणाम जगत्सिद्ध हुआ फिर उस परिणामी रूप में ब्रह्म का नानारूप से बहुभवन कैसे ? इसलिये स्वा० शङ्कराचार्य्य के यह अर्थ कि ब्रह्म ही नानारूप हो गया कदापि ठीक नहीं।

सं०—अब तीन दृष्टान्तों द्वारा ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का एकमात्र कारण कथन करते हैं:—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।७।

पद०—यथा। ऊर्णनाभिः। सृजते। गृह्णते। च। यथा। पृथिव्यां। ओषधयः। सम्भवन्ति। यथा। सतः। पुरुषात्। केशलोमानि। तथा। अक्षरात्। सम्भवति। इह। विश्वम्।

अर्थ

यथा=जिस प्रकार
ऊर्णनाभिः=मकड़ी
सृजते=अपने शरीर से जाला पूरती है
च=और
गृह्णते=उसको समेट लेती है
यथा=जिस प्रकार
पृथिव्यां=पृथिवी से
ओषधयः=अन्नादि ओषधियें
सम्भवन्ति=उत्पन्न होती हैं
और
यथा=जैसे
सतः, पुरुषात्=जीते पुरुष से
केशलोमानि=केश और लोम उत्पन्न होते हैं
तथा=इसी प्रकार
अक्षरात्=उस अविनाशी ब्रह्म से
इह=सृष्टिकाल में
विश्वं=संसार
सम्भवति=उत्पन्न होता है।

भाष्य—इस मंत्र में तीन दृष्टान्तों द्वारा उस अक्षर ब्रह्म को इस चराचर जगत् का कारण कथन किया गया है अर्थात् जैसे लूता कीट=मकड़ी अपने तन्तुओं रूप जाल को अपने शरीरभूत उपादान कारण से उत्पन्न करती है और फिर अपने शरीर में ही ग्रहण कर लेती है तथा जिस प्रकार पृथिवी में नाना प्रकार की ओषधियें उत्पन्न होती हैं और फिर विकृत होकर उसी में लय हो जाती हैं और जैसे जीवित पुरुष से नाना प्रकार के केश और लोम उत्पन्न होकर फिर शरीर में ही परिणत हो जाते हैं, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से प्रकृतिरूप उपादान कारण द्वारा यह जगत् उत्पन्न होता और फिर प्रलयकाल में कारणरूप होकर उसी में लय हो जाता है।

"अक्षर" शब्द के अर्थ यहां ब्रह्म के हैं, जैसा कि ["अक्ष-

रमम्बरान्तधृतेः"] ब्र० सू० १ । ३ । ६ के विषय वाक्यों से स्पष्ट है, यद्यपि ['नक्षरतीत्यक्षरं"] =जो क्षय न हो उस को ["अक्षर"] कहते हैं, इस व्युत्पत्ति में "अक्षर" शब्द के अर्थ परिणामी नित्य प्रकृति के भी हो सकते हैं, क्योंकि वह भी अत्यन्त क्षय को प्राप्त नहीं होती तथापि यहां मुख्यतया अक्षर शब्द ब्रह्म का ही बोधक है, दूसरी बात यह है कि यहां पर उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण ब्रह्म को कथन किया गया है, इसलिये भी अक्षर यहां ब्रह्म का ही प्रतिपादक है, यदि यहां "अक्षर" शब्द से प्रकृतिरूप उपादान कारण अभिप्रेत होता तो ["यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि"] =जैसे जीते हुए पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार निमित्त कारण ब्रह्म को स्पष्ट रीति से बोधन करने वाला दृष्टान्त न दिया जाता, इससे भी स्पष्ट है कि अक्षर यहां ब्रह्म का बोधक है प्रकृति का नहीं।

मायावादी यहां "अक्षर" शब्द को ब्रह्म का बोधक तो कथन करते हैं परन्तु यह मानते हैं कि ऊर्णनाभि तथा पृथिवी और पुरुष इन तीनों दृष्टान्तों से ब्रह्म उपादान कारण पाया जाता है, यह उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि द्वितीय खण्ड के ["अक्षरात्परतः परः"] =अक्षर=प्रकृति से ब्रह्म परे है, इस प्रकार ब्रह्म को प्रकृति से भिन्न कथन किया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उक्त प्रकार से प्रकृतिरूप माया उपादान और ब्रह्म निमित्त कारण है, फिर मकड़ी आदि के दृष्टान्तों से ब्रह्म का उपादानत्व कैसे ? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है अर्थात् आप ही निमित्त और आप ही उपादान है, इस अभिप्राय से मकड़ी आदिकों का दृष्टान्त है, इस का उत्तर यह है कि इस उपनिषद् में उक्त वाक्य द्वारा

प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न माना गया है फिर ब्रह्म स्वयं प्रकृति कैसे ? और मायावादियों का मुख्यसिद्धान्त भी यही है कि जगत् माया का परिणाम और ब्रह्म का विवर्त्त है, इस सिद्धान्तानुकूल यह जगत् प्रकृति का ही परिणाम हो सकता है ब्रह्म का नहीं, इत्यादि तर्कों से स्पष्ट है कि यहां मकड़ी आदि दृष्टान्त ब्रह्म के शरीरभूत प्रकृति के बोधक हैं ब्रह्म के उपादानत्व के बोधक नहीं, इसका विशेष विचार ["वेदान्तार्य्यभाष्य"] के प्रकृत्यधिकरण में किया गया है इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब सृष्टि उत्पत्ति का क्रम कथन करते हैं:—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः
कर्मसु चामृतम् । ८ ।

पद०—तपसा । चीयते । ब्रह्म । ततः । अन्नं । अभिजायते । अन्नात् । प्राणः । मनः । सत्यं । लोकाः । कर्मसु । च । अमृतं ।

अर्थ

तपसा=अपने प्रयत्नरूप तप से
ब्रह्म=ब्रह्म
चीयते=जाना जाता है
ततः=उस ब्रह्म से
अन्नं=प्रकृति का
अभिजायते=आविर्भाव होता है
अन्नात्=अन्न से
प्राणः=प्राण, उससे
मनः=मन, मन से
सत्यं=सत्य, फिर
लोकाः=लोक तथा उन लोकों में कर्म
च=और
कर्मसु=उन कर्मों में
अमृतं=उनके फल क्रमशः उत्पन्न होते हैं ।

भाष्य – अपने प्रयत्नरूप तप से ब्रह्म के जानने का तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्म इस सृष्टि को रचता है तब अपने प्रयत्न से सब को ज्ञात होता है और उस परमात्मा के प्रयत्नरूप तप से प्रकृति कार्य्याकार को धारण करती है, जैसा कि ["प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत" | प्रश्न० १ । ४ । इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि प्रजा की कामना वाले प्रजापति ने प्रथम तप किया, यहां तप से तात्पर्य्य शीतोष्णादि द्वन्द्वों की सहिष्णुता का नहीं किन्तु ज्ञान से तात्पर्य्य है, जैसा कि ["यस्य ज्ञानमयं तपः"] इस वाक्य में वर्णन किया है कि उसका ज्ञान ही तप है, उस ब्रह्म से प्रथम प्राणों का आधार अन्न उत्पन्न होता है, उस के अनन्तर यह चराचरात्मक जगत् और लोकाः= मनुष्यों के शरीर और फिर प्राण की उत्पत्ति होती है, उस से फिर सङ्कल्पविकल्पात्मक मन. उस के अनन्तर कर्म और कर्मों में भोगरूप अमृत उत्पन्न होता है, जैसा कि ["तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"] तैत्ति० २ १ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया गया है।

स्मरण रहे कि जिस प्रकार उक्त वाक्य में आकाशादिकों का आविर्भाव ब्रह्म से कथन किया गया है इसी प्रकार यहां भी ब्रह्म से प्रकृत्यादि पदार्थों का आविर्भाव कथन किया है उपादान कारण के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ का अनुवाद करके उपसंहार करते हैं:—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते । ६ ।

पद०—यः। सर्वज्ञः सर्ववित्। यस्य ज्ञानमयं। तपः तस्मात्। एतत्। ब्रह्म। नाम। रूपं। अन्नं। च। जायते॥

अर्थ

यः=जो अक्षररूप परमात्मा
सर्वज्ञः=सर्वज्ञ
सर्ववित्=सबका जानने वाला
यस्य=जिसका
ज्ञानमयं=सब सृष्टि का जानना ही
तपः=तप है
तस्मात्=उसी परमात्मा से
एतत्=यह
ब्रह्म=सूर्य्य चन्द्रादि सब भुवन
नाम, रूपं=नाम रूपवाला सब कार्य्याकार जगत
च=और
अन्नं=अन्न
जायते=उत्पन्न होता है।

भाष्य—सर्वज्ञ कहकर फिर सर्ववित् कथन करने का तात्पर्य यह है कि उसकी सर्वज्ञता निरतिशय है अर्थात् कारण रूप जगत् का ज्ञाता होने से ["सर्वज्ञ"] और कार्य्यरूप जगत् का ज्ञाता होने से ["सर्ववित्"] कहाता है, या यों कहो कि उसका ज्ञान ऐसा नहीं जिसमें किसी प्रकार की न्यूनता हो, और बात यह है कि उपसंहार में ब्रह्म को फिर सब पदार्थों का कारण कथन किया गया है जिसका तात्पर्य्य यह है कि ["ऊर्णनाभि"] आदि दृष्टान्तों में कथन की हुई कारणता उपादान को ही बोधन नहीं करती किन्तु निमित्त और उपादान दोनों को बोधन करती है, इसी अभिप्राय से यहां अक्षररूप परमात्मा को सर्वज्ञ कथन किया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण और प्रकृति उपादान कारण है।

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः

॥ अथ प्रथम मुण्डके द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते ॥

संं०—प्रथम खण्ड में विषयसङ्कीर्तनरूप द्वारा ब्रह्मविद्या का बीजरूप से कथन और ब्रह्मविद्यावेत्ता ऋषियों का इतिहास वर्णन किया गया, अब इस खण्ड में उक्त विद्या के विशेष निरूपणार्थ प्रथम उसके साधनभूत अग्निहोत्रादि कर्मों का कथन करते हैं:—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्य
पश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः
पन्थाः स्वकृतस्य लोके । १ ।

पद०—तत् । एतत् । सत्यं । मंत्रेषु । कर्माणि । कवयः । यानि । अपश्यन् । तानि । त्रेतायां । बहुधा । सन्ततानि । तानि । आचरथ । नियतं । सत्यकामाः । एषः । वः । पन्थाः । सुकृतस्य । लोके ।

अर्थ

तत्, एतत् सत्यं=वह यह बात सत्य है कि
मंत्रेषु=संहिताओं में
यानि, कर्माणि=जिन अग्निहोत्रादि कर्मों को
कवयः=वेदवेत्ता विद्वान् लोग
अपश्यन्=देखते थे
तानि=वह कर्म
त्रेतायां=त्रेता में
बहुधा=अनेक प्रकार से

सन्ततानि=विस्तृत थे
तानि=उन कर्मों का
सत्यकामाः=हे सत्य कामनाओं वाले लोगो
नियतं=नियमपूर्वक
आचरथ=आचरण करो, क्योंकि
एषः=यही
वः=तुम्हारा
लोके=इस मानवदेह में
सुकृतस्य=पुण्यरूप कर्मों का
पन्थाः=मार्ग है।

भाष्य—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतꣳसमाः" यजु० ४०। २ इत्यादि संहिता में वर्णन किया है कि पुरुष अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों को करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, इन्हीं कर्मों का वेदवेत्ता लोगों ने प्रतिपादन किया है और यही कर्म त्रेतादि युगों में अनेक प्रकार से विस्तृत थे अर्थात् आहवनीय गार्हपत्य, दर्शपौर्णमासादि इष्टियों के नाम से शाखा प्रशाखा रूप में फैले हुए थे, इनका विस्तारपूर्वक निरूपण "मीमांसार्य्यभाष्य" में किया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं, हे सत्यकामनाओं वाले लोगो! तुम श्रद्धापूर्वक उक्त कर्मों का आचरण करो, क्योंकि यही इस मानवदेह में अपने किये हुए शुभकर्म मुक्ति के साधन हैं, या यों कहो कि उक्त वेदविहितकर्मों के किये बिना कोई भी मोक्ष का अधिकारी नहीं होसक्ता अर्थात् मुक्ति की इच्छावाले पुरुषों के लिये यही मा है।

तात्पर्य्य यह है कि महर्षि अङ्गिरस् ने शौनकादि महात्माओं से कहा कि जिन कर्मों का वेदों में विधान किया है और पूर्व ऋषि महर्षि जिनका अनुष्ठान करते आये हैं उन्हीं का करना इस पुण्य रूप देह में शुभमार्ग है, इस कथन से महर्षि ने इस बात को सिद्ध कर दिया कि वैदिककर्मकाण्ड के बिना ब्रह्मविद्या में किसी पुरुष को अधिकार नहीं, और जो मायावा-

दियों का यह कथन है कि अनधीत वेद तथा वैदिक कर्मों का अनुष्ठान न करने वाला भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी होसक्ता है, यह ठीक नही, इस भाव का यहां स्पष्टतया खण्डन पायाजाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के साथ कर्मकाण्ड का घनिष्ट सम्बन्ध है।

सं०—अब वैदिककर्मकाण्ड के मूलभूत अग्निहोत्र के करने का प्रकार कथन करते हैं:—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीःप्रतिपाद-
येच्छ्रद्धया हुतम् ॥२॥

पद०—यदा। लेलायते। हि। अर्चिः। समिद्धे। हव्यवाहने। तदा। आज्यभागौ। अन्तरेण। आहुतीः। प्रतिपादयेत्। श्रद्धया। हुतम्।

अर्थ

हि=निश्चय करके
यदा=जब
हव्यवाहने,समिद्धे=समिधाओं में अग्नि के प्रदीप्त होने पर
अर्चिः=अग्नि की ज्वाला
लेलायते=लपटें मारती है
तदा=तब
आज्यभागौ= आज्यभाग नामक दो
आहुतीः=आहुतियें क्रम से
अन्तरेण=मध्य में
प्रतिपादयेत्=देवे
श्रद्धया=श्रद्धा से
हुतं=किया हुआ हवन फलदायक होता है

भाष्य—सब वेदविहित कर्मों में अग्निहोत्र प्रधान होने से प्रथम इसी का वर्णन किया गया है, इसके करने का प्रकार यह

है कि अग्न्याधान करने के अनन्तर जब समिधाओं में अग्नि भले प्रकार प्रदीप्त होजाय तब यज्ञकुण्ड के मध्यभाग में "ओ३म् प्रजापतये स्वाहा" इदं प्रजापतये; इदन्नमम् "ओ३म् इन्द्राय स्वाहा" इदमिन्द्राय, इदन्नमम्, इन दो मन्त्रों से घृताहुति देवे, इसके पश्चात् फिर अन्य आहुतियें देकर प्रधान होम का प्रारम्भ करे।

स्मरण रहे कि कोई शुभकर्म जो विना श्रद्धा से किया जाता है वह फलदायक नहीं होता, इसीलिये उक्त मन्त्र में यह विधान किया गया है कि श्रद्धापूर्वक किया हुआ हवन ही फलदायक होता है।

सं०—अब नियत तिथियों में हवन न करने वाले के लिये पाप कथन करते हैं—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मा-
स्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च। अहु-
तमवैश्वदेवमविधिनाहुतमासप्त-
मांस्तस्य लोकान्हिनस्ति॥ ३

पद० - यस्य। अग्निहोत्रं। अदर्शं। अपौर्णमासं। अचातुर्मास्यं। अनाग्रयणं। अतिथिवर्जितं। च। अहुतं। अवैश्वदेवं। अविधिना। हुतं। आसप्तमान्। तस्य। लोकान्। हिनस्ति।

अर्थ

यस्य=जिसका
अग्निहोत्रं=अग्निहोत्र
अद =द[illegible] से रहित
अपौर्णमासं=पौर्णमासेष्टि से रहित
अचातुर्मास्यं=चतुर्मासेष्टि से रहित

अनाग्रयणं=शरदादि ऋतुओं में जो इष्टि की जाती हैं उनसे वर्जित है
च=और जो
अतिथिवर्जितं=अतिथिसत्कार से वर्जित है
अहुतं=जो समय पर नहीं किया जाता
अवैश्वदेवं=जो बलिवैश्वदेव कर्म से रहित है
अविधिनाहुतं=और जो अविधिपूर्वक हवन है वह
तस्य=उस यजमान के
आसप्तमान्, लोकान्=सात लोकों तक
हिनस्ति=नाश कर देता है

भाष्य—आमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि में जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम ["दर्शेष्टि"] जो पूर्णमासी के दिन किया जाता है उसका नाम ["पौर्णमासेष्टि"] इनको, और जो वर्षा-ऋतु में यज्ञ किये जाते हैं तथा जो शरद, वसंतादि ऋतुओं में नूतन अन्न के समय होते हैं उनको जो पुरुष नहीं करता और धर्मशास्त्र में लिखे अनुसार अतिथि का जिस अग्निहोत्री के घर में यथाविधि सत्कार नहीं, जो प्रमादवशात् समय टालकर अग्नि-होत्र करता है, जो वैश्वदेव नामक महायज्ञ अग्निहोत्र के साथ नहीं करता, और जो विधिरहित अश्रद्धापूर्वक हवन करता है, या यों कहो जो कि पुरुष अमावस्या तथा पौर्णमासी को नूतन अन्न के समय होली दिवाली आदि पर्वों में हवन नहीं करता अथवा किसी अतिथि का सत्कार न करता हुआ शुष्क हवन करता है उसके पिता, पितामह और परपितामह यह तीन पीछे के लोक तथा पुत्र, पौत्र और परपौत्र यह तीन आगे के लोक और सातवां अपना आप, इस प्रकार उसके यह सातों लोक नष्ट हो जाते हैं अर्थात् पिछले तीनों का ऐसी ही सन्तान से अपयश होता है जो वैदिक कर्म नहीं करती, आगे के तीनों को शुभशिक्षा नहीं मिलती, इस लिये आगे की तीन पीढ़ी=कुल

नाश हो जाते हैं, यहां सात लोक केवल उपलक्षणमात्र हैं वास्तव में भाव यह है कि जिस कुल में एक असदाचारी पुरुष उत्पन्न हो जाता है तो वह सारे कुल को कलङ्कित कर देता है। ["लोक्यते भुज्यतेऽनेनेति लोकः"]=जिससे भोग किया जाय उसका नाम ["लोक"] है, इस व्युत्पत्ति से "लोक" शब्द के अर्थ यहां शरीर के हैं, इसलिये सप्तलोक के अर्थ सात कुलों के करना ही समीचीन हैं, किसी लोक विशेष के अर्थ करना ठीक नहीं।

सं०—अब अग्नि की काली, कराली आदि अनेक प्रकार की जिह्वा तथा जड़ सूर्य्यादिकों में देवभाव मानने वाले मिथ्या-कर्म काण्डियों का अनुवाद करके खण्डन करते हैं:—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। विस्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः।४।

पद०—काली। कराली। च। मनोजवा। च। सुलोहिता। या। च सुधूम्रवर्णा। विस्फुलिङ्गिनी। विश्वरूची। च। देवी। लेलायमानाः। इति। सप्त। जिह्वाः।

अर्थ

काली=काले रंग वाली
कराली=भयङ्कररूप वाली
च=और
मनोजवा=मन जैसे शीघ्र वेग वाली
च=और
सुलोहिता=लाल रंग वाली
या, च=और जो
सुधूम्रवर्णा==धूम के तुल्य वर्ण वाली
विस्फुलिङ्गिनी=चिनगारों वाली
च=और

विश्वरुची=काले आदि सब रंगों से युक्त
इति=यह
देवी=दिव्य रूप
लेलायमानाः=प्रकाशमान
सप्त, जिह्वाः=सात जिह्वा हैं।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् । तन्नयन्त्येताःसूर्य्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ ५ ॥

पद०—एतेषु । यः । चरते । भ्राजमानेषु । यथाकालं । च । आहुतयः । हि । आददायन् । तं । नयन्ति । एताः । सूर्य्यस्य । रश्मयः । यत्र । देवानां । पतिः । एकः । अधिवासः ।

अर्थ

हि=निश्चय करके
एतेषु, भ्राजमानेषु=उक्त प्रकाशमान अग्नि की जिह्वाओं में
यथाकालं=नियत समय पर
यः=जो
चरते=अग्निहोत्र करता है
तं=उसको
एताः=यह
आहुतयः=आहुतियें
आददायन्=ग्रहण करती हुई
सूर्य्यस्य=सूर्य्य की
रश्मयः=किरणें होकर वहां
नयन्ति=पहुँचाती हैं
यत्र=जहां पर
देवानां, पतिः=देवताओं का पति इन्द्र
एकः, अधिवासः=एक अधिपति होकर वर्त्तमान है।

सं०—अब जिस प्रकार आहुतियें यजमान को लेजाती हैं वह प्रकार कथन करते हैं:—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्य्यस्यरश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ ६॥

पद०—एहि। एहि। इति। तं। आहुतयः। सुवर्चसः। सूर्य्यस्य। रश्मिभिः। यजमानं। वहन्ति। प्रियां। वाचं। अभिवदन्त्यः। अर्चयन्त्यः। एषः। वः। पुण्यः। सुकृतः। ब्रह्मलोकः।

अर्थ

सुवर्चसः=प्रकाश वाली
आहुतयः=आहुतियां
प्रियां, वाचं, अभिवदन्त्यः= प्रिय वाणी बोलती हुइ
अर्चयन्त्यः=सत्कार पूर्वक
एहि, एहि, इति=आइये, आइये, इस प्रकार करती हुई
सूर्य्यस्य, रश्मिभिः=सूर्य्य की
किरणों द्वारा
तं, यजमानं=उस यजमान को
वहन्ति=लेजाती हैं कि
एषः=यह
वः=तुम्हारा
पुण्यः=पवित्र
सुकृतः=शुभकर्म का फलरूप
ब्रह्मलोकः=ब्रह्मलोक है।

सं०—अब उक्त श्लोकों में वर्णित मिथ्याकर्मकाण्ड तथा उसके मिथ्याभूत फल का खण्डन करते हैं:—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ ७॥

पद०—स्रवाः । हि । एते । अदृढाः । यज्ञरूपाः । अष्टादशोक्तं । अवरं । येषु । कर्म । एतत् । श्रेयः । ये । अभिनन्दन्ति । मूढाः । जरामृत्युं । ते । पुनः । एव । अपि । यन्ति ।

अर्थ

हि=निश्चय करके
एते=यह पूर्वोक्त
यज्ञरूपाः स्रवाः=यज्ञरूप नौकायें जो तरने के साधन कथन किये गये हैं
अदृढाः=अदृढ़ हैं
येषु=जिन में
अष्टादशोक्तं, अवरं, कर्म= सोलह ऋत्विज, यजमान और उसकी पत्नी कथन किये हैं
ये, मूढाः=जो अविवेकी पुरुष
एतत्, श्रेयः=इन को श्रेष्ठ मान कर
अभिनन्दन्ति=प्रसन्न होते हैं
ते=वह
एव=निश्चय करके
जरामृत्युं=जरा और मृत्यु को
पुनः=पुनः २
अपि, यन्ति=प्राप्त होते हैं।

भाष्य—उपरोक्त अग्निहोत्रादि यज्ञ जो होता, अध्वर्यु ब्रह्मा, उद्गाता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणानुशंसी, प्रस्तोता, अच्छावाक् नेष्टा, अग्नीध्र, प्रतिहर्त्ता, ग्रावस्तुत, पोत्री, सुब्रह्मण्य, उन्नेत्री, मैत्रावरुण, यह सोलह ऋत्विज, यजमान और उसकी पत्नी, यह अठारह जिन यज्ञों में निन्दित हैं, या यों कहो कि देवताओं के पति इन्द्र को प्राप्त कराने वाले आहुतिभूत यज्ञ जिन में उक्त १८ ऋत्विजादि का वर्णन है वह वास्तव में इस भवसागर से पार होने के साधन नहीं, क्योंकि मिथ्या विश्वासरूप होने से उक्त यज्ञरूप साधन अदृढ़ हैं, जो लोग अविद्यावशात् इन को मोक्ष का साधन मानते हैं वह पुनः २ जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।

स्मरण रहे कि इस श्लोक का तात्पर्य वैदिक यज्ञों की निन्दा

में नहीं किन्तु मिथ्याभूत यज्ञों की निन्दा में है, इसी अभिप्राय से श्लोक में यह कथन किया है कि ["प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः"=उक्त यज्ञरूप नौकायें अदृढ़ हैं अन्य नहीं।

मायावादी उक्त श्लोक का यह भाव कथन करते हैं कि सम्पूर्ण यज्ञरूपी नौकायें अदृढ़ हैं, उनका यह कथन ठीक नहीं, यदि श्लोक का यह भाव होता तो "पूर्वोक्त यज्ञरूप नौकायें अदृढ़ हैं" यह कथन न किया जाता किन्तु यह कहा जाता कि "यज्ञरूप नौकायें अदृढ़ हैं" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां मिथ्या यज्ञों का खण्डन किया गया है यथार्थ यज्ञ जिनके करने से पुरुष पवित्र होता है उसका नहीं जैसाकि ["यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"] गी० १८। ५ में वर्णन किया है कि यज्ञ, दान और तप इनको नियम पूर्वक नित्य करना चाहिये, क्योंकि इनसे पुरुष पवित्र होता है, दूसरी बात यह है कि इस अग्रिम श्लोक में अविद्या का बलपूर्वक खण्डन किया गया है जिससे स्पष्टतया सिद्ध है कि यहां आविद्यक यज्ञों का ही खंडन है वैदिक यज्ञों का नहीं।

सं०—अब अविद्याग्रसित पुरुषों का कथन करते हैं:—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः। ८।

पद०—अविद्यायां। अन्तरे। वर्त्तमानाः। स्वयं। धीराः। पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः। परियन्ति। मूढाः। अन्धेन। एव। नीयमानाः। यथा। अन्धाः।

अर्थ

अविद्यायां, अन्तरे, वर्त्तमानाः= अविद्या के मध्य में वर्त्तमान
स्वयं, धीराः=अपने आप को धीर और
पण्डितम्मन्यमानाः=पण्डित मानने वाले
जङ्घन्यमानाः=निरन्तर क्लेश को प्राप्त
मूढाः=मूर्ख लोग
अन्धेन, एव, नीयमानाः यथा, अन्धाः=अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे जैसे दुःख भोगते हैं वैसे ही अविद्यान्धकार में पड़े हुए अविवेकी पुरुष
परियन्ति=चारों ओर से क्लेश को प्राप्त होते हैं।

भाष्य—जो पुरुष उपरोक्त कर्मकाण्ड रूप अविद्या में रत हैं और अपने को धीर तथा पण्डित मानते हुए अपनी उच्च अवस्था को भूले हुए हैं उनकी वही दशा होती है जो अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे की होती है, जैसा कि:—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । यजु० ४० । ६

इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि जो पुरुष अविद्या की उपासना करते हैं वह गाढ़ अन्धकार को प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि जो लोग अविद्या=विपरीत ज्ञान में वर्त्तमान हैं अर्थात् नित्य को अनित्य, सर्वोपरि परमात्मदेव को अदेव और जड़ पाषाणादिकों को देव मानते हैं वह यावदायुष अन्धे की नाईं इस संसार में भटकते फिरते हैं उनको तत्वज्ञान प्राप्त नहीं होता।

सं०—अब अविद्या का फल कथन करते हैं:—

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था

इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते। ६।

पद०—अविद्यायां। बहुधा। वर्त्तमानाः। वयं। कृतार्थाः। इति। अभिमन्यन्ति। बालाः। यत्। कर्मिणः। न। प्रवेदयन्ति। रागात्। तेन। आतुराः। क्षीणलोकाः। च्यवन्ते।

अर्थ

बालाः=बालक=अज्ञानी पुरुष
अविद्यायां=अविद्या में
बहुधा=बहुत प्रकार से
वर्त्तमानाः=वर्त्तमान हुए
वयं. कृतार्थाः, इति=हम कृतार्थ हैं यह
अभिमन्यन्ति=मानते हैं
यत्=जिस कारण
कर्मिणः=कर्मी लोग
रागात्=फल में राग के कारण उसके परिणाम को
न, प्रवेदयन्ति=नहीं जानते
तेन=इसलिये
आतुराः=दुःख से आर्त्त हुए
क्षीणलोकाः=मनुष्यपन से गिरकर
च्यवन्ते=नष्ट हो जाते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में उक्त अर्थ को स्फुट किया गया है अर्थात् जिन लोगों को आत्मज्ञान नहीं है वह अनेक प्रकार की अविद्या में फसे हुए कर्म और उसके फल में ही अपने आप को कृतार्थ मानते हैं अर्थात् सांसारिक भोग ही जिन के लिये सुख की सीमा है वह महादुःखों में फस कर मनुष्यपन से गिर जाते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जो लोग अविद्या में वर्त्तमान हैं अर्थात् यथावस्थित=जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा नहीं जानते और

अपने आप को मिथ्या ही कृतार्थ मानते हैं वह लोग सकाम कर्मों के कारण परमात्मतत्व से वञ्चित रह कर अपने स्वार्थ के वशीभूत हुए मनुष्यपन से गिर कर नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

सं०—अब सकाम कर्मों का प्रकारान्तर से खण्डन करते हैं:—

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति । १० ।

पद०—इष्टापूर्त्तं । मन्यमानाः । वरिष्ठं । न । अन्यत् । श्रेयः । वेदयन्ते । प्रमूढाः । नाकस्य । पृष्ठे । ते । सुकृते । अनुभूत्वा । इमं । लोकं । हीनतरं । च । आविशन्ति ।

अर्थ

प्रमूढाः=धन तथा सांसारिक मोहरूप अज्ञान से युक्त पुरुष
इष्टापूर्त्तं=इष्ट=यागादि और आपूर्त्त=वापी कूप तड़ागादि कर्मों को
वरिष्ठं=श्रेष्ठ
मन्यमानाः=मानते हुए
न, अन्यत्, श्रेयः=इसके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याण का मार्ग नहीं, यह
वेदयन्ते=जानते हैं
ते=वह
नाकस्य, पृष्ठे=स्वर्ग के ऊपर
सुकृते=अपने किये हुए कर्मों को
अनुभूत्वा=अनुभव करके
इमं, लोकं=इस लोक को
च=और
हीनतरं=इससे अधिक नरक लोक को भी
आविशन्ति=प्राप्त होते हैं।

भाष्य—जो पुरुष यज्ञादि कर्म तथा वापी, कूप, तड़ागादि सामाजिक हितकारी कर्मों को सर्वोपरि मानते हैं और यह कथन करते हैं कि इन से श्रेष्ठ कोई अन्य पदार्थ नहीं वह उक्त सकाम कर्मों का फल भोग कर फिर हीनदशा को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उस अव्यय पद को प्राप्त नहीं हो सकते।

सं०—अब उस अव्यय पद की प्राप्ति कथन करते हैं:—

तपः श्रद्धे ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा। ११।

पद०—तपः श्रद्धे। ये। हि। उपविशन्ति। अरण्ये। शान्ताः। विद्वांसः। भैक्षचर्यां। चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण। ते। विरजाः। प्रयान्ति। यत्र। अमृतः। सः। पुरुषः। हि। अव्ययात्मा।

अर्थ

ये=जो पुरुष
शान्ताः=शान्त चित्त वाले
विद्वांसः=विद्वान्
भैक्षचर्यां, चरन्तः=भिक्षा से अपनी वृत्ति करते हुए
अरण्ये=वन में अथवा एकांत देश में रह कर
तपः श्रद्धे=तप और श्रद्धा का
उपवसन्ति=सेवन करते हैं
ते=वह
विरजाः=निष्पाप होकर
सूर्य्यद्वारेण=ज्ञान द्वारा
प्रयान्ति=वहां जाते हैं
यत्र=जहां
हि=निश्चय करके
सः=वह
अमृतः=मृत्यु से रहित
अव्ययात्मा, पुरुषः=अव्ययात्मा पुरुष है।

भाष्य—इस श्लोक में उस अव्ययात्मा पुरुष की प्राप्ति कथन की गई है अर्थात् शान्तचित्त वाले विद्वान् पुरुष जो भिक्षा से अपना निर्वाह करते हुए वन में वा कहीं एकान्त स्थान में रहते हैं और सदा ब्रह्म की उपासना में तत्पर हैं ऐसे ज्ञानीपुरुष ज्ञानद्वारा उस अमृत धाम को प्राप्त होते हैं जो शोक मोह तथा भय से पृथक तीनों कालों में एकरस रहता है।

तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष स्वाध्यायादि तप और वेद वाक्यों पर सद्विश्वासरूप श्रद्धा से अरण्य का सेवन करते हुए परमात्मा की उपासना में लगे हुए हैं वही उस अविनाशी ब्रह्म-की प्राप्ति के अधिकारी हैं, यद्यपि अन्य सकाम कर्मी लोग भी सुख लाभ करते हैं परन्तु उस सुख को भोगकर फिर वह अपने पद से पतित होजाते हैं और अव्ययात्मा परमात्मा के पदाधि-कारी कदापि उस निश्चल पद से पतित नहीं होते।

सं०—अब पराविद्या के अधिकारी पुरुष के लिये ब्रह्मवेत्ता गुरु का कथन करते हैं।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद-
मायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स
गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

पद०—परीक्ष्य। लोकान्। कर्मचितान। ब्राह्मणः। निर्वेदं। आयात्। नास्ति। अकृतः। कृतेन। तत्। विज्ञानार्थं। सः। गुरुं। एव। अभिगच्छेत्। समित्पाणिः। श्रोत्रियं। ब्रह्मनिष्ठं।

अर्थ

ब्राह्मण:=ब्रह्मविद्या का अधिकारी
कर्मचितान्,लोकान्= कर्म से प्राप्त होने वाली अवस्था को
परीक्ष्य=परीक्षा करके
निर्वेदं= वैराग्य को
आयात्=प्राप्त होवे, क्योंकि
कृतेन=कार्य्यरूप कर्मों से
अकृत:=नित्य शुद्ध बुद्ध परमात्मा
नास्ति= नहीं प्राप्त होता
तत्=उसके
विज्ञानार्थं=ज्ञानार्थ
स:=वह जिज्ञासु
समित्पाणि:= हाथ में समिधा लेकर
श्रोत्रियं=वेदज्ञ
ब्रह्मनिष्ठं=ब्रह्मपरायण
गुरुं,एव=गुरु को ही
अभिगच्छेत्=प्राप्त हो।

भाष्य—ब्राह्मण=ब्रह्मविद्या का अनुरागी जिसने अपना सर्वस्व त्याग कर दिया है, या यों कहो कि जिसको ब्रह्म की उत्कट जिज्ञासा है वह प्रथम यह परीक्षा करके कि कर्म का फल सुख अनित्य है अर्थात् जन्म, मरण, भय, शोकादि से आर्त्त सब संसार का परिणाम ज्ञानदृष्टि से देखकर संसार से विरक्त होजाय और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा को यथार्थ रूप से जानने के लिये हाथ में समिधाओं को लेकर वेद वेदाङ्गों के पढ़े हुए बहुश्रुत और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाय।

सं०—अब उक्त शिष्य के लिये गुरु का कर्तव्य कथन करते हैं:—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं

वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम् । १३ ।

पद०—तस्मै । । सः । विद्वान् । उपसन्नाय । सम्यक् । प्रशान्तचित्ताय । शमान्विताय । येन । अक्षरं । पुरुषं । वेद । सत्यं । प्रोवाच । तां । तत्वतः । ब्रह्मविद्यां ।

अर्थ

प्रशान्तचित्ताय= शान्तचित्त
शमान्विताय= वशीभूत मन वाले
उपसन्नाय=शास्त्रोक्त विधि से आये हुए
तस्मै=उक्त शिष्य के लिये
सः, विद्वान्=वह विद्वान् आचार्य्य
सम्यक्=भले प्रकार
येन=जिस विद्या से
अक्षरं, सत्यं=वह अविनाशी और अविकारी
पुरुषं=पुरुष
वेद=जानाजाता है
तां=उस
ब्रह्मविद्यां=ब्रह्मविद्या को
तत्त्वतः=यथार्थ रीति से
प्रोवाच=उपदेश करे ।

भाष्य—उक्त श्लोक में वर्णित संसार से उपरत हुआ २ तथा शमदमादि साधन सम्पन्न शिष्य जब गुरु के समीप जाये तब वह ब्रह्मवेत्ता गुरु उसको शास्त्र की विधि अनुसार उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे जिससे अदृश्यादि गुणों वला ब्रह्म जाना जाता है ।

इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः

अथ द्वितीयमुण्डके प्रथमःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम मुण्डक के द्वितीयखण्ड में पराविद्या और उसके फलरूप ब्रह्म का बीजरूप से उपन्यास किया, अब इस खण्ड में ब्रह्मविद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रथम पराविद्यागम्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं––

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षरा-द्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ १ ॥

पद०—तत् । एतत् । सत्यं । यथा । सुदीप्तात् । पावकात् । विस्फुलिङ्गाः । सहस्रशः । प्रभवन्ते । सरूपाः । तथा । अक्षरात् । विविधाः । सोम्य । भावाः । प्रजायन्ते । तत्र । च । एव । अपि । यन्ति ।

अर्थ

तत्, एतत्=वह पूर्वोक्त अक्षर ब्रह्म
सत्यं=सत्य है
यथा=जैसे
सुदीप्तात, पावकात्-प्रदीप्त हुई अग्नि से
सरूपाः=उसके समान रूप वाले
सहस्रशः=हजारों
विस्फुलिङ्गा=चिनगारे
प्रभवन्ते=उत्पन्न होते हैं
तथा=वैसे ही
सोम्य=हे सोम्य
अक्षरात्=अक्षर ब्रह्म से
विविधाः, भावाः=बहुत प्रकार के भाव
प्रजायन्ते=उत्पन्न होते हैं

च=और अपि,यन्ति=लय होजाते हैं।
तत्र, एव=उस ही में

भाष्य—जिस अक्षर=अविनाशी ब्रह्म का वर्णन सामान्य रीति से पूर्व किया गया है वह सत्य=तीनों कालों में नाश रहित है, यहां प्रश्न यह होता है कि तीनों कालों में परिणामी नित्य होने से प्रकृति भी तो नाश रहित है? इसका उत्तर यह है कि वह वस्तुतः अक्षर=कूटस्थ नित्य नहीं, इसलिये अक्षर ब्रह्मविषयक सत्य का लक्षण यह हुआ कि जो पदार्थ अक्षररूप से त्रिकालाबाध्य हो वह सत्य है, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसके सहस्रों छोटे २ खण्ड पृथक् होजाते हैं इसी प्रकार ब्रह्माण्डगत सब पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में लय हो जाते हैं।

इस श्लोक में उत्पत्ति तथा लय का स्थान एकमात्र ब्रह्म को कथन किया गया है अर्थात् उत्पत्ति तथा स्थिति का सर्वोपरि कारण ब्रह्म हीं है अन्य नहीं।

और जो अग्नि विस्फुलिङ्ग का दृष्टान्त देकर संसार के पदार्थों को ब्रह्म के सदृश्य कथन किया है उसका तात्पर्य यह है कि जीव चेतनत्वेन ब्रह्म के सदृश्य है और अन्य प्राकृत पदार्थ सत्तामात्र से उसके सदृश्य हैं, इस प्रकार साधर्म्य से ब्रह्म के साथ समान रूपता पाई जाती है और जीव परिच्छिन्न तथा प्रकृति जड़ है इत्यादि वैधर्म्यों से इनका भेद पाया जाता है सर्वथा एकता के अभिप्राय से यहां समानरूपता अभिप्रेत नहीं।

मायावादियों का कथन है कि "अक्षर" शब्द के अर्थ यहां मायाशक्तिविशिष्ट ब्रह्म के हैं और वह ब्रह्म पदार्थमात्र का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है उसीसे सब पदार्थ उत्पन्न

होते और उसी में लय हो जाते हैं, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि अग्रिम श्लोक में मायारूप अक्षर से ब्रह्म को भिन्न कथन किया गया है अर्थात् अग्नि विस्फुलिङ्ग के समान संसार के सब पदार्थ ब्रह्म के ही कार्य्य होते तो अग्रिम श्लोक में ब्रह्म को अमूर्त्त सिद्ध न किया जाता, अमूर्त्त सिद्ध करने से स्पष्ट है कि यह श्लोक ब्रह्म को सर्वोपरि कारण कथन करता है अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं।

सं०—अब उस सर्वोपरि कारण ब्रह्म का अन्य पदार्थों से भेद कथन करते हैं—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २॥

पद०—दिव्यः। हि। अमूर्त्तः। पुरुषः। सः। बाह्याभ्यन्तरः। हि। अजः। अप्राणः। हि। अमनाः। शुभ्रः। हि। अक्षरात्। परतः। परः।

अर्थ

हि=जिसलिये
दिव्यः=दीप्ति वाला
अमूर्त्तः=मूर्त्तधर्म से रहित है
पुरुषः=सर्वत्र व्यापक है
सः=वह
बाह्याभ्यन्तरः=प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है
हि=जिसलिये
अजः=उत्पत्ति से रहित है
हि=इसलिये
अप्राणः=प्राणों से रहित है
अमनाः=मन से रहित है
हि=अतएव
शुभ्रः=प्रकाशस्वरूप है
परतः, अक्षरात्=अव्याकृतरूप प्रकृति से भी
परः=परमसूक्ष्म है।

भाष्य—पूर्व श्लोक में जो यह कथन किया गया था कि अग्नि और उसके चिनगारों के समान यह सब संसार ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और उसी में लय होजाता है, इससे यह सन्देह उत्पन्न होता था कि ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यहां परम पुरुष परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है कि उसका स्वरूप जायते - उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर अस्ति=ठहरता है, वर्द्धते=बढ़ता है, विपरिणमते=परिणाम को प्राप्त होता है, अपक्षीयते=क्षय को प्राप्त होता है, नश्यति=नाश को प्राप्त हो जाता है, यह पट्भाव विकार जो यास्काचार्य्य ने कथन किये हैं इनसे रहित होने के कारण उसको ["अमूर्त्त"] कथन किया गया है, सब पुररूप ब्रह्माण्डों में व्यापकरूप से स्थिर होने के कारण उसको ["पुरुष"] कहा गया है, सब पदार्थ एकदेशी और ब्रह्म सर्वदेशी=सर्वत्र परिपूर्ण होने के कारण उसको ["बाह्याभ्यन्तर"] कथन किया गया है, सब कार्य्यमात्र की अपेक्षा प्रकृति सूक्ष्म है उससे भी सूक्ष्म होने के कारण उसको ["पर"] कथन किया है और वह परम सूक्ष्म तथा चेतनत्वेन प्रकृति से भिन्न है, इस स्थल में प्रकृति से ब्रह्म का भेद कथन करने से स्पष्ट सिद्ध है कि ब्रह्म और जगत् का घट तथा मृतिका के समान कार्य्यकारणभाव नहीं किन्तु ब्रह्म निमित्तकारण और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है अर्थात् जगत् का प्रकृति के साथ घट मृत्तिका के समान कार्य्यकारणभाव सम्बन्ध है।

और जो उक्त श्लोक में ब्रह्म के लिये अग्नि विस्फुलिङ्ग का दृष्टान्त दिया गया है वह इस अंश में सङ्गत है कि विस्फुलिङ्गरूप खण्ड का अग्नि उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्तकारण

है, क्योंकि उष्णता का नाम अग्नि है और उसका विस्फुलिङ्ग एक खण्डविशेष है, इसलिये उक्त दृष्टान्त में भी निमित्तकारण रूप से ही कार्य्यकारण अभिप्रेत है उपादानकारण रूप से नहीं।

मायावादी इस स्थल में ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होने में अपनी बड़ी प्रबलता दिखलाते हुए यह कथन करते हैं कि अग्नि और उसके चिनगारे का दृष्टान्त ब्रह्म का ही सर्वरूप बन जाना सिद्ध करता है, यह ठीक नहीं, यदि उक्त दृष्टान्त का यह अभिप्राय होता तो इस श्लोक में उपादानकारणरूप प्रकृति से ब्रह्म का भेद कथन न किया जाता, भेद कथन करने से स्पष्ट है कि उनके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का यहाँ गन्धमात्र भी नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्म को अन्य पदार्थों का निमित्तकारण कथन करते हैं—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

पद०—एतस्मात्। जायते। प्राणः। मनः। सर्वेन्द्रियाणि। च। खं। वायुः। ज्योतिः। आपः। पृथिवी। विश्वस्य। धारिणी।

अर्थ

एतस्मात्=उस निराकार ब्रह्म से
प्राणः=प्राण
मनः=मन
सर्वेन्द्रियाणि=सब इन्द्रिय
च=और उनके विषय
खं=आकाश
वायु=वायु
ज्योतिः=अग्नि

आपः=जल
विश्वस्य, धारिणी=विश्व को धारण करने वाली
पृथिवी=पृथिवी
जायते=उत्पन्न हुई ।

भाष्य—इस स्थल में ["जायते"] के अर्थ आविर्भाव के हैं, जैसा कि ["तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"] इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया गया है अर्थात् पांच भूत, पांच प्राण, मन और इन्द्रिय उस ब्रह्म से प्रकट हुए ।

सं०—अब परमात्मा का अग्न्यादि अवयवों द्वारा रूप वर्णन करके उसको सर्वान्तरात्मत्वेन कथन करते हैं—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्चवेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व-भूतान्तरात्मा । ४ ।

पद०—अग्निः । मूर्द्धा । चक्षुषी । चन्द्रसूर्य्यौ । दिशः । श्रोत्रे । वाक् । विवृताः । च । वेदाः । वायुः । प्राणः । हृदयं । विश्वं । अस्य । पद्भ्यां । पृथिवी । हि । एषः । सर्वभूतान्तरात्मा ।

अर्थ

अस्य=इस परमात्मा का
अग्निः, मूर्द्धा=अग्नि मुख है
चन्द्रसूर्य्यौ, चक्षुषी=चन्द्रमा और सूर्य्य चक्षु हैं
दिशः, श्रोत्रे=दिशायें श्रोत्र हैं
वेदाः, वाक्, विवृताः=प्रसिद्ध ऋगादि वेद उसका खुली हुई वाणी है
च=और
वायुः=सब ब्रह्माण्डगत वायु

प्राणः=प्राण है
विश्वं, हृदयं=सारा जगत् हृदय स्थानीय है
पद्भ्यां, पृथिवी=पृथिवी पाद-स्थानीय है
हि=निश्चय करके
एषः=यह
सर्वभूतान्तरात्मा=सब भूतों का अन्तरात्मा है।

भाष्य—इस श्लोक में अग्न्यादि अलङ्कार रूप से परमात्मा के मूर्द्धादि अवयवत्वेन कथन किये गये हैं जिसका आशय यह है कि यदि उसके कोई अवयव कल्पना किये जा सकते हैं तो यह तेजस्वी अग्नि उसका मुख, चन्द्रमा और सूर्य्य नेत्र, सब दिशायें श्रोत्र और वेद उसकी वाणी कहा जा सकता है, इत्यादि अवयवावयवीभाव उपचार से है वस्तुतः नहीं, इसी अभिप्राय से महर्षि व्यास ने उक्त विषयवाक्य रखकर ["रूपोपन्यासाच्च"] ब्र० सू० १। २। २३ रचा है, जिसका आशय यह है कि अग्नि आदि अवयव उसके आरोपित हैं वस्तुतः नहीं वस्तुतः वह सब भूतों का अन्तरात्मा है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि वह अभिन्ननिमित्तो पादानत्वेन ही सब का कारण नहीं किन्तु सर्वरूपत्वेन भी सर्वाकार होने से अग्नि आदिकों को उसका मूर्द्धा रूप से वर्णन किया गया है, उनका यह कथन ठीक नहीं, यदि उक्त अभिप्राय इस श्लोक का होता तो इससे पूर्व श्लोक में परमात्मा को अमूर्त्त कथन न किया जाता और नाही सर्वभूतान्तरात्मत्वेन उसको सबका आत्मारूप से वर्णन किया जाता किन्तु यह कथन किया जाता कि सब कुछ ब्रह्म ही है पर यह सिद्धान्त उपनिषदों में कहीं भी नहीं पाया जाता, या यों कहो कि उक्त भाव उपनिषदों में होता तो ["अक्षरात्परतः परः"] इत्यादि वाक्यों में इस जड़वर्ग से परमात्मा को भिन्न बोधन न किया जाता,

भिन्न बोधन करने से स्पष्ट सिद्ध है कि उक्त कथन अलङ्कार से वर्णन किया गया है सर्वाकार के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब उक्त अक्षर रूप परमात्मा से पंचाग्नि द्वारा प्रजा की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य्यः सोमात्
पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान्
रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः
प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः । ५ ।

पद०—तस्मात् । अग्निः । समिधः । यस्य । सूर्य्यः । सोमात् । पर्जन्यः । ओषधयः । पृथिव्यां । पुमान् । रेतः । सिञ्चति । योषितायां । बह्वीः । प्रजाः । पुरुषात् । सम्प्रसूताः ।

अर्थ

तस्मात्=उस अक्षर परमात्मा से
अग्निः=द्युलोक रूप अग्नि उत्पन्न हुई
यस्य=जिसका
सूर्य्यः=सूर्य्य
समिधः=काष्ठादि इन्धन स्थानीय है
सोमात्=उस सूर्य्यरूप अग्नि से
पर्जन्यः=मेघरूप बादल उत्पन्न होते हैं उससे
पृथिव्यां=पृथिवी में
ओषधयः= अन्नादि ओषधियें उत्पन्न होती हैं उनसे
रेतः=वीर्य्य और वीर्य्य को
पुमान्=पुरुष
योषितायां=स्त्री में
सिञ्चति=सींचता है उससे
बह्वीः,प्रजाः= बहुत प्रकार की प्रजा
पुरुषात्= परमात्मा से
सम्प्रसूताः=उत्पन्न होती है।

भाष्य— वह अक्षररूप परमात्मा ब्राह्मणादि सृष्टि का इस प्रकार कारण है कि प्रथम उससे सूर्य्यरूप अग्नि उत्पन्न होती है, उससे मेघरूप अग्नि, जैसाकि "आदित्याज्जायते वृष्टिः" मनु० ३। ३७ इत्यादि श्लोकों में वर्णन कियागया है, उससे पृथिवी रूप अग्नि में अन्न उत्पन्न होता है, उस अन्न से पुरुष और उस पुरुषरूप चतुर्थाग्नि से स्त्रीरूप पंचमाग्नि में बहुत प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती है, इस क्रम से प्राणिवर्ग की उत्पत्ति कथन की गई है, यही अमैथुनी सृष्टि का क्रम है अर्थात् जो चतुर्थाग्नि-रूप पुरुष उत्पन्न होता है वह किसी स्त्री पुरुष के जोड़े से नहीं होता किन्तु ईश्वर की इच्छा विशेष द्वारा आदि सृष्टि के स्वभा-वविशेष से पृथिवी में ही परमाणुपुंज से वर्षाऋतु के कीड़ों के समान स्वशरीर को पुरुष धारण करता है और उससे फिर रजवीर्य्य के संयोग द्वारा सृष्टि उत्पत्ति की प्रथा चलती है, इसी अभिप्राय से " ततो मनुष्या अजायन्त"इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि उस परमात्मा के सामर्थ्यविशेष से पुरुष उत्पन्न हुए।

सं०—अब कर्मों के साधनभूत वेद तथा यज्ञादिकों की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

तस्मादृचःसाम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे
क्रतवो दक्षिणाश्च । संवत्सरश्च यज-
मानश्च लोकाः सोमो यत्र
पवते यत्र सूर्य्यः । ६ ।

पद०—तस्मात्। ऋचः। साम। यजूंषि। दीक्षाः। यज्ञाः।

च । सर्वे । क्रतवः । दक्षिणाः । च । सम्वत्सरः । च । यजमानः । च । लोकाः । सोमः । यत्र । पवते । यत्र । सूर्य्यः ।

अर्थ

तस्मात्=उस पूर्ण परमात्मा से
ऋचः=ऋग्वेद
साम=सामवेद
यजूंषि=यजुर्वेद
दीक्षाः= उपनयनादि संस्कार
च=और
सर्वे, यज्ञाः=सब अग्निहोत्रादि यज्ञरूप कर्म
क्रतवः=अश्वमेधादि सब यज्ञ
दक्षिणाः=उक्त यज्ञों में दान
च=और
सम्वत्सरः=मुहूर्त्तादि सब काल
च=और
यजमानः= यज्ञ कर्त्ता यजमान
च=और
लोकाः=सब इन्द्रियों के गोलक
यत्र=जहां पर
सोमः=चन्द्रमा
पवते=पवित्र वा प्रकाशित करता है
यत्र=जहां पर
सूर्य्यः=सूर्य्य प्रकाशित करता है, वह सब लोक उत्पन्न हुए ।

भाष्य—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" यजु ३१ । ७=उसी परब्रह्म पूर्ण परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वेद यह चारों वेद उत्पन्न हुए, इस मंत्र में वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से कथन की गई है, इसी भाव से उक्त श्लोक में ग्रन्थन किया गया है कि सब वेदों को उत्पन्न करने वाला परमात्मा है, श्लोक में जो तीन वेदों का कथन किया है उसका तात्पर्य्य यह है जैसा कि ["शेषे यजुः शब्दः"] मीमां २ । १ । ३७ सूत्र में वर्णन किया गया है कि छन्द के अभिप्राय से अथर्ववेद यजुर्वेद के अन्तर्गत होने से वेद तीन हैं, इसी

प्रकार यहां भी वेदों को तीन कथन किया है वास्तव में वेद चार हैं जैसा कि पीछे ["तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः"] मुण्ड० १ । १ । ५ में वर्णन किया है, और जो कई स्थलों में तीन वर्णन किये गये हैं वह उक्त सूत्र में वर्णित यजुः और अथर्व को छन्द के अभिप्राय से एक मान कर वर्णन किये हैं, इसका विशेष विचार ["मीमांसार्य्यभाष्य"] के इसी स्थल में किया गया है, इसलिये यहां आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब प्राणियों के भेद तथा ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्य्यं विधिश्च । ७ ।

पद०—तस्मात् । च । देवाः । बहुधाः । सम्प्रसूताः । साध्याः । मनुष्याः । पशवः । वयांसि । प्राणापानौ । ब्रीहियवौ । तपः । च । श्रद्धा । सत्यं । ब्रह्मचर्य्यं । विधिः । च ।

अर्थ

तस्मात्=उस परमात्मा से
बहुधा=अनेक प्रकार के
देवाः=दिव्य गुण वाले पुरुष
साध्याः=रजोगुण सम्पन्न सिद्धि चाहने वाले देवविशेष
मनुष्याः=साधारण पुरुष
च=और
पशवः=पशु
वयांसि=पक्षी
प्राणापानौ=प्राण और अपान
ब्रीहियवौ=चावल और जौ
च=और

तपः=तप
श्रद्धा=वेद वाक्यों में पूर्ण विश्वास
सत्यं=यथार्थ भाषण
ब्रह्मचर्य्यं=इन्द्रियसंयम पूर्वक वेदाध्ययन
च=और
विधिः=इतिकर्तव्यता का नियम
यह सब परमात्मा से
सम्प्रसूताः=उत्पन्न हुए।

भाष्य—उसी परमात्मदेव पुरुष से देव, साध्य, मनुष्य और पशु, पक्षी आदि उत्पन्न हुए तथा जीवन के हेतु प्राणापान, व्रीहि, यवादि अन्न और वैदिककर्मकाण्ड के प्रधानभूत तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य और जिस में इन सब कर्मों के करने की विधि निरूपण की गई है वह शास्त्र, इन सब का आदि कारण वही परमपिता पूर्ण परमात्मदेव है।

तात्पर्य्य यह है कि यहां मनुष्यसृष्टि के तीन भेद वर्णन किये गये हैं, सत्वप्रधान पुरुषों का नाम ["देव"] रजःप्रधान पुरुषों का नाम ["साध्य"] और तमःप्रधान पुरुषों का नाम केवल ["मनुष्य"] कथन किया गया है, और इन तीनों भेदों का निमित्त कारण परमात्मा इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि पूर्व कर्मों का फलप्रदाता होने से वही इनका नियन्ता है, पशु, पक्षी उसी के नियम से उत्पन्न होते, प्राणापान उसी के नियम से गति करते और चावल, जौ आदि अन्न उसी के नियम से उत्पन्न होते हैं, तप=तितिक्षा, श्रद्धा=ईश्वर पर पूर्ण-विश्वास, सत्य=यथार्थ भाषण और ब्रह्मचर्य्यव्रत का सामर्थ्य, यह सब परमात्मा के अनुग्रह से ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं।

सं०—अब प्राण और इन्द्रियों के गोलकों की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः । सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त । ८ ।

पद०—सप्त । प्राणाः । प्रभवन्ति । तस्मात् । सप्तार्चिषः । समिधः । सप्तहोमाः । सप्त । इमे । लोकाः । येषु । चरन्ति । प्राणाः । गुहाशयाः । निहिताः । सप्त सप्त ।

अर्थ

सप्त, प्राणाः=सात प्राण
सप्तार्चिषः=सात उनकी वृत्तियें
सप्त, समिधः=सात विषय
सप्तहोमाः=सात ही उनके होम
और
इमे, सप्तलोकाः=यह सात लोक
येषु=जिन में
प्राणाः, चरन्ति=प्राण आते
जाते हैं, वह प्राण कैसे हैं
गुहाशयाः, सप्त सप्त, निहिताः=
जो इस शरीर रूप गुहा
में शयन करते हैं
तस्मात्=यह सब उसी परमा-
त्मा से
प्रभवन्ति=उत्पन्न होते हैं ।

भाष्य—दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक वाक् यह सप्त प्राण कहाते हैं, इनकी सात वृत्तियें और सात विषय, यह सब परमात्मा से उत्पन्न होते हैं, ["प्राण"] शब्द के अर्थ यहां इन्द्रियों के और ["लोक"] शब्द के अर्थ उनके गोलकों के हैं, इन सब पदार्थों की सृष्टि उस परमात्मदेव से उत्पन्न होती है स्वतः नहीं ।

सं०—अब स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति कथन करते हैंः—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा । १ ।

पद०—अतः । समुद्राः । गिरयः । च । सर्वे । अस्मात् । स्यन्दन्ते । सिन्धवः । सर्वरूपाः । अतः । च । सर्वाः । ओषधयः । रसः । च । येन । एषः । भूतैः । तिष्ठते । हि । अन्तरात्मा ।

अर्थ

अतः=उस परमात्मा से
समुद्राः=समुद्र
च=और
सर्वे, गिरयः=सब पहाड़ उत्पन्न होते हैं
अस्मात=उसी से
सर्वरूपाः, सिन्धवः=बहुत प्रकार की नदियां
स्यन्दन्ते=बहती हैं
च=और
अतः=उसी से
सर्वाः, ओषधयः=सम्पूर्ण ओषधियें
च=और
रसः=सब प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं
येन=जिनसे
एषः=पूर्वोक्त अक्षर पुरुष
भूतैः=भूतों के साथ व्याप्य-व्यापक भाव से
तिष्ठते=स्थिर होता है
हि=इसलिये
अन्तरात्मा=वह सब का अन्तरात्मा कहाता है ।

भाष्य—उसी परमात्मा से गिरि और समुद्रादि सब पदार्थों की रचना होती है, उसी के नियम में सिन्धु, शतद्रु गंगा,

यमुनादि नंदियें बहती हैं, उसी के नियम में सब ओषिधयें उत्पन्न होती और रस बनते हैं जिनसे वह भूतात्मा सब भूतों के साथ व्याप्यव्यापक भाव से स्थिर होता है और इसी कारण वह सब का अन्तरात्मा कहाता है।

पृथिव्यादि सब भूतों में व्याप्यव्यापकभाव से उनके भीतर होने के कारण उसका नाम ["अन्तरात्मा"] है जिन के अर्थ परमात्मा के हैं।

मायावादी यहाँ "अन्तरात्मा" के अर्थ जीवात्मा करते हैं, उन का कथन है कि स्थूल भूतों की देहरूप उपाधि में भीतर होने से उसका नाम "अन्तरात्मा" है, और यह अर्थ उन्होंने इस अभिप्राय से बदले हैं कि जीवात्मा ब्रह्म तभी बन सकता है जब प्रथम उसको उपाधिविशिष्ट बनाकर जीव बनायें, अन्यथा कब सम्भव था कि अन्तरात्मा जैसे प्रसिद्ध शब्द के अर्थ भी जीव के करते, जिसके अर्थ महर्षि व्यास भी ["रूपोपन्यासाच्च"] ब्र० सू० १।३।२३ में परमात्मा के करते हैं, और ['वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा"] मुण्ड० २।१।४ इत्यादि वाक्यों में भी "अन्तरात्मा" का अर्थ परमात्मा ही किया है फिर इसके अर्थ जीवात्मा करना भूल है, इनका जीव को ब्रह्म बनाने का प्रकार यह है कि यह लोग अध्यारोप से प्रथम ब्रह्म को जीवभावापन्न कर देते हैं और फिर अपवाद से उसका जीवभाव मिटाकर ब्रह्म बनाते हैं, वस्तु में अवस्तु के आरोप का नाम इनके मत में "अध्यारोप"] है वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म और अवस्तु अज्ञानादि निखिलप्रपंच जात है, इस प्रकार वस्तुरूप ब्रह्म में अज्ञानादि भावों का आरोप करके पश्चात् अपवाद न्याय से उसकी निवृत्ति करते हैं, ["रज्जुरियं नायं

सर्पः"]='यह रज्जु है सर्प नहीं', इस प्रकार ब्रह्म के विवर्त्त जगत् को ब्रह्ममात्र कथन करने का नाम ["अपवाद"] है, इसी भाव से यहां इन्होंने अन्तरात्मा के अर्थ जीवात्मा किये हैं सो ठीक नहीं।

सं०—अब उक्त अन्तरात्मा पुरुष को सम्पूर्ण विश्व का अधिकरण कथन करते हैं—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्या-
ग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

पद०—पुरुषे । एव । इदं । विश्वं । कर्म । तपः । ब्रह्म । परामृतं । एतत् । यः । वेद । निहितं । गुहायां । सः । अविद्या-ग्रन्थिं । विकिरति । इह । सोम्य ।

अर्थ

पुरुषे=पूर्वोक्त अन्तरात्मा पुरुष में
एव=निश्चय करके
इदं,विश्वं=यह सब जगत् जो
कर्म=शुभाशुभकर्म
तपः=तितिक्षा
परामृतं=मुक्ति, इनका समुदायहै
निहितं=स्थिर है
सोम्य=हे प्रियदर्शन
यः=जो पुरुष
गुहायां=इस संसाररूप गुहा में व्यापक
एतत्=इस पुरुष को
वेद=जानता है
सः=वह
इह=यहां ही
अविद्याग्रन्थिं=अविद्या की ग्रन्थि को
विकिरति=नाश कर देता है

भाष्य—यह सम्पूर्ण जगत् उस पूर्ण परमात्मा में व्याप्य-व्यापक भाव से स्थिर है, जो इस प्रकार परमात्मा के आधार

पर इस निखिल संसार को जानता है वह अपने अज्ञान की ग्रन्थि को छिन्नभिन्न कर देता है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा ही है अर्थात् यह जड़ चेतन सब कुछ परमात्मा ही स्वयं बन गया है, क्योंकि यह सब ब्रह्म का कार्य्य है, इसलिये मिट्टी के कार्य्य घट के समान यह ब्रह्म से भिन्न नहीं, या यों कहो कि जिस प्रकार घट मृन्मय होने के कारण मृत्तिका से भिन्न नहीं इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का कार्य्य होने से उससे भिन्न नहीं, यह अर्थ श्लोक के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं क्योंकि यहां "पुरुषे" सप्तमी है, इसलिये अधिकरण के अर्थ करना ही सङ्गत हैं इसी प्रकार ["पुरुष एवेदं सर्वम्"] इस मंत्र में भी अधिकरण के ही अर्थ करने चाहियें कि पुरुष में यह सब कुछ है, इस प्रकार यहां आधाराधेयभाव के अर्थ करना ही युक्त है परन्तु मायावादियों ने यहां भी समानाधिकरण के अर्थ किये हैं, मुख्य सामानाधिकरण्य तथा बाध सामानाधिकरण्य भेद से सामानाधिकरण दो प्रकार का होता है, भिन्न २ गुणों वाले पदार्थों को अपने उन गुणों के साथ ही एक कर देने का नाम ["मुख्यसमानाधिकरण"] और दो पदार्थों में से एक का बाध करके एक कर देने का नाम ["बाधसमानाधिकरण"] है, जैस कि ["इदं रजतं"]=यह रजत है, इसमें रजत को मिटा कर ["इदं"] पदार्थ के साथ एकता की जाती है, इनके मत में ब्रह्म में दोनों प्रकार का सामानाधिकरण्य माना जाता है, ब्रह्म का कार्य्य होने से यह जगत् ज्यों का त्यों ब्रह्मरूप है यह भी मानते हैं और यह भी मानते हैं कि रज्जु सर्प में से सर्परूप भ्रान्ति को मिटाकर रज्जुमात्र के समान एक ब्रह्ममात्र ही शेष रहजाता है परन्तु उक्त दनों प्रकार

से इनके मत में अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि यह जगत् ब्रह्म का अज्ञानरूप विवर्त्त है तो ब्रह्म अज्ञानी हुआ और यदि ब्रह्म का परिणाम है तो वह परिणामी हुआ, और वह इन दोनों अवस्थाओं से भिन्न पूर्णज्ञाता तथा अपरिणामी है, इसलिये "पुरुषे" सप्तमी रखकर आधाराधेयभाव के अर्थ करना ही ठीक है प्रथमा रखकर सामानाधिकरण्य के अर्थ करना ठीक नहीं।

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमःखण्डः

अथ द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः प्रारभ्यते
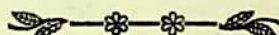
सं०—अब ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुए उसकी प्राप्ति का उपाय कथन करते हैं—

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैत-त्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेत ज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्य-द्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥

पद०—आविः। सन्निहितं । गुहाचरं । नाम । महत् । पदं । अत्र । एतत् । समर्पितं । एजत् । प्राणत् । निमिषत् । च । यत् । एतत् । जानथ । सदसत् । वरेण्यं । परं । विज्ञानात् । यत् । वरिष्ठं । प्रजानां ।

अर्थ

आविः=वह प्रकाशस्वरूप ब्रह्म
सन्निहितं=सब में व्यापक
गुहाचरं=इस ब्रह्माण्डरूप गुहा में गति करने वाला
नाम=प्रसिद्ध है, वह
महत्, पदं=सबसे बड़ा और सबका स्थिति स्थान है
अत्र=जिसमें
एजत्=चलने वाले
प्राणत्=प्राणी
निमिषत्=निमेष क्रिया करने वाले
च=और अनिमेष वाले भी
एतत्=यह सब
समर्पितं=स्थित हैं
यत्=जो
सदसत्, वरेण्यं=स्थूल, सूक्ष्म सब पदार्थों में ग्रहण करने योग्य
वरिष्ठं=सब में श्रेष्ठ
प्रजानां=प्रजा के
विज्ञानात्=विज्ञान से
परं=परे है
तत्, एतत्=उस विज्ञानात्मा पुरुष को तुम
जानथ=जानो ।

भाष्य=वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा जो सर्वानुगत होने से सब प्राणियों के अन्तःकरणरूपी गुहा में विराजमान है, जो कुछ यह सब चराचरात्मक जगत् है इस सबसे श्रेष्ठ है और जो प्राकृत प्रजा की समझ से बाहर है उसको तुम जानो ।

मायावादी ["सन्निहित"] के यह अर्थ करते हैं कि वह ब्रह्म स्वयं जीवरूप होकर सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है, उनका यह कथन ठीक नहीं, यदि "सन्निहित" के उक्त अर्थ होते तो ['सदसद्वरेण्यं"] इस वाक्य में स्थूल सूक्ष्म सब पदार्थों से उसको भिन्न कथन न किया जाता और नाही प्रजा की समझ से बाहर कहा जाता, इससे सिद्ध है कि "सन्निहित" के अर्थ ब्रह्म के जीवन बनने के नहीं किन्तु ["दूरात्सुदूरेतदि-

हान्तके च"] मुण्ड० ३।१।७ इस मंत्र के अनुसार व्याप्य-व्यापकभाव से सब के सन्निहित होने के हैं।

सं०-अब ब्रह्म के अन्य विशेषण कथन करते हैं:—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः, तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि।२।

पद०—यत्। अर्चिमत्। यत्। अणुभ्यः। अणु। यस्मिन्। लोकाः। निहिताः। लोकिनः। च। तत्। एतत्। अक्षरं। ब्रह्म। सः। प्राणः। तत्। उ। वाक्। मनः। तत्। एतत्। सत्यं। तत्। अमृतं। तत्। वेद्धव्यं। सोम्य। विद्धि।

अर्थ

यत्=जो ब्रह्म
अर्चिमत्=दीप्ति वाला है
यत्=जो
अणुभ्यः, अणु=सूक्ष्म से सूक्ष्म है
यस्मिन्=जिसमें
लोकाः=सम्पूर्ण लोक
च=और
लोकिनः=उनमें निवास करने वाले प्राणी
निहिताः=स्थित हैं
तत्=वह
एतत्=यह
अक्षरं=अक्षर
ब्रह्म=ब्रह्म है
सः=वह
प्राण=सबको प्राणशक्ति देने वाला है
तत्, उ=और वही
वाक्, मनः=वाणी तथा मन का प्रेरक है
तत्, एतत्=वह यह

सत्यं=सत्य है
तत्=वह
अमृतं=मृत्यु से रहित
तत्=वह
वेद्धव्यं=जानने योग्य है, इसलिये
सोम्य=हे शिष्य तू उसको
विद्धि=जान ।

भाष्य—पूर्व श्लोक में जो ब्रह्म को "सन्निहित" कथन किया गया था उससे स्थूलता की भ्रान्ति होती थी, इसलिये इस श्लोक में यह कथन किया गया है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तथा जीवात्मा से भी सूक्ष्म है, वाणी तथा मन को सत्ता स्फूरति देने वाला होने से वाणी और मनरूप कथन किया गया है और सब को प्राणरूप चेष्टा देने के अभिप्राय से उसको ["प्राण"] कहा गया है, वही मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य है उसी को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा जानना चाहिये ।

सं०–अब उक्त लक्ष्य के वेधन का प्रकार कथन करते हैं:—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा-
निशितं सन्धीयत । आयम्य तद्भा-
वगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं
सोम्य विद्धि । ३ ।

पद०—धनुः । गृहीत्वा । औपनिषदं । महास्त्रं । शरं । हि । उपासा । निशितं । सन्धीयत । आयम्य । तद्भावगतेन । चेतसा । लक्ष्यं । तत् । एव । अक्षरं । सोम्य । विद्धि ।

अर्थ

औपनिषदं=उपनिषद् सम्बंधी
महास्त्रं, धनुः=महा अस्त्ररूप धनुष को
गृहीत्वा=ग्रहणकर

हि=निश्चय करके उसमें	आयम्य=प्राणायाम द्वारा
उपासा, निशितं. शरं=उपासना	खींचकर
रूप तीक्ष्ण बाण को	तत्, एव, अक्षरं=उसी अक्षररूप
सन्धीयत=लगा और	लक्ष्यं=लक्ष्य को
तद्भावगतेन, चेतसा=ब्रह्मगत	सोम्य=हे सोम्य !
भाव वाले चित्त से	विद्धि=वेधन कर=जान ।

भाष्य—जो पुरुष परमात्मरूप अतिसूक्ष्म लक्ष्य को जानना चाहे उसको उचित है कि वह प्रथम उपनिषद् रूप दृढ़ धनुष हाथ में ले, फिर उपासनारूप तीक्ष्ण बाण उसमें लगावे और फिर परमात्मविषयक चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा उस धनुष को खींचकर एक मात्र परमात्मा को लक्ष्य रख वेधन करे अर्थात् जाने ।

भाव यह है कि इन श्लोकों में उपनिषत्कार महर्षियों ने यह वर्णन किया है कि प्रणवोपासना से परमात्मरूप लक्ष्य की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ की पुष्टि में और दृष्टान्त कथन करते हैं-

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य-
मुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शर-
वत्तन्मयो भवेत् । ४ ।

पद०— प्रणवः । धनुः । शरः । हि । आत्मा । ब्रह्म । तत् । लक्ष्यं । उच्चते । अप्रमत्तेन । वेद्धव्यं । शरवत् । तन्मयः । भवेत् ।

अर्थ

प्रणवः=ओङ्कार	हि=निश्चय करके
धनुः=धनुष है	आत्मा=जीवात्मा

शरः=बाण है और
तत्=उसका
लक्ष्यं=लक्ष्य
ब्रह्म=परमात्मा
उच्यते=कथन किया गया है
अप्रमत्तेन=प्रमाद रहित चित्त
से उसका
वेद्धव्यं=वेधन करे
शरवत्=बाण के सदृश
तन्मयः=तन्मय
भवेत्=होजाय।

भाष्य– जिज्ञासु को उचित है कि वह प्रणवरूप धनुष को लेकर संस्कृत मन द्वारा विषयरूप प्रमाद से रहित एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करे और फिर ब्रह्माकार वृत्ति-द्वारा अपने आपको तन्मय करदे अर्थात् ऐसा निदिध्यासन करे कि उसकी वृत्ति विजातीय प्रत्यय रहित होकर ब्रह्माकार हो जाय।

सं०—अब उक्त लक्ष्यरूप सर्वाधार ब्रह्म को अमृत का सेतु कथन करते हैं:—

अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं
मनः सहप्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ
आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ
अमृतस्यैष सेतुः ।५।

पद०—अस्मिन्। द्यौः। पृथिवी। च। अन्तरिक्षं। ओतं। मनः। सह। प्राणैः। च। सर्वैः। तं। एव। एकं। जानथ। आत्मानं। अन्याः। वाचः। विमुञ्चथ। अमृतस्य। एषः। सेतुः।

अर्थ

अस्मिन्=जिस अक्षर रूप ब्रह्म में द्यौः=द्युलोक

पृथिवी=पृथिवी लोक
च=और
अन्तरिक्षं=अन्तरिक्ष
च=और
सर्वैः, प्राणैः, सह, मनः=सब इन्द्रियों के साथ मन
ओतं=ओत प्रोत
एव=निश्चय करके
तं, एकं आत्मानं=उस एक आत्मा को
जानथ=जानो
अन्याः, वाचः=उससे भिन्न अन्य वाणियों को
विमुञ्चथ=छोड़ दो, क्योंकि
एषः=यही आत्मा
अमृतस्य=मोक्ष का
सेतुः=उपाय है।

भाष्य—जिस सर्वान्तर्यामी परमात्मा में द्यु लोक पृथिवी और अन्तरिक्षादि सब लोक ओतप्रोत हैं और वागादि सब इन्द्रियों के साथ मन भी जिसमें ओतप्रोत है हे शिष्यो तुम एकमात्र उसी को अपना लक्ष्य बनाओ और अनात्मपरायण सब वाणियों को छोड़ दो, क्योंकि मृत्यु रहित अमृत पद की प्राप्ति का उपाय एकमात्र वही परमात्मा है, जैसाकि ["तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"] यजु० ३१। १८ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि उसी को जानकर पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है अन्य कोई मार्ग नहीं।

सं०—अब रथनाभि के दृष्टान्त से सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा में ओतप्रोत कथन करते हैं:—

अराइव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् । ६ ।

पद०—अराइव । रथनाभौ । संहताः । यत्र । नाड्यः । सः । एषः । अन्तः । चरते । बहुधा । जायमानः । ओ३म् । इति । एव । ध्यायथ । आत्मानं । स्वस्ति । वः । पाराय । तमसः । परस्तात् ।

अर्थ

रथनाभौ, अराइव=रथनाभि में अरों के समान
यत्र=जिस परमात्मा में
नाड्यः=नाड़ियें
संहताः=ओतप्रोत हैं और जहां
सः, एषः=वह परमात्मा
बहुधा= बहुत प्रकार से
जायमानः=आविर्भाव को प्राप्त हुआ
अन्तः, चरते=भीतर विचरता है
आत्मानं=उस आत्मा का
ओ३म्, इति, एवं="ओ३म्" इस परमात्मवाचक पद से
ध्यायथ=ध्यान करो
तमसः, परस्तात्=जो अन्धकार से परे है
पाराय=उसकी प्राप्ति के लिये
वः=तुम को
स्वस्ति=आशीर्वाद हो ।

भाष्य—रथनाभि में अरों के समान यह सब जगत् उस परमात्म देव में ओतप्रोत है और जहां सब नाड़ियों का संघट्ट है उस हृदय देश में परमात्मा अपनी ज्योति से विराजमान है, इसलिये तुम सब को उचित है कि हृत्पुण्डरीक में व्याप्त ब्रह्म का ओङ्कार द्वारा ध्यान करो तब वह तुम्हारे लिये मंगलकारी होगा।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि हृदयरूप उपाधि में घटाकाश के समान ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त होरहा है, इसीलिये ['बहुधा जायमानः"] यह कथन किया गया है, इस वाक्य के अर्थ इनके मत में यह हैं कि वह कभी हृष्ट होता है,

कभी सन्तुष्ट, कभी शान्त और कभी अशान्त होता है, इत्यादि नाना भावों से ब्रह्म ही हृदयरूप उपाधि में सुखी दुःखी होरहा है, इनका यह कथन ठीक नहीं यदि इस श्लोक के यह अर्थ होते तो उत्तरार्द्ध में ओङ्काररूप से उसका ध्यान कथन न किया जाता, पर किया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जायमान के अर्थ यहां उत्पन्न होने के नहीं किन्तु आविर्भाव के हैं, अतएव इस श्लोक में रथनाभि के दृष्टान्त से और ["ओङ्कार"] द्वारा उसका ध्यान करने से ब्रह्म का वर्णन स्पष्ट है।

सं०—अब उक्त आत्मतत्व का प्रकारान्तर से कथन करते हैं:—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि, दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय, तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।७।

पद०—यः। सर्वज्ञः। सर्ववित्। यस्य। एषः। महिमा। भुवि दिव्ये। ब्रह्मपुरे। हि। एषः। व्योम्नि। आत्मा। प्रतिष्ठितः। मनोमयः। प्राणशरीरनेता। प्रतिष्ठितः। अन्ने। हृदयं। सन्निधाय। तद्विज्ञानेन। परिपश्यन्ति। धीराः। आनन्दरूपं। अमृतं। यत् विभाति।

अर्थ

यः=जो परमात्मा
सर्वज्ञः सर्ववित्= अपरोक्षरूप से सब का ज्ञाता है
यस्य=जिसका
भुवि=संसार में
एषः=यह
महिमा=रचना रूप महत्व है
हि=निश्चय करके
एषः=यह
आत्मा=आत्मा
दिव्ये, ब्रह्मपुरे, व्योम्नि=हृदय-पुण्डरीकरूप दिव्य आकाश में
प्रतिष्ठितः=स्थिर है
मनोमयः=ज्ञानस्वरूप है
प्राणशरीरनेता= प्राण और शरीर का चलाने वाला
अन्ने=इस पार्थिव जगत् में
हृदयं, सन्निधाय=प्रत्येक प्राणी के हृदय को आश्रय करके
प्रतिष्ठितः=स्थित है
तद्विज्ञानेन=उसके विज्ञान से
धीराः=धीरपुरुष
आनन्दरूपं=आनन्दरूप
अमृतं=अमृत को
यत्=जो
विभाति=प्रकाशमान् है
परिपश्यन्ति= ज्ञानदृष्टि से देखते हैं।

भाष्य—जो इस चराचर जगत् का ज्ञाता है, जिसका महत्व उसकी रचना से इस संसार में विख्यात है जो प्रत्येक प्राणी के हृदयाकाश में विराजमान है और जो ज्ञानस्वरूप है, उस परमात्मा को जिज्ञासु जन वैदिकज्ञान द्वारा जानते हैं अन्यथा नहीं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा ही हृदयपुण्डरीक में जीवरूप से स्थिर है और वहीं जीवभाव को प्राप्त हुआ लिङ्गशरीर का नेता है अर्थात् लिङ्गशरीर को पुनर्जन्म के लिये लेजाता है, यदि उक्त श्लोक में जीवात्मा का वर्णन

होता तो उत्तर श्लोक में परापर ब्रह्म का वर्णन न कियाजाता परन्तु किया है इससे स्पष्ट है कि यह श्लोक ब्रह्म का वर्णन करता है जीवात्मा का नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्मज्ञान का फल कथन करते हैं:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-
संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परावरे। ८।

पद०—भिद्यते। हृदयग्रन्थिः। छिद्यन्ते। सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते। च। अस्य। कर्माणि। तस्मिन्। दृष्टे। परावरे।

अर्थ

तस्मिन्=उस पूर्वोक्त
परावरे=परावर ब्रह्म के
दृष्टे=जानने पर
हृदयग्रन्थिः=हृदय की अविद्यक ग्रन्थि
भिद्यते=भेद को प्राप्त होजाती है
सर्वसंशयाः=सब संशय
छिद्यन्ते=छिन्नभिन्न होजाते हैं
च=और
अस्य=इस जीव के
कर्माणि=संचित कर्म
क्षीयन्ते=क्षय को प्राप्त होजाते हैं।

भाष्य—उक्त परमात्मज्ञान का महत्व यह है कि उस परावर ब्रह्म के ज्ञान से अविद्यारूप ग्रन्थि भेद को प्राप्त होकर सब संशय दूर हो जाते हैं और वासना रूप सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, परावर के अर्थ ["परं कारणं अवरं कार्य्यं तदुभयं यस्मिन् तद् परावरम ब्रह्म"]=पर=प्रकृति और अवर=कार्य्य, यह दोनों हों जिसमें उसका नाम ["परावर"] है।

सं० अब उस ब्रह्म का संक्षेपतः स्वरूप कथन करते हैं:—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषांज्योतिस्तद्यदात्म-
विदो विदुः। १।

पद०—हिरण्मये। परे। कोशे। विरजं। ब्रह्म। निष्कलं। तत्। शुभ्रं। ज्योतिषां। ज्योतिः। तत्। यत्। आत्मविदः। विदुः।

अर्थ

हिरण्मये=उस ज्योतिर्मय	तत्=वह
परे, कोशे=हृदयरूप कोश में	शुभ्रं=शुद्ध है
विरजं=रजोगुण से रहित	ज्योतिषां=जो है उसको
निष्कलं=निरवयव	आत्मविदः=आत्मवेत्ता
ब्रह्म=ब्रह्म विराजमान है	विदुः=जानते हैं अन्य नहीं।

भाष्य—आनन्दमय कोश को यहां "हिरण्मय" शब्द से वर्णन किया गया है अर्थात् सब जीवों की प्रकाशरूप बुद्धि में वह शुद्ध ब्रह्म व्यापक है जो निरवयव होने से सर्वथा निष्कलंक है और स्वतःप्रकाश होने से सूर्य्यादि ज्योतियों का भी प्रकाशक है, और यह वह ब्रह्म है जिसको केवल आत्मवेत्ता ही जानते हैं अन्य नहीं।

सं०—अब उस ब्रह्म को सूर्य्यादिकों का प्रकाशक कथन करते हैं:—

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा

विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव
भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा
सर्वमिदं विभाति। १०।

पद०—न। तत्र। सूर्य्यः। भाति। न। चन्द्रतारकं। न। इमाः। विद्युतः। भान्ति। कुतः। अयं। अग्निः। तं। एव। भान्तं। अनुभाति सर्वं। तस्य। भासा सर्वं। इदं। विभाति।

अर्थ

तत्र=उस ब्रह्म में
सूर्य्यः=सूर्य्य
न, भाति=प्रकाश नहीं करता
न, चन्द्रतारकं=चन्द्रमा और तारागण भी प्रकाश नहीं करते
न, इमाः, विद्युतः, भान्ति=न यह विजलियें उसको प्रकाश करती हैं
अयं, अग्निः=यह भौतिकाग्नि
कुतः=कहां प्रकाश कर सकता है
तं, एव, भान्तं=उस ही स्वयं प्रकाश के
सर्वं=सब
अनुभाति=पीछे प्रकाशित होते हैं
तस्य=उसी की
भासा=दीप्ति से
इदं, सर्वं=यह सब तेजोमण्डल
विभाति=प्रकाशित होता है स्वतः नहीं।

भाष्य—सूर्य्य चन्द्रादि सब जड़ पदार्थ उस स्वयंप्रकाश परमात्मा में प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु यह सब उसी की सत्ता से प्रकाशित होते हैं और उसी के प्रकाशानन्तर विद्युतादि सब तेजस्वी पदार्थ अन्य पदार्थों के प्रकाशक होते हैं स्वतः नहीं।

भाव यह है कि सूर्य्यादि प्राकृत पदार्थों में ईश्वर की रचना विशेष से ही प्रकाशत्व धर्म आता है, इसलिये सूर्य्यादि सब पदार्थ परप्रकाश्य और ब्रह्म स्वतः प्रकाश है।

सं०—अब उपसंहार में ब्रह्म की सर्वव्यापकता कथन करते हैं:—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् । ११ ।

पद०—ब्रह्म। एव। इदं। अमृतं। पुरस्तात्। ब्रह्म। पश्चात्। ब्रह्म। दक्षिणतः। च। उत्तरेण। अधः। च। ऊर्ध्वं। च। प्रसृतं। ब्रह्म। एव। इदं। विश्वं। इदं। वरिष्ठं।

अर्थ

इदं, अमृतं=जो पूर्व श्लोकों में अमृतभाव कथन किया गया है वह यह अमृतरूप
ब्रह्म, एव=ब्रह्म ही है
पुरस्तात्, ब्रह्म=इस कार्य्यकारणरूप जगत् से प्रथम ब्रह्म था
पश्चात्, ब्रह्म=इस के कारणाकार हो जाने के अनन्तर ब्रह्म ही शेष रहेगा
दक्षिणतः=दक्षिण की ओर
च=और
उत्तरेण=उत्तर की ओर
अधः=नीचे
च=और
ऊर्ध्वं=ऊपर भी
इदं, ब्रह्म=यह ब्रह्म ही
प्रसृतं=फैला हुआ है
इदं, विश्वं=यह पूर्ण
वरिष्ठं, एव=अतिश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

भाष्य–इस श्लोक में ब्रह्म को सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद शून्य कथन किया गया है अर्थात् सृष्टि से प्रथम एकमात्र ब्रह्म ही था उस समय यह नामरूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था और वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण ब्रह्म के सजातीय भेद की आपादक न थी और स्वतन्त्र न होने के कारण विजातीय भेद की आपादक भी न थी, इसलिये ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है और ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर, इस भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता से एकमात्र ब्रह्म ही दशों दिशाओं में है और इसी भाव से यह कथन है कि [इद वरिष्ठं विश्वम्"] =यह सर्वोपरि वरणीय ब्रह्म ही है अन्य नहीं, यह वही भाव है जिसको बृहदा० ५।१।१ में वर्णन किया है कि:—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह ब्रह्म आकाशवत् परिपूर्ण है, यह कार्य्य जगत् भी जो उसी परमात्मा से निकलता है पूर्ण है और उस पूर्ण परमात्मा के पूर्ण भाव को लेकर ही अव्याकृतरूप से पुनः शेष रहता है, इसी प्रकार इस श्लोक में भी ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है जड़ चेतन अथवा जीव ब्रह्म की एकता के अभिप्राय से नहीं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर में सब कुछ ब्रह्म ही है, या यों कहो कि यह सब चराचर विश्व ब्रह्म ही है, यदि यह भाव इस श्लोक का होता तो इस से पूर्व श्लोक में सूर्य्यादिकों की तुच्छता वर्णन न की जाती और नाही यह कथन किया जाता कि उसी

के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उक्त कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि ब्रह्म स्वतः प्रकाश और अन्य सब पदार्थ परप्रकाश्य हैं, फिर सब जड़ चेतन की एकता कैसे ? और प्रबल प्रमाण यह है कि अग्रिम तृतीयमुण्डक प्रथमखण्ड के प्रथम मंत्र में जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट रीति से निरूपण किया गया है, यदि सब कुछ ब्रह्म ही होता तो भेद निरूपण करने की क्या आवश्यकता थी ? इसका वह यह उत्तर देते हैं कि ["तत्"] और ['त्वं"] पद का स्वरूप निरूपण करने के लिये वहां जीव ब्रह्म का भेद कथन किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म को सब कुछ वर्णन कर देने से सर्वोपरि अखण्डार्थ तो इसी खण्ड में सिद्ध हो गया फिर इस के लिये "तत्त्वं ' पद के निरूपण की क्या आवश्यकता थी ? वस्तुतः बात यह है कि यहां इन्होंने स्थाणु पुरुष के समान अर्थात् जैसे स्थाणु में भ्रम से पुरुष की प्रतीति होती है और उस के मिट जाने पर एकमात्र स्थाणु ही शेष रह जाता है इसी प्रकार जगत् में नानाकार बुद्धि भ्रम से उत्पन्न हो रही है उसके मिटजाने के अनन्तर एकमात्र स्थाणुवत् ब्रह्म ही शेष रह जाता है अन्य कुछ नहीं, इस का नाम इनके मत में बाधसमानाधिकरण है, इसका मानना यहां इसलिये ठीक नहीं कि ["इदं विश्वम्"] =यह विश्व है, यह कह कर फिर यह कथन करना कि ["ब्रह्मैव"] =यह ब्रह्म ही है, यह कथन बाधसमानाधिकरण का बाधक और मुख्यसमानाधिकरण का साधक है, इसलिये इनके अर्थ किसी प्रकार भी ठीक नहीं हो सकते, सत्यार्थ वही हैं जिनमें ब्रह्म को सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्यत्वेन सर्वात्मभाव से कथन किया है।

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः

—:*:—

अथ तृतीयमुण्डके प्रथमःखण्डः प्रारभ्यते

——०❀०❀०❀०——

सं०—अब जीव, ईश्वर तथा प्रकृति के स्वरूपप्रतिपादन-पूर्वक परमात्मप्राप्ति के साधन कथन करते हैं:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाक-शीति ॥ १ ॥

पद०—द्वा । सुपर्णा । सयुजा । सखाया । समानं । वृक्षं । परिषस्वजाते । तयोः । अन्यः । पिप्पलं । स्वादु । अत्ति । अन-श्नन् । अन्यः । अभिचाकशीति ।

अर्थ

सयुजा=अनादिकाल से एक साथ रहने वाले
सखाया=परस्पर मैत्री वाले
द्वा, सुपर्णा ईश्वर और जीव-रूप दो पक्षी
समानं, वृक्षं=अनादित्वेन स्वसमान वृक्ष को
परिषस्वजाते=आश्रय किये हुए हैं
तयोः=उक्त दोनों में से
अन्य=ईश्वर से भिन्न जीव
पिप्पलं=सुख दुःखात्मक कर्म फल को
स्वादु, अत्ति=अच्छा समझ कर अनेक प्रकार से भोगता है
अन्यः=दूसरा परमात्मा
अनश्नन्=कर्मफल न भोगता हुआ
अभिचाकशीति=केवल साक्षी-रूप से देखता है।

भाष्य—इस मंत्र में जीव, ईश्वर को पक्षीरूप से इस कारण कथन किया गया है कि जिसप्रकार पक्षी के गतिकारक सुन्दर वर्ण होते हैं इसी प्रकार जीव, ईश्वर के गति हेतुत्वेन चेतनरूप वर्ण=पर हैं अर्थात् अपनी चित् सत्ता से दोनों गतिशील हैं, और जिस प्रकार पक्षी किसी न किसी एक वृक्ष को आश्रय करते हैं इसी प्रकार उक्त दोनों ने प्रकृतिरूप वृक्ष को आश्रय किया हुआ है, यह दोनों अनादि काल से उपास्य उपासक भाव तथा व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त हैं सखा इस अभिप्राय से कहे गये हैं कि जब जीव परमात्मा की मैत्रीभाव से उपासना करता है, तब उससे भिन्न अन्य उसका कोई सखा नहीं होता, जैसाकि ["त्वं वाहमस्मि भगवो देवते अहं वा त्वमसि"]=हे परमात्मन् ! तू मैं और मैं तू है, इत्यादि वाक्यों में परमात्मा का जीव को सखा होना वर्णन किया गया है, भेद यह है कि जीव कर्मफल का भोक्ता और ईश्वर साक्षीरूप से स्थिर है, यह मंत्र भेद का स्पष्ट रीति से प्रतिपादन करता है।

मायावादी इसके अर्थों में भी ऐसी फेरफार करते हैं कि किसी प्रकार भी भेद सिद्धि न हो जाय अर्थात् उक्त दोनों के अर्थ बुद्धि और जीव के करते हैं जो प्रकरण से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि यदि कर्मफल भोक्ता यहां बुद्धि कथन की जाती तो अग्रिम श्लोक में जीव को मुह्यमान कथन न किया जाता, परन्तु हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कर्मफल भोक्ता यहां जीव को कथन किया गया है और ईश्वर का साक्षीरूप से वर्णन है, इस प्रकार के प्रसिद्ध भेद का भी मायावादी अपने मायाजाल से अपलाप करते हैं तो समानाधिकरण के वाक्यों की तो कथा ही क्या, इस प्रकार मायावाद के मोह से इन्होंने अद्वैत की

सिद्धि की है वास्तव में इनके अद्वैत का उपनिषदों में गन्ध भी नहीं पाया जाता।

सं०--अब परमात्मज्ञान से जीव के मोह की निवृत्ति कथन करते हैं:—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। २।

पद०—समाने। वृक्षे। पुरुषः। निमग्नः। अनीशया। शोचति। मुह्यमानः। जुष्टं। यदा। पश्यति। अन्यं। ईशं। अस्य। महिमानं। इति। वीतशोकः।

अर्थ

समाने, वृक्षे=प्रकृतिरूप वृक्ष में
पुरुषः=भोक्ता जीवात्मा
निमग्नः=अज्ञान से निमग्न है
अनीशया=प्रकृति की अवर्णात्मक शक्ति से
मुह्यमानः=मोह को प्राप्त हुआ
शोचति=शोक करता है
यदा=जब
जुष्टं=योगी जनों से युक्त
ईशं=ईश्वर को
अन्यं=अपने से भिन्न देखता है
इति=और
अस्य=इसकी
महिमानं=संसाररूप महिम को
पश्यति=देखता है तब
वीतशोकः=शोक से रहित हो जाता है।

भाष्य—["सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति"] सां० १। ६१=सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का

नाम जो ["प्रकृति"] है उसके अवर्णात्मक तमो गुण के प्रभाव से जीव सदा मुह्यमान रहता है, इसके मोह की निवृत्ति एकमात्र ईश्वर ज्ञान से होती है अर्थात् जब यह शमदमादि साधनसम्पन्न होकर सर्वशक्तिमान् परमात्मा का आश्रय लेता है और सर्वत्र उसकी महिमा का अनुभव करता है तब यह शोक से रहित हो जाता है ।

सं०—अब उक्त अर्थ को विस्तार से वर्णन करते हैं:—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।। ३ ॥

पद०—यदा । पश्यः । पश्यते । रुक्मवर्णं । कर्त्तारं । ईशं । पुरुषं । ब्रह्मयोनिं । तदा । विद्वान् । पुण्यपापे । विधूय । निरञ्जनः । परमं । साम्यं । उपैति ।

अर्थ

यदा=जब
पश्यः=उपासक जीव
रुक्मवर्णं=स्वतः प्रकाश
कर्तारं=विश्व के कर्त्ता
ईशं=सर्वशक्तिसम्पन्न
ब्रह्मयोनिं=सर्वोपरि कारण
पुरुषं=परमात्मा को
पश्यते=देखता है
तदा=तब वह
विद्वान्=ब्रह्मवेत्ता पुरुष
पुण्यपापे=पुण्य और पाप को
विधूय=दूर करके
निरञ्जनः=अविद्यारूप क्लेश से रहित होकर
परमं, साम्यं=परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों की समता को
उपैति=प्राप्त होता है ।

भाष्य—जब यह जीवात्मा स्वतःप्रकाश, विश्वकर्ता आदि विशेषणों वाले ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है तब पुण्यपाप-मोहजाल से पृथक् होकर उसकी समता को प्राप्त होता है।

यहां समता को प्राप्त होना यह सिद्ध करता है कि जीव ब्रह्म वदापि नहीं बनता किन्तु तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्म के धर्मों को धारण करता है, यदि मायावादियों के सिद्धान्तानुसार जीव ब्रह्म की एकता उपनिषदों में होती तो इस श्लोक में ["साम्यमुपैति"]=मुक्ति अवस्था में जीव ब्रह्म के सदृश हो जाता है, वह कथन न किया जाता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां जीव ब्रह्म की एकता का कथन करना साहसमात्र है।

सं०—अब जिस आत्मतत्व के जानने से जीव ब्रह्म की समता को प्राप्त होता है उसका कथन करते हैं—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्
विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड
आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्म-
विदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

पद०—प्राणः। हि। एषः। यः। सर्वभूतैः। विभाति। विजानन्। विद्वान्। भवते। न। अतिवादी। आत्मक्रीडः। आत्मरतिः। क्रियावान्। एषः। ब्रह्मविदां। वरिष्ठः।

अर्थ

हि=निश्चय करके
एषः=यह परमात्मा
प्राणः=प्राणरूप है
यः=जो
सर्वभूतैः=सब भूतों से
विभाति=प्रकट है

विजानन्=उसको जानता हुआ
विद्वान्=विद्वान् पुरुष
अतिवादी=मिथ्या बोलने वाला
न, भवते=नहीं होता
एषः=ऐसा पुरुष
आत्मक्रीडः=आत्मा में क्रीडा करने वाला
आत्मरतिः=आत्मा में प्रीति वाला
क्रियावान्=आत्मविषयक अनुष्ठान वाला होता है और
ब्रह्मविदां=ब्रह्मवेत्ताओं में
वरिष्ठः=श्रेष्ठ कहा जाता है।

भाष्य—सबको प्राणन शक्ति देने के कारण परमात्मा का नाम ["प्राण"] है, उसकी विविध रचना से सब भूत उसके अस्तित्व की साक्षी देते हैं इसलिये वह सब भूतों से प्रकट कहा गया है, उक्त आत्मतत्व के जानने वाला विद्वान्=विवेकी पुरुष मिथ्यावादी नहीं होता और नाही व्यर्थभाषी होता है किन्तु परमात्मा ही उसके विनोद का स्थान होता है और वही उसकी रति तथा अनुष्ठान का स्थान होता है, उक्त गुणों वाला पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ कहा जाता है।

सं०—जिस आत्मतत्व के ज्ञान से विद्वान् ब्रह्म की समता को प्राप्त होता है अब उसकी प्राप्ति के साधन कथन करते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।५।

पद०—सत्येन। लभ्यः। तपसा। हि। एषः। आत्मा। सम्यक्। ज्ञानेन। ब्रह्मचर्य्येण। नित्यं। अन्तःशरीरे। ज्योतिर्मयः। हि। शुभ्र। यं। पश्यन्ति। यतयः। क्षीणदोषाः।

अर्थ

अन्तःशरीरे=शरीर के भीतर
ज्योतिर्मयः=प्रकाश स्वरूप
शुभ्रः=शुद्ध
एषः, आत्मा=यह आत्मा
हि=निश्चय करके
सत्येन=सत्य से
सम्यक, ज्ञानेन=यथार्थ ज्ञान से
ब्रह्मचर्य्येण, तपसा=ब्रह्मचर्य्य रूप तप से
नित्यं=सर्वदा
लभ्यः=प्राप्त होता है
यं=उसको
हि=निश्चय करके
क्षीणदोषाः, यतयः=जिन के अविद्यादि दोष क्षीण हो गये हैं ऐसे साधन सम्पन्न यति पुरुष
पश्यन्ति=देखते हैं।

भाष्य—सत्य से तात्पर्य्य यहां "सत्यभाषण" और सदसद्वस्तु विवेक का है तथा ज्ञान के अर्थ परमात्मविषयक अनुभव और ब्रह्मचर्य्य से तात्पर्य शमदमादि षट्सम्पत्ति का है, यह साधन अन्य वैराग्यादि साधनों के उपलक्षण हैं, उक्त साधनों से वह ज्योतिर्मय ब्रह्म क्षीणदोष वाले पुरुषों को अपने भीतर ही लाभ हो जाता है कहीं देशान्तर में उसके लाभ के लिये जाने की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब सत्य का विजय कथन करते हैं:—

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।६।

पद०—सत्यं । एव । जयते । न । अनृतं सत्येन । पन्थाः । विततः । देवयानः । येन । आक्रमन्ति । ऋषयः । हि । आप्तकामाः । यत्र । तत् । सत्यस्य । परमं । निधानं ।

अर्थ

सत्यं, एव=सत्य ही की
जयते=विजय होती है
न. अनृतं=झूठ की नहीं
सत्येन=सत्य ही से
देवयान:; पन्था:=ज्ञान रूपी मार्ग
विततः=विस्तृत होता है
येन=जिस मार्ग से
आप्तकामा:=आप्त कामनाओंवाले
ऋषय:=ऋषि लोग
हि=निश्चय करके
आक्रमान्त=आक्रमण करते हैं
यत्र=जहां पर
तत्=वह
सत्यस्य=सत्य का
परमं, निधानं=उत्कृष्ट स्थान है

भाष्य—पूर्व श्लोक में जो "सत्य" को ब्रह्मप्राप्ति का साधन कथन किया था, इस श्लोक में उसका माहात्म्य वर्णन किया गया है कि सत्य ही की जय होती है अनृत की नहीं, और ज्ञान का मार्ग सत्य ही से सर्वोपरि गिना जाता है, जिस स्थान विशेष में मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि लोग अपने ज्ञान मार्ग द्वारा पहुँचते हैं वह सत्य का ही सर्वोपरि स्थान है अर्थात् सद्रूपब्रह्म को सत्यवक्ता ऋषि लोग ही ज्ञान द्वारा प्राप्त होते हैं और वह प्राप्ति पूर्वस्थान को छोड़कर स्थानान्तर की नहीं किन्तु ज्ञान द्वारा ही अपने में व्यापक ब्रह्म की प्राप्ति है।

सं०—अब उक्त सद्रूपब्रह्म के स्वरूप का कथन करते हैं:—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ ७॥

पद०—बृहत्। च। तत। दिव्यं। अचिन्त्यरूपं। सूक्ष्मात्।

। च । तत् । सूक्ष्मतरं । विभाति । दूरात् । सुदूरे । तत् । इह । अन्तिके । च । पश्यत्सु । इह । एव । निहितं । गुहायां ।

अर्थ

तत्=वह ब्रह्म
वृहत्=बड़ा है
च=और
दिव्यं=प्रकाश स्वरूप है
अचिन्त्यरूपं=उस का स्वरूप चिन्तन नहीं किया जा सकता
तत्=वह
सूक्ष्मात्=सूक्ष्म से
च=भी
सूक्ष्मतरं=अतिसूक्ष्म
विभाति=दीप्तिमान् है
तत्=वह
दूरात्=दूरसे भी
सुदूरे=दूर
च=और
इह, अन्तिके=जीव के अन्तःकरण में समीप है
पश्यत्सु=ज्ञान दृष्टि से देखने वालों के लिये
इह, एव=यहां ही
गुहायां=अन्तःकरण रूपी गुहा में
निहितं=विराजमान है।

भाष्य—ब्रह्म सर्व व्यापक होने से ["वृहत"] स्वप्रकाशक होने से ["दिव्यस्वरूप"] इन्द्रियागोचर होने से ["अचिन्त्य-रूप"] और कूटस्थ नित्य होने से सूक्ष्म से भी सूक्ष्म प्रकृति से अतिसूक्ष्म है, अज्ञानियों के लिये अति दूर और ज्ञानियों के लिये अतिसमीप है, इस श्लोक में ब्रह्म की सर्वव्यापकता और अचिन्त्यरूपता वर्णन की गई है।

मायावादी ["विभाति"] के यह अर्थ करते हैं कि वही ब्रह्म सूर्य्य चन्द्रमादिरूप से प्रकाश कर रहा है, यदि यह अर्थ उक्त पद के होते तो उसको सूक्ष्म से सूक्ष्म और अचिन्त्यरूप कथन न किया जाता, क्योंकि सूर्य्य चन्द्रमादिकों का स्वरूप

सूक्ष्म नहीं और नाहीं अचिन्त्यरूप कहा जा सकता है, इस लिये उक्त शब्द के अर्थ दीप्तिमान् करना हो संगत हैं सूर्य्यादि स्थूल पदार्थों के करने ठीक नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्म को इन्द्रियागोचर कथन करते हैं:—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। ८।

पद०—न। चक्षुषा। गृह्यते। न। अपि। वाचा। न। अन्यैः। देवैः। तपसा। कर्मणा। वा। ज्ञानप्रसादेन। विशुद्धसत्वः। ततः। तु। तं। पश्यते। निष्कलं। ध्यायमानः।

अर्थ

चक्षुषा=वह ब्रह्म चक्षुओं से न, गृह्यते=ग्रहण नहीं किया जा सकता
न, अपि, वाचा=न वाणी मे ग्रहण किया जा सकता है
न, अन्यैः, देवैः=न और इन्द्रियों से
तपसा=न तितिक्षा से
कर्मणा, वा=और न कर्मों से किन्तु
ज्ञानप्रसातेन=ज्ञान के महत्व से
विशुद्धसत्वः=अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा
ततः=वह
ध्यायमानः=ध्यान करने वाला पुरुष
तं, निष्कलं=उस निरवयव परमात्मा को
पश्यते=देखता है।

भाष्य—"तु" शब्द दूसरों से व्यावृत्ति के लिये आया है,

निराकार होने के कारण कोई पुरुष परमात्मा को आंख से नहीं देख सकता और नाहीं वाणी द्वारा इदन्तारूप से वर्णन कर सकता है और न अन्य इन्द्रियों से, अधिक क्या तप तथा ज्ञानादि किसी साधन द्वारा भी उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता, साक्षात्कार केवल ज्ञानप्रसाद से होता है जिसके अर्थ यहां अन्तःकरण की शुद्धि के हैं अर्थात् विशुद्धसत्व पुरुष को योगज सामर्थ्य से उसका साक्षात्कार होता है अन्यथा नहीं।

सं०—अब जीवात्मा के स्वरूप कथन पूर्वक मुक्ति का वर्णन करते हैं:—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्
प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं
सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे
विभवत्येष आत्मा। ६।

पद०—एषः। अणुः आत्मा। चेतसा। वेदितव्यः। यस्मिन्। प्राणः। पञ्चधा संविवेश। प्राणैः। चित्तं सर्वं। ओतं। प्रजानां। यस्मिन्। विशुद्धे। विभवति। एषः। आत्मा।

अर्थ

एषः=उक्त परमात्मा का ध्यान करने वाला
आत्मा=जीवात्मा
अणुः=अणु है
चेतसा, वेदितव्यः=इस बात को जिज्ञासु अपने अनुभव में जानता है
यस्मिन्=जिस
आत्मा=आत्मा में
पञ्चधा=पांच प्रकार का

प्राणः=प्राण
संविवेश=स्थिर है वह आत्मा अणु है
यस्मिन्=जिस
विशुद्धे=शुद्ध परमात्मा में
एषः=यह जीवात्मा
विभवति=मुक्ति अवस्था में विराजमान होता है उसीमें
सर्वं, प्रजानां=सम्पूर्ण प्रजाओं का
प्राणैःचित्तं=इन्द्रियों के साथ चित्त
ओतं=ओतप्रोत है।

भाष्य—इस श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप कथन करके उपास्य उपासकभाव से दोनों का भेद स्पष्ट वर्णन किया गया है कि जिसमें प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान यह पांच प्रकार के प्राण हैं वह जीवात्मा स्वरूप से अणु है वही मुक्ति अवस्था में शुद्ध ब्रह्म में विराजमान होता है और शुद्ध ब्रह्म वह है जिसमें सब प्रजाओं के चित्त तथा इन्द्रिय ओतप्रोत हैं।

मायावादी अणु के अर्थ यहां सूक्ष्म के करते हैं कि परमात्मा प्रकृत्यादि सम्पूर्ण पदार्थों से अतिसूक्ष्म है और उसमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, यह पांच प्रकार का वायु जीवरूप होने पर प्रवेश करता है और फिर वही जीवात्मा मुक्त होने पर विभु होजाता है, यदि इस श्लोक के यह अर्थ होते तो प्रजा और प्रजा के चित्तों का परमात्मा से भेद कथन न किया जाता और नाही अग्रिम श्लोक में मुक्त पुरुष आत्मज्ञ का परमात्मा से भेद वर्णन किया जाता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह श्लोक जीवात्मा और परमात्मा के भेद को वर्णन करता है अभेद को नहीं।

सं०—अब मुक्त जीव का यथेच्छाचारी होना कथन करते हैं:—

यंयं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तंतं लोकं जयते तांश्चकामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चये-द्भूतिकामः । १० ।

पद०—यंयं । लोकं । मनसा । संविभाति । विशुद्धसत्त्वः । कामयते । यान् । च । कामान् । तंतं । लोकं । जयते तान । च । कामान् । तस्मात् । आत्मज्ञं । हि । अर्चयेत् । भूतिकामः ।

अर्थ

विशुद्धसत्त्वः=निर्मल अन्तः करण वाला मुक्त पुरुष
यंयं, लोकं=जिस २ अवस्था का
मनसा=आत्मभूत सामर्थ्य से
संविभाति=चिन्तन करता है
च=और
यान्, कामान्,=जिन २ कामों की
कामयते=कामना करता है
तंतं, लोकं=उन २ अवस्थाओं को
च=और
तान्,कामान्=उन २ कामनाओं को
जयते=प्राप्त होता है
तस्मात्=इसलिये
हि=निश्चय करके
भूतिकामः=मुक्तिरूपविभूति चाहने वाला
आत्मज्ञं=परमात्मा को जानने मुक्त पुरुष की
अर्चयेत्=गुरुभाव से पूजा करे।

भाष्य—मुक्त पुरुष अपने आत्मभूत सामर्थ्य से जिस २ अवस्था को चाहता है उसी को प्राप्त कर लेता है और जिन २ कामनाओं को चाहता है उन २ को प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त

जीव जब पुनः संसार में गति की इच्छा करता है तब वह अपनी कामनाओं के अनुसार जन्म लेता है और जैसी अवस्थाओं को चाहता है उन्हीं अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

यह श्लोक मुक्त पुरुष की पुनरावृत्तिरूप कामनाओं का वर्णन करता है, इसीलिये कहा गया है कि विभूति चाहने वाले लोगों को ऐसे पुरुष का पूजन करना चाहिये

मायावादियों के मत में मुक्ति में न कोई सामर्थ्य होता है न कोई ज्ञान होता है फिर उक्त विध कामनाओं की सम्भावना ही नहीं हो सकती, और नाही निर्विशेष मुक्तिवादियों के मत में मुक्त का पूजन हो सकता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह श्लोक वैदिक मुक्ति का वर्णन करता है जिस में जीवात्मा के आध्यात्मिकसामर्थ्यरूप ज्ञानादि सब भाव यथावस्थित बने रहते हैं और उन से फिर वह उत्तमोत्तम अवस्थायें तथा कामनाओं को प्राप्त होता है, इसलिये जिज्ञासु को उचित है कि उत्तमोत्तम जन्म वाले मुक्त पुरुषों का गुरुभाव से पूजन करे।

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः

—:o:—:o—

अथ तृतीयमुण्डके द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब परमात्मज्ञान से जीवात्मा के जन्म का अतिक्रमण कथन करते हैं:—

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः । १ ।

पद०—सः। वेद। एतत्। परमं। ब्रह्म। धाम। यत्र। विश्वं। निहितं। भाति। शुभ्रं। उपासते। पुरुषं। ये। हि। अकामाः। ते। शुक्रं। एतत्। अतिवर्तन्ति। धीराः।

अर्थ

सः=वह मुमुक्षु
एतत्, परमं, धाम, ब्रह्म=इस सर्वोपरि सब के आश्रयभूत ब्रह्म को
वेद=जानता है
यत्र=जिस ब्रह्म में
विश्वं=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड
निहितं=स्थिर है और जो
शुभ्रं=शुद्ध
भाति=प्रकाशस्वरूप है
हि=निश्चय करके
ये, अकामाः=जो निष्कामी
पुरुषं=उस पूर्ण परमात्मा की
उपासते=उपासना करते हैं
ते, धीराः=वे धीर पुरुष
एतत्, शुक्रं=इस जन्म मरण को
अतिवर्तन्ति=उल्लङ्घन कर जाते हैं।

भाष्य—जो जिज्ञासु जन उस ब्रह्म की उपासना करते हैं जिस में यह सम्पूर्ण लोकलोकान्तर स्थिर हैं, ऐसे ब्रह्म की उपासना करने वाले पुनः २ जन्ममरण में नहीं आते, या यों कहो कि उक्त मुमुक्षुजन ["शुक्रं, अतिवर्तन्ति"] =सन्तानोत्पत्ति के कारण वीर्य्य को उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् ऊर्ध्वरेतस होने के कारण इस संसृतिचक्र में नहीं आते।

स्मरण रहे कि शुद्ध परमात्मा की उपासना से जो अपूर्व सामर्थ्य लाभ होता है उसी का नाम ["मुक्ति"] है।

यदि मायावादियों के मतानुसार मुक्ति के अर्थ ब्रह्म बन जाने के होते अथवा बौद्धों के समान निर्वाण पद के होते तो इस श्लोक में जितेन्द्रिय होने के भावों का कथन न किया जाता

किन्तु सब सामर्थ्यों का लय कथन किया जाता परन्तु ऐसा नहीं है, इससे सिद्ध है कि औपनिषद मुक्ति शून्यभाव प्रधान नहीं किन्तु ऐश्वर्यभाव प्रधान है।

सं०-अब सकाम कर्मों की लयता कथन करते हैं:—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभि-र्जायते तत्रतत्र। पर्याप्तकामस्य कृतात्म-नस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।२।

पद०-कामान्। यः। कामयते। मन्यमानः। सः। कामभिः जायते। तत्रतत्र। पर्याप्तकामस्य। कृतात्मनः। तु। इह एव। सर्वे प्रविलीयन्ति। कामाः।

अर्थ

यः=जो पुरुष
कामान्=दृष्टादृष्ट विषयक सकाम कर्मों को
मन्यमानः=श्रेष्ठ मानता हुआ
कामयते=कामना करता है
सः=वह
कामभिः=धर्माधर्मरूप कामनाओं से उनके अनुसार
तत्रतत्र=जहां तहां
जायते=उत्पन्न होता है
तु=और
पर्याप्तकामस्य=जिसकी सब कामनायें पूर्ण हो गई हैं
कृतात्मनः=जिसने अपने मन को वशीभूत कर लिया है, ऐसे पुरुष की
सर्वे कामाः=सब कामनायें
इह, एव=इस जन्म में ही
प्रविलीयन्ति=नाश को प्राप्त हो जाती हैं।

भाष्य—जो पुरुष सकाम कर्मों के वशीभूत रहता है वह अपनी कामनाओं के अनुसार जहां तहां उत्पन्न होता है और

निष्कामी पुरुष जिसकी सब कामनायें पूर्ण हो गई हैं वह निष्काम कर्मों के प्रभाव से वशीकृत मन वाला हो जाता है और ऐसा होने से उसकी सब वासनायें इसी जन्म में लय हो जाती हैं, इसलिये वह मुक्तिको लाभ करता है पुनर्जन्म को नहीं ।

सं—अब जिस आत्मतत्व से मुमुक्षु को मोक्ष पद का लाभ होता है उसकी प्राप्ति का उपाय कथन करते हैं:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूँ स्वाम् ।३।

पद०—न । अयं । आत्मा । प्रवचनेन । लभ्यः । न । मेधया । न । बहुना । श्रुतेन । यं । एव । एषः । वृणुते । तेन । लभ्यः । तस्य । एषः । आत्मा । वृणुते । तनूं । स्वां ।

अर्थ

अयं, आत्मा=यह आत्मा
प्रवचनेन=केवल वेदाध्ययन से
न, लभ्यः=नहीं मिलता
न, मेधया=न ग्रन्थों की धारण-शक्ति रूप मेधा=बुद्धि से
न, बहुना, श्रुतेन=न बहुत शास्त्रों के सुनने से मिलता है किन्तु
यं, एव=जिस मुमुक्षु पुरुष को ही
एषः=परमात्मा
वृणुते=योग्य समझता है
तेन=उसी को
लभ्यः=मिलता है और
तस्य=उसी को
एषः, आत्मा=यह आत्मा
स्वां, तनूं=अपने आनन्द स्वरूप को
वृणुते=दर्शाता है ।

भाष्य—परमात्मा वेदाध्ययन=वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन से प्राप्त नहीं होता, न सूक्ष्म बुद्धिसे और नाहीं बहुत सुनने से प्राप्त होता है किन्तु जो पुरुष शमदमादि साधनों से अपने आपको परमात्मा के ज्ञान का पात्र बनाते हैं उन्हीं को उसके आनन्द का लाभ होता है अन्य को नहीं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जो पुरुष परमात्मा को "वह प्रत्यक्तत्रह्म मैं हूं" इस दृष्टि से देखता है उसी को उसका लाभ होता है अर्थात् जो पुरुष "तत्त्वमस्यादि" वाक्यों द्वारा अपने आपको ब्रह्म समझ लेता है उसी को परमात्मप्राप्ति होती है अन्य को नहीं, यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि यहां अभेद की सिद्धि करने वाला कोई शब्द नहीं और नाहीं "आत्मा" शब्द यहां जीवात्मा का वाचक है किन्तु परमात्मा का वाचक है, इसलिये यही अर्थ ठीक है कि जिसको वह ज्ञान का अधिकारी समझता है उसी को उसके स्वरूप की उपलब्धि होती है अन्य को नहीं।

सं०—अब उस उपलब्धि के साधन कथन करते हैं—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादा-
त्तपसो वाप्यलिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते
यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा
विशते ब्रह्मधाम ।४।

पद०—न। अयं। आत्मा। बलहीनेन। लभ्यः। न। च। प्रमादात्। तपसः। वा अपि। अलिङ्गात्। एतैः। उपायैः। यतते। यः। तु। विद्वान्। तस्य। एषः। आत्मा। विशते। ब्रह्म। धाम।

अर्थ

अयं, आत्मा=उक्त परमात्मा
बलहीनेन=आत्मिक बल रहित पुरुष को
न, लभ्यः=नहीं प्राप्त होता
च=और
प्रमादात्=विषयाशक्ति रूप प्रमाद से
वा=अथवा
अलिङ्गात् तपसः, अपि=त्याग रहित तप से भी
न, लभ्यः=नहीं प्राप्त होता
एतैः, उपायैः= आत्मिकबल, प्रमादरहित चित्त तथा त्यागसहित तप इत्यादि उपायों से
यः, विद्वान्=जो विद्वान् पुरुष
यतते=यत्न करता है
तस्य=उसको
एषः, आत्मा=यह परमात्मा
ब्रह्म, धाम, विशते=ब्रह्मधाम=ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश करता है

भाष्य – जो पुरुष आत्मिकबल से अपनी बाह्य प्रवृत्तियां को रोक सकता है, जो अप्रमादी=विषयासक्त नहीं और जो त्यागी होकर तप करता है अर्थात् निष्कामकर्मी है उसी को परमात्मतत्व का लाभ होता है अन्य को नहीं ।

यदि मायावादियों के कथनानुसार आत्मत्वेन अनुसन्धान से ही परमात्मतत्व का लाभ हो जाता तो उक्त साधनों के कथन करने की कोई आवश्यकता न थी, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इनके जीवब्रह्मात्मैक्य का यहां गन्धमात्र भी नहीं ।

सं०—अब उक्त आत्मतत्व की प्राप्ति का फल कथन करते हैं—

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः । ते सर्वगं सर्वतः

प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्व-
मेवाविशन्ति । ५ ।

पद०—सम्प्राप्य । एनं । ऋषयः । ज्ञानतृप्ताः । कृतात्मानः । वीतरागाः प्रशान्ताः । ते । सर्वगं । सर्वतः । प्राप्य । धीराः । युक्तात्मानः । सर्वं । एव । आविशन्ति ।

अर्थ

एनं=उक्त परमात्मा को
ऋषय=ऋषि लोग
संप्राप्य=प्राप्त होकर
ज्ञानतृप्ताः=ज्ञान से तृप्त हुए
कृतात्मानः=वशीकृत मन वाले
वीतरागाः=रागादि दोषों से विरक्त
प्रशान्ताः=शान्त चित्त वाले हो जाते हैं
ते धीराः=वे धीर
युक्तात्मानः=समाहित चित्त होकर
सर्वगं=सर्वगत ब्रह्म को
सर्वतः=सब ओर से
प्राप्य=प्राप्त हुए
सर्वं, एव=सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा में ही
आविशन्ति=निवास करते हैं

भाष्य—मंत्रद्रष्टा ऋषि लोग जो ज्ञानरूप भोजन से तृप्त हैं वह उक्त आत्मतत्व को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाते हैं और परमात्मतत्व को जानकर ज्ञान द्वारा उसमें प्रवेश करते हैं, या यों कहो कि परमात्मप्राप्तिरूप तृप्ति से अपने आपको कृतार्थ मानते हुए रागादि दोषों से रहित होकर शान्तचित्त हो जाते हैं अर्थात् फिर सांसारिक विषय उनके चित्त को नहीं खींच सकते।

मायावादी ["सर्वमेवाविशन्ति"] के यह अर्थ करते हैं कि जिस प्रकार घटरूप उपाधि के नष्ट हो जाने से घटाकाश महा-

काश से अभिन्न हो जाता है इसी प्रकार अविद्याकृत जीव रूप उपाधि के छिन्न-भिन्न होने पर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है, यह अर्थ इस वाक्य के कदापि नहीं, क्योंकि उक्त श्लोकों में ब्रह्म में प्रवेश के अर्थ उस के स्वरूप को लाभ करने के हैं, जैसाकि उक्त तृतीय श्लोक में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि अधिकारी पुरुष के लिये वह अपने स्वरूप का प्रकाश कर देता है अर्थात् उस को ब्रह्मस्वरूप विषयक सन्देह नहीं रहता, यदि घटाकाश तथा महाकाश के समान यहां जीवब्रह्म का अभेद विवक्षित होता तो उक्त ब्रह्म की प्राप्ति के साधनों में अभेद के साधन अवश्य कथन किये जाते परन्तु नहीं किये गये, इससे सिद्ध है कि यहां जीव ब्रह्म की एकता के अर्थ करना उपनिषत्कार के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं।

सं०--अब मुक्ति अवस्था की सीमा कथन करते हैं:-

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगा-द्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्त-काले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। ६।

पद०--वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। संन्यासयोगात्। यतयः। शुद्धसत्त्वाः। ते। ब्रह्मलोकेषु। परान्तकाले। परामृताः। परिमुच्यन्ति। सर्वे।

अर्थ

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः= वेदोक्त सिद्धान्तों द्वारा संशय विपर्य्यय से रहित
यतयः=यति लोग जिनका

संन्यासयोगात्=कर्म योग और ज्ञान योग से
शुद्धसत्त्वाः=अन्तःकरण शुद्ध हो गया है

ते, सर्वे=वह सब
परान्तकाले=परान्तकाल तक
ब्रह्मलोकेषु=मुक्ति अवस्था में
परामृताः=अमृत जीवन वाले
हुए २
परिमुच्यन्ति=पुनः संसार में आ जाते हैं।

भाष्य—वह महर्षि जिनको संशय विपर्य्यय रहित ज्ञान हो जाता है अर्थात् जिनको उस आत्मतत्व का निश्चय हो गया है वह मुक्ति अवस्था में परान्तकाल=नियत समय तक रहकर फिर संसार में आ जाते हैं [ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोकः"]=ब्रह्म ही लोक है, इस प्रकार "ब्रह्मलोक के अर्थ ब्रह्मारूपावस्था के हैं, या यों कहो कि जिस अवस्था में ब्रह्म ही आश्रय हो जाता है उसका नाम ["ब्रह्मलोक"] है. उस अवस्थाविशेष को प्राप्त हुए पुरुष परान्तकाल तक उस आनन्द का अनुभव करके लौट आते हैं।

मायावादियों के मत में भी ब्रह्मलोक के अर्थ स्थानविशेष के नहीं किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के हैं, वह लोग इसके यह अर्थ करते हैं कि "उपाधि का परित्याग करके मुक्तपुरुष ब्रह्मरूप हो जाते हैं" यदि ["परामृताः परिमुच्यन्ति"] के यह अर्थ होते तो "परान्तकाल" कथन करने का क्या प्रयोजन था ? यह लोग "परान्तकाल" के अर्थ मृत्यु अवस्था=मरण समय के करते हैं, यह अर्थ उपनिषत्कार के आशय से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि कैवल्योपनिषद् में मुक्ति से पुनरावृत्ति के लिये "परान्तकाल" का प्रयोग कियागया है, और बात वह है कि "परान्तकाले" इस सप्तमी विभक्ति का प्रयोग अधिकरण वा निमित्त में है जिसके अर्थ ब्रह्म में परान्तकाल तक रहने के ही लाभ होसकते हैं अन्य नहीं।

सं०—अब मुक्ति अवस्था में लिङ्गशरीर का अभाव कथन करते हैं:—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति। ७।

पद०—गताः। कलाः। पञ्चदश। प्रतिष्ठाः। देवाः। च। सर्वे। प्रतिदेवतासु। कर्माणि। विज्ञानमयः। च। आत्मा। परे। अव्यये। सर्वे। एकीभवन्ति।

अर्थ

पञ्चदश, कलाः=प्राणादि पन्द्रह कलायें
प्रतिष्ठाः,गताः=मुक्ति अवस्था में अपने कारण में लय होजाती हैं
च=और
सर्वे, देवाः=चक्षुरादि सब इन्द्रिय
प्रतिदेवतासु=अपने २ कारण में लय होजाते हैं
कर्माणि=कर्मेन्द्रिय
च=और
विज्ञानमयः, आत्मा=विज्ञानमय आत्मा बुद्धि यह
सर्वे=सब
परे, अव्यये=परमात्मा में
एकीभवन्ति=लय होजाते हैं।

भाष्य—प्राणादि १५ कलायें जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में कर आये हैं, और बुद्धि तथा मन मिलाकर इन १७ कलाओं=तत्वों वाला लिङ्गशरीर मुक्ति अवस्था में नहीं रहता, अव्यय परमात्मा के साथ इसकी एकता होजाती है अर्थात् यह लिङ्गशरीर अपने कारण में लय होकर एकमात्र परमात्मा के आश्रित रहता है, जैसाकि ["न मृत्युरासीदमृतं न

तर्हि"] ऋग्० ८। ७। १७। २ इत्यादि मंत्रों में कथन दिया है कि प्रलय अवस्था में परमात्मा एकमात्र अपने स्वसामर्थ्य के साथ विराजमान होता है, सामर्थ्य से तात्पर्य्य यहां प्रकृति और जीव का है और इसी अभिप्राय से उक्त मंत्र में ["स्वधयातदेकं' यह वाक्य पढ़ा है जिसके अर्थ यह हैं कि उस समय अपने में धारण की हुई सामर्थ्य के साथ परमात्मा एक होता है, वैदिक मत में इस प्रकार का अद्वैतवाद है जिसको सब वैदिक शास्त्र और वैदिकाचार्य्य मानते हैं।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि पञ्चदशकला ब्रह्म में लय होजाती हैं अर्थात् ब्रह्मरूप होजाती हैं और इन कलाओं में इन के मत में पांच भूत भी सम्मिलित हैं, तो क्या भूत भी ब्रह्मरूप होजाते हैं ? यदि ब्रह्मविवर्त्त के अभिप्राय से ब्रह्मरूप कहें तो ब्रह्म अज्ञानी हुआ, यदि परिणाम के अभिप्राय से कहें तो वह परिणामी हुआ, इस प्रकार समालोचना करने से जड़ चेतन की एकता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती इससे स्पष्ट है कि अपने में धारण की हुई उक्त सामर्थ्य के साथ ही परमात्मा एक होता है अन्य प्रकार से नहीं।

सं०—अब उक्त एकीभाव को नदी समुद्र के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं:—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्वि- मुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।८।

—यथा। नद्यः। स्यन्दमानाः। समुद्रे। अस्तं। गच्छन्ति।

नामरूपे । विहाय । तथा । विद्वान् । नामरूपात् । विमुक्त । परात् । परं । पुरुषं । उपैति दिव्यं ।

अर्थ

यथा = जिस प्रकार
नद्यः = नदियें
स्यन्दमानाः = बहती हुईं
समुद्रे = समुद्र में
नामरूपे = नाम और रूप को
विहाय = छोड़कर
अस्तं, गच्छन्ति = लयता को प्राप्त हो जाती हैं
तथा = इसी प्रकार
विद्वान् = मुमुक्षु पुरुष
नामरूपात् = नाम और रूप से
विमुक्तः = रहित हुआ
परात्, परं = पर = अव्याकृत प्रकृति से परे जो ब्रह्म है उस
दिव्यं = प्रकाशस्वरूप
पुरुषं = परमात्मा को
उपैति = प्राप्त होता है ।

भाष्य—उसी उपरोक्त विषय को इस श्लोक में स्फुट किया गया है अर्थात् जिस प्रकार नदियां अपने नामरूप को धारण करके बहती हुईं समुद्र में जाकर लीन हो जाती हैं और वहां अपने नामरूप को छोड़ कर समुद्र ही कहाता है इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष नामरूप से रहित हुआ उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है ।

यह दृष्टान्त मुक्ति अवस्था में जीव के नाम और रूप छूट-जाने के लिये दिया गया है परस्पर आत्मैक्य के अभिप्राय से नहीं क्योंकि यदि इस अभिप्राय से होता तो ["पुरुषमुपैति-दिव्यम्"] = मुक्त पुरुष उस दिव्यस्वरूप को प्राप्त होता है, यह कथन न किया जाता किन्तु यह कथन किया जाता कि नदियों के समान उस परमपुरुष परमात्मा में जीव लय हो जाता है परन्तु ऐसा नहीं कहा गया, इससे सिद्ध है कि लिङ्ग-

शरीररूपी रूप और यज्ञदत्त, देवदत्तादि पूर्व नामों को छोड़ कर जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ब्रह्म नहीं बनता।

सं०—अब उक्त ब्रह्मभाव का कथन करते हैं:—

स यो हवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। ९।

पद०—सः। यः। हवै। तत्। परमं। ब्रह्म। वेद। ब्रह्म। एव। भवति। न। अस्य। अब्रह्मवित्। कुले। भवति। तरति। शोकं तरति। पाप्मानं। गुहाग्रन्थिभ्यः। विमुक्तः। अमृतः। भवति।

अर्थ

हवै=निश्चय करके
य:=जो
तत्=उस
परमं, ब्रह्म=सर्वोपरि ब्रह्म को
वेद=जानता है
स=वह
ब्रह्म, एव=ब्रह्म ही
भवति=हो जाता है,
अस्य, कुले=इसके कुल में
अब्रह्मवित्=ब्रह्म का न जानने वाला
न, भवति=नहीं होता और वह
शोकं, तरति=शोक को तर जाता है
पाप्मानं, तरति=पापरूप मल को तर जाता है और
गुहाग्रन्थिभ्यः=अन्तःकरण की आविद्यक ग्रन्थियों से
विमुक्तः=मुक्त होकर-
अमृतः, भवति=अमृत हो जाता है।

भाष्य—जो पुरुष उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् वह ब्रह्म के धर्मों को धारण करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है जैसा कि ["परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"] छा० ८। ३। ४ और ["य आत्मा अपहतपाप्मा"] इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि "परंज्योतिः" को प्राप्त होकर जीव अपने शुद्ध स्वरूप से विराजमान होता और वह परमात्मा के तुल्य अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है, इसी भाव को ["ब्राह्मेण जैमिनि०"] ब्र० सू० ४। ४। ५ इत्यादि सूत्रों में महर्षि व्यास ने वर्णन किया है कि जीव मुक्ति अवस्था में ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, और जो यह कथन किया है कि इस के कुल में फिर कोई ["अब्रह्मवित्"] =ब्रह्मज्ञान रहित पुरुष उत्पन्न नहीं होता, यह कथन और भी इस भाव को स्पष्ट करता है कि नदी समुद्रादि के दृष्टान्त से यहां ब्रह्मभाव ही अभिप्रेत है ब्रह्म बनना नहीं, यदि ब्रह्म बनना अभिप्रेत होता तो यह कदापि कथन न किया जाता कि फिर उसके कुल में कोई ब्रह्मज्ञान रहित उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म बनने के अनन्तर फिर उसका कोई कुल नहीं हो सकता, यदि उसका कुल माना जाय तो अध्यास निवृत्त नहीं हुआ और अध्यास बना रहा तो ब्रह्म बनना कैसे ? फिर ['ब्रह्मैवभवति"] के महत्व से उसके कुल में ऐसा महत्व कैसे हो सकता है कि कोई भी उसके कुल में अब्रह्मवित् न हो, वैदिकब्रह्मभावानुसार तो उक्त श्लोक के अर्थों में यह महत्व है कि ['मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद"] इत्यादि वाक्य प्रतिपादित माता, पिता तथा आचार्य्य से सुशिक्षित पुरुष ही ब्रह्म को जान सकता है अन्य नहीं, इस प्रकार उसके कुल में ब्रह्मवेत्ता होने की सङ्गति लग सकती है पर ब्रह्म बनने

वालों के मत में ऐसा महत्व नहीं कि जिस से कोई अब्रह्मवेत्ता उनके कुल में उत्पन्न न हो, एवं पूर्वोत्तर विचार करने से यहां ["ब्रह्मैवभवति"] के अर्थ तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त होने के हैं ब्रह्म बनने के नहीं।

सं०—अब इसी भाव को आगे स्फुट करते हैं:—

तदेतदृचाभ्युक्तं क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्म-निष्ठाः। स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्त-स्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरो-व्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्। १०।

पद०—तत्। एतत्। ऋचा। अभ्युक्तं। क्रियावन्तः। श्रोत्रियाः। ब्रह्मनिष्ठाः। स्वयं। जुह्वते। एकर्षिं। श्रद्धयन्तः। तेषां। एव। एतां। ब्रह्मविद्यां। वदेत। शिरोव्रतं। विधिवत्। यैः। तु। चीर्णं।

अर्थ

तत्, एतत्=यह पूर्वोक्त ब्रह्म-भाव जिस को
ऋचा=ऋचा ने
अभ्युक्तं=कथन किया है कि
क्रियावन्तः=निष्कामी पुरुष
श्रोत्रियाः=वेदार्थवेत्ता
ब्रह्मनिष्ठाः=ब्रह्म का उपासक
श्रद्धयन्तः=श्रद्धा वाला
स्वयं=आप
एकर्षिं=एक ब्रह्म की
जुह्वते=उपासना करने वाला
यः, तु=और जिस ने
शिरोव्रतं=शिरोव्रत को
विधिवत्=विधिपूर्वक
चीर्णं=धारण किया है
तेषां एव=उस को ही
एतां, ब्रह्मविद्यां=उक्त ब्रह्म-विद्या का
वदेत=उपदेश करे।

भाष्य— इस मंत्र में स्पष्टतया कथन किया है कि वेदोक्त कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करने वाला अर्थात् निष्कामकर्मी, वेदवेत्ता, ब्रह्म में निश्चय रखने वाला और एकमात्र परमात्मा की उपासना करने वाला ही ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है, इस से स्पष्ट सिद्ध है कि ["ब्रह्मैवभवति"] के अर्थ ब्रह्म के भावों को धारण करने के हैं, यदि ब्रह्म बनने के होते तो यहां भी कोई न कोई मायावादियों के मतानुसार ब्रह्म बनाने की सामग्री अवश्य वर्णन की जाती, परन्तु इससे विरुद्ध कर्म का वर्णन करके एकमात्र परमात्मा की उपासना कथन की गई है जिस से मायावादियों के मतभेदक भेदवाद को स्पष्टरूप से सिद्ध कर दिया है।

सार यह है कि यदि पूर्व श्लोक में "ब्रह्मैवभवति", के अर्थ ब्रह्म बन जाने के होते तो इस मन्त्र में एकमात्र ईश्वर की उपासना वर्णन न की जाती परन्तु की गई है इससे सिद्ध है कि मुक्ति में जीव ईश्वर का भेद रहता है अभेद नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्मविद्या का उपसंहार करते हैं:—

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्य। ११।

पद०—तत्। एतत्। सत्यं। ऋषिः। अङ्गिराः। पुरा। उवाच। न एतत्। अचीर्णव्रतः। अधीते। नमः। परम-ऋषिभ्यः। नमः। परमऋषिभ्यः।

अर्थ

तत्, एतत् सत्यं=यह बात सत्य है कि
पुरा=पहले
अङ्गिराः, ऋषिः=अङ्गिरा ऋषि ने
उवाच=कहा कि
एतत्=इस ब्रह्मज्ञान को
अचीर्णव्रतः=खण्डितव्रत वाला
न, अधीते=नहीं पा सकता
नमः परमऋषिभ्यः=ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक ऋषियों को हमारा
नमः=नमस्कार हो।

भाष्य—["नमः परमऋषिभ्यः"] पाठ दो वार ग्रन्थ की समाप्ति के लिये आया है, अङ्गिरा ऋषि शौनक के प्रति कथन करते हैं कि वह अविनाशी ब्रह्म जिसके जान लेने पर फिर कुछ शेष नहीं रहता उस को अचीर्णव्रत=यमनियमादि से रहित पुरुष कदापि नहीं पा सकता, या यों कहो कि जिसने शिरोव्रत=ज्ञानरूप तप नहीं किया वह पुरुष ब्रह्म का अधिकारी नहीं हो सकता, अन्त में उपनिषत्कार ब्रह्मविद्या प्रवर्त्तक महर्षियों को नमस्कार करते हैं॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये
मुण्डकोपनिषत्
समाप्ता

——❀:——

ओ३म्

अथ माण्डूक्योपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सं०—परापरविद्या का एक मात्र भाण्डारभूत अथर्ववेदीय "मुण्डकोपनिषद्" के अनन्तर अब ओङ्कार की व्याख्याप्रधान "माण्डूक्योपनिषद्" का प्रारम्भ करते हैं:—

**ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्या-
नम् भूतंभवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार
एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं
तदप्योङ्कार एव । १ ।**

पद०—ओ३म् । इति । एतत् । अक्षरं । इदं । सर्वं । तस्य । उपव्याख्यानं । भूतं । भवत् । भविष्यत् । इति । सर्वं । ओङ्कारः । एव । यत् । च । अन्यत् । त्रिकालातीतं । तत् । अपि । ओङ्कारः । एव ।

अर्थ

इदं, सर्वं=यह सब वक्ष्यमाण जगत् और यह

ओ३म्, इति, एतत्, अक्षरं= ओ३म् यह अक्षर=ब्रह्म है

तस्य=उस ब्रह्म का

उपव्याख्यानं=स्पष्ट प्रकार से व्याख्यात है

भूतं=भूतकालिक पदार्थ
भवत्=वर्त्तमानकालिक पदार्थ
भविष्यत्=अनागतकालिक पदार्थ
इति, सर्वं=यह सब
ओङ्कारः, एव=ओङ्कार ही है
च=और
यत्=जो
अन्यत्=इसके अतिरिक्त
त्रिकालातीतं=तीनों कालों से अतीत है
तत्, अपि=वह भी
ओङ्कार, एव=ओङ्कार ही है।

भाष्य—["अवति रक्षतीत्योम्"]=रक्षक होने से परमात्मा का नाम ["ओ३म्"] है, यह निखिल ब्रह्माण्ड उस परमात्मा की सत्ता का सूचक होने से उसका उपव्याख्यानरूप कहाता है अर्थात् जिस प्रकार मूलमन्त्रों वा मूलसूत्रों के तत्व को उनकी विशेष व्याख्यारूप टीका स्फुट कर देती है इसी प्रकार यह चराचरात्मक जगत् परमात्मा के महत्व का बोधक होने से उसका व्याख्यानरूप है, या यों कहो कि ब्रह्म की ज्ञान द्वारा समीपता लाभ करने के लिये यह कोटानकोटि ब्रह्माण्डों का पुंज परमात्मरूप मूल का विवर्णरूप है, और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इन तीनों कालों के अन्तर्गत जो कार्य्यरूप जगत् है और इन तीनों से अतीत कारणात्मक जगत् है वह सब ओङ्कार ही है अर्थात यह सब उसी परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण यहां ओङ्काररूप परमात्मा को सर्वरूप से कथन किया गया है।

सं०—अब उक्त ओङ्कार के वाच्यभूत परमात्मतत्व को चतुष्पादरूप से कथन करते हैं:—

सर्वᳬं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽ
यमात्मा चतुष्पात्। २।

पद०—सर्वं । हि । एतत् । ब्रह्म । अयं । आत्मा । ब्रह्म । सः । अयं । आत्मा । चतुष्पात् ।

अर्थ

हि=निश्चय करके
एतत्, सर्वं=उक्त लक्षणों वाला
ब्रह्म=ओङ्कार सर्वरूप है
अयं=यह
आत्मा=सबमें गमन करने वाला
ब्रह्म=सर्वोपरि=सबसे वृहत् है
सः=वह
अयं, आत्मा=यह आत्मा
चतुष्पात्=चार प्रकार की विभूतिरूप पादों वाला है

भाष्य- **एतावानस्य महिमातोज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।**

यजु० ३१।३०

अर्थ—तीनों कालों में जितना संसारवर्ग है यह सब उस पुरुष की महिमा है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के भूत उसके एकपादस्थनीय और तीनपाद अमृतरूप हैं। जिस प्रकार इस मन्त्र में कल्पना से परमात्मा के चारपाद कथन किये गये हैं इसी प्रकार यहां भी चार पादों का विन्यास है, जिस आत्मतत्व के उक्त चारपाद वर्णन किये गये हैं वह जीवात्मा नहीं किन्तु ब्रह्मरूप आत्मतत्व है, और इसी अभिप्राय "अयमात्माब्रह्म"=यह आत्मा ब्रह्म है, इस प्रकार कथन किया गया है।

मायावादियों का कथन है कि ["अयमात्मा"] के अर्थ जीवात्मा और ["ब्रह्म"] शब्द के अर्थ परमात्मा हैं "अयमात्मा" कथन करके फिर उसको "ब्रह्म" कथन करना इस बात को सिद्ध करता है कि यहां जीवब्रह्म की एकता का विधान किया गया है और यही ["तत्वं"] पदार्थ का संशोधन है अथ तू

अयमात्मा "त्वं" पदार्थ तथा ब्रह्म "तत्" पदार्थ है और उक्त दोनों की अभेद सिद्धि के लिये ही यहां "तत्वं" पदार्थ का कथन किया है या यों कहो कि इनके मत में "त्वं" पद का अर्थ सब युष्मत्प्रत्ययगोचर पदार्थ हैं अर्थात् यह पद जड़ का भी उपलक्षण है, इस प्रकार इनके मत में कार्यकारणरूप निखिल ब्रह्माण्डों को ब्रह्म के साथ एकत्व बोधन करने के लिये "अयमात्मा ब्रह्म"] यह महावाक्य है इसी प्रकार ["तत्त्वमसि"] "अहंब्रह्मास्मि" ["प्रज्ञानंब्रह्म"] यह तीन और भी महावाक्य हैं, जिससे भलीभांति मायवाद की सिद्धि हो उसको यह ["महावाक्य"] कहते हैं. अस्तु अब विचारणीय यह है कि मायावादी जो उक्त श्लोक में ["अयमात्माब्रह्म"] तथा ["सोयमात्माचतुष्पात्"] इन वाक्यों से जीवब्रह्म के एकत्व की सिद्धि करते हैं वह कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ["अयमात्माब्रह्म"] का यह तात्पर्य्य होता है कि "यह जीवरूप आत्मा ब्रह्म है" तो "अयमात्माचतुष्पात्" यह कदापि कथन न किया जाता, क्योंकि जीवरूप आत्मा को वेद कहीं भी चतुष्पादरूप से कथन नहीं करता किन्तु सर्वत्र पादरूप से कथन करता है, जैसाकि पीछे मन्त्र में वर्णन कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य जीवब्रह्म के एकत्व का बोधक नहीं किन्तु ब्रह्म का बोधक है, शेष महावाक्यों के अर्थ छान्दोग्य, बृहदारण्यक में जहां २ आये हैं वहीं पर उनका विस्तारपूर्वक निरूपण करेंगे ।

सं०—अब उस परमात्मा का प्रथमपाद कथन करते हैं—

जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग

एकोनविंशतिमुखः । स्थूलभु-
ग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।३।

पद०—जागरितस्थानः । बहिःप्रज्ञः । सप्ताङ्गः । एकोनविंशति-मुखः । स्थूलभुक् । वैश्वानरः । प्रथमः । पादः ।

अर्थ

जागरितस्थानः=जागरित स्थान है जिसका
बहिःप्रज्ञः=बाहर की ओर इन्द्रियों की वृत्ति रखने वाला
सप्ताङ्गः=सात अङ्ग वाला
एकोनविंशतिमुखः=उन्नीस मुख वाला
स्थूलभुक्=स्थूल पदार्थों को विषय करने वाला
वैश्वानरः=वैश्वानररूप जीवात्मा
प्रथमः, पादः=प्रथम पाद है

भाष्य—जाग्रतावस्था में बाहर के पदार्थों का प्रकाशक होने से जीव को ["बहिःप्रज्ञ"] दो आंख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख इन सात गोलकरूप अङ्गों के अभिप्राय से ["सप्ताङ्ग"] और पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि चित्त, अहङ्कार, इन उन्नीस मुखों वाला जीवात्मा को वर्णन किया गया है अर्थात् यह १९ तत्व जीवात्मा के शरीर में मुख्यततया हैं, जाग्रतावस्था में स्थूल पदार्थों का भोक्ता होने से ["स्थूलभुक्"]। और **"विश्वेनरा अस्येति विश्वानरः, विश्वानर एव वैश्वानरः"** सम्पूर्ण प्राणी जिसकी सत्ता से प्राणनरूप चेष्टा करते हैं उसका नाम ["वैश्वानर"] है, जिसके अर्थ जीवात्मा के हैं, वैश्वानररूप जीवात्मा जो स्थूलावस्था का अभिमानी है वह परमात्मा की विभूति होने से उसका एकपादस्थानीय है अर्थात्

उपचाररूप से जीवात्मा को सर्वव्यापक परमात्मा का प्रथम पाद कथन किया गया है।

मायावादी इस श्लोक को जीवपरक तो मानते हैं पर साथ ही यह मानते हैं कि वैश्वानर ब्रह्म ही उपाधि के वशीभूत होकर जीव बन रहा है और इसीलिये वह लोग चारों पदों को मिलाकर एक ब्रह्म मानते हैं, यह उनकी भूल है, क्योंकि "पाद" शब्द के अर्थ यहां अवयव अथवा खण्ड के नहीं किन्तु जिस प्रकार रुपये में चारपाद कल्पना कर लिये जाते हैं इसी प्रकार पाद व्यवहार यहां गौण है मुख्य नहीं, जैसाकि ["भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्"] ब्र० सू० १।१।२६ में पृथिव्यादि भूतों को परमात्मा का पादस्थानीय माना है, इसी प्रकार यहां भी विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों प्रकार के जीवों को परमात्मा का पादस्थानीय कथन किया है, इससे जीवब्रह्म का ऐक्य सिद्ध नहीं होता किन्तु यह सिद्ध होता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के अभिमानी जीव ब्रह्म के एकपाद स्थान में हैं और ब्रह्म सर्वव्यापकरूप से सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, और जो यहां यह सन्देह उत्पन्न होता है कि ["पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि"] इस मन्त्र में वर्णित सब प्राणी तथा भूतों को परमात्मा के एक देश में वर्णन किया है और तीन पाद ब्रह्म अमृत है, और उक्त श्लोक में इससे अत्यन्त विरुद्ध तीनपादरूप से जीव को तथा एकपादरूप मे ब्रह्म को कथन किया है ? इसका समाधान यह है कि यहां ओङ्कार का उपव्याख्यान निरूपण करने के अभिप्राय से वर्णात्मक ओङ्कार की तीनों मात्राओं को तीनपादरूप से वर्णन किया गया है और उक्त वर्ण के वाच्य ओङ्कार अक्षर प्रतिपाद्य ब्रह्म को अमात्ररूप होने के

कारण चतुर्थपादरूप से कथन किया है, इसलिये अर्थ में कोई विरोध नहीं, दूसरी बात यह है कि ["सर्वेपदा हस्ति-पदे निमग्नाः"]=सबके पांव हाथी के पांव में आ जाते हैं; इस कथनानुसार सर्वव्यापक ब्रह्म के अन्तर्भूत विश्व, तैजसादि जीवों के तीनों भेद परिच्छिन्न होने के कारण ब्रह्म से अत्यन्त न्यून हैं अर्थात् तीनपाद रूप से वर्णन किये जाने पर भी वह ब्रह्म से बड़े नहीं, इसलिये वेद से विरोध तथा तीनपादरूप द्वारा ब्रह्म से बृहत् होने का दोष इस स्थल में नहीं आता।

सं०—अब तैजस नामा जीव को द्वितीयपाद रूप से कथन करते हैं—

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ।४।

पद०—स्वप्नस्थानः । अन्तःप्रज्ञः । सप्ताङ्गः । एकोनविंशतिमुखः । प्रविविक्तभुक् । तैजसः । द्वितीयः । पादः ।

अर्थ

स्वप्नस्थानः=स्वप्नावस्था है स्थान जिसका
अन्तःप्रज्ञः=भीतर की ओर बुद्धिवाला
सप्ताङ्गः=चक्षुरादि गोलकरूप सात अङ्गों वाला
एकोनविंशतिमुखः=ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियादि उक्त १९ मुखों वाला
प्रविविक्तभुक्=सूक्ष्म वासनामय भोजन करने वाला
तैजसः=तैजसी निद्रारूप वृत्ति वाला
द्वितीय, पादः=दूसरा पाद है

भाष्य—स्वप्नावस्था में तैजसी निद्रा प्रधान होने से इस जीव का नाम "तैजस" है अर्थात् इस अवस्था में तैजसी वृत्ति प्रधान होने के कारण इसका नाम "तैजस" है और यह दूसरा पाद कहाता है, बाह्य विषयों और इन्द्रियों के संयोग की अपेक्षा न करता हुआ भीतर ही सब पदार्थों का स्मरण करने के कारण इसको ["अन्तःप्रज्ञ"] कहा है, सात अङ्गों और उन्नीस मुख जिनका वर्णन पूर्व श्लोक में किया गया है इनसे अपने भीतर ही काम लेता है इसलिये इस पाद में भी यह विशेषण रखे गये हैं, इस अवस्था में जाग्रत् के समान स्थूल शब्दादि विषयों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता किन्तु मन की वासना से उनको ग्रहण करने के कारण ["प्रविविक्तभुक्"] कहा गया है अर्थात् जिस प्रकार जाग्रतावस्था का अभिमानी वैश्वानर जीव स्थूल पदार्थों का भोक्ता होता है इस प्रकार यह स्थूल पदार्थों का भोक्ता नहीं होता, इसलिये इसको ["प्रविविक्तभुक्"]=वासनामय सूक्ष्म पदार्थों का भोक्ता कथन किया गया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उपनिषत्कार मायावादियों के समान स्वप्न को मिथ्या नहीं मानते, यदि इनके मत में स्वप्न मिथ्या होता तो स्वप्नावस्था में जीव का स्थान अन्तःप्रज्ञ और वासनामय पदार्थों का भोक्ता कथन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि जाग्रत् के समान स्वप्नावस्था भी भाव पदार्थों का स्मरण करने वाली एक अवस्थाविशेष है मिथ्या नहीं।

सं०—अब सुषुप्ति अवस्थाभिमानी प्राज्ञनामा जीव को तृतीयपाद कथन करते हैं—

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन

स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञ-स्तृतीयःपादः । ५ ।

पद०— यत्र । सुप्तः । न । कञ्चन । कामं । कामयते । न । कञ्चन । स्वप्नं । पश्यति । तत् । सुषुप्तं । सुषुप्तस्थानः । एकीभूतः । प्रज्ञानघनः । एव आनन्दमयः । हि । आनन्दभुक् । चेतोमुखः । प्राज्ञः । तृतीयः । पादः ।

अर्थ

यत्र=जिस अवस्था में
सुप्तः=सोया हुआ जीव
कञ्चन, कामं=किसी काम को
न, कामयते=नहीं चाहता
कञ्चन, स्वप्नं=किसी स्वप्न को
न, पश्यति=नहीं देखता
तत्=वह
सुषुप्तं=सुषुप्त कहा जाता है
सुषुप्तस्थानः=सुषुप्ति है स्थान जिसका
एकीभूतः=एकाग्रवृत्ति वाला
प्रज्ञानघनः,एव=अपने स्वरूपभूत ज्ञान वाला ही होता है
आनन्दमयः=आनन्दमय होता है
हि=निश्चय करके
आनन्दभुक्=आनन्द को भोगता है
चेतोमुखः=उस का ज्ञानमात्र ही द्वार होता है और वह
प्राज्ञः=ज्ञान स्वरूप होता है,यह
तृतीयः, पादः=तीसरा पाद है ।

भाष्य—जिस अवस्था में पुरुष न किसी कामना की इच्छा करता और न कोई स्वप्न देखता है, या यों कहो कि जिस अवस्था में उस की बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की

वृत्तियें निरुद्ध हो जाती हैं उसको ["सुपुप्ति"] कहते हैं, एकमात्र अपने स्वरूपभूतज्ञान में विराजमान होने के कारण उस को ["प्रज्ञानघन"] और उस अवस्था में कोई दुःख न रहने से उसको ['आनन्दमय"] कहा गया है।

मायावादियों का कथन है कि इस अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ अभेद को प्राप्त हो जाता है इसलिये उस को आनन्दमय और प्राज्ञादि नामों से कथन किया गया है, यदि इनके कथनानुसार इस पाद में जीव ब्रह्म की एकता का कथन होता तो इस से भिन्न आगे चतुर्थपाद में ब्रह्म का निरूपण न किया जाता, यदि यह कहा जाय कि जो प्राज्ञनामा जीव इस तृतीय पाद में निरूपण किया गया है वही ब्रह्म है और उसी का वर्णन चतुर्थपाद में है, इसका उत्तर यह है कि इन के मत में ब्रह्म में ज्ञातृत्व ही नहीं फिर वह प्राज्ञ कैसे ? क्योंकि ["प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः"] इस व्युत्पत्ति द्वारा प्राज्ञ के अर्थ ज्ञाता के हैं, इस के अर्थ यहां ईश्वर इस लिये नहीं कि आगे चतुर्थपाद में इससे भिन्न ईश्वर का वर्णन किया है, इस से सिद्ध है कि मायावादियों के ब्रह्म का वर्णन इस पाद में कदापि नहीं किन्तु "प्राज्ञ" नामा जीव का वर्णन है।

स्मरण रहे कि विश्व, तैजस और प्राज्ञ यह तीनों एक ही जीव की अवस्था भेद से संज्ञाविशेष हैं अर्थात् जाग्रतावस्था में जीव को ["विश्व"] स्वप्नावस्था में ["तैजस"] और सुषुप्ति अवस्था में उस को ["प्राज्ञ'] कहते हैं, मायावादी जिस प्रकार अवस्था भेद से जीव की तीन संज्ञा मानते हैं इसी प्रकार ब्रह्म की भी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर यह तीन संज्ञा मानते हैं अर्थात् समष्टि सूक्ष्म शरीरों के अभिमानी मायाशवल का नाम ["हिरण्यगर्भ"] केवल एक मात्र माया से उपहित

का नाम ["ईश्वर"] और समष्टि स्थूल शरीर समष्टि सूक्ष्म-शरीर और इन का कारण जो माया उससे उपहित का नाम ["वैश्वानर"] है, इन के मत में जिस प्रकार जीव के सूक्ष्म, स्थूल और कारण यह तीन शरीर हैं इसी प्रकार ब्रह्म के भी विराट् स्थूल शरीर, समष्टि सूक्ष्म शरीर और प्रकृति कारण-शरीर यह तीन शरीर हैं।

ईश्वर के विराट् आदि तीन शरीर तथा हिरण्यगर्भादि तीन भेद मानना ठीक नहीं, क्योंकि उपनिषदों में इन का कहीं भी वर्णन नहीं पाया जाता और जीव के उक्त तीन भेदों का वर्णन इसी उपनिषद् में स्पष्ट है पर इस स्थल में यह लोग जीव के भेदों को आपस में मिला देते हैं, क्योंकि वह यह समझते हैं कि "वैश्वानर" शब्द केवल परमात्मा के लिये ही आता है किसी अन्य के लिये नहीं, यह उन की भूल है, ["वैश्वानरः प्रविश यतिथि ब्राह्मणोगृहान्"] कठ० १।७ में अग्नि के लिये आया है "स एष वैश्वानरो विश्वरूपः"] प्रश्न० १।७ में आदित्य के लिये आया है, और जीव पक्ष में इस के यह अर्थ हैं कि सब प्राणियों का नाम विश्वानर और उन में निवास करने वाले जीव का नाम वैश्वानर है अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के जीव जो जाग्रतावस्था के अभिमानी हैं वह वैश्वानर शब्द से कहे जाते हैं, यद्यपि ["वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्"] ब्र० सू० १।२।२४ इत्यादि सूत्रों में वैश्वानर के अर्थ परमात्मा के भी हैं परन्तु सर्वत्र इस के अर्थ परमात्मा के नहीं, क्योंकि यदि इस के अर्थ सर्वत्र परमात्मा के होते तो विशेष हेतु से उक्त सूत्र में इस को परमात्मवाचक सिद्ध न किया जाता, इस से सिद्ध है कि यह शब्द परमात्मा के लिये ही नहीं आता किंतु अग्नि, सूर्य्य तथा जीवात्मा इन में भी इस का प्रयोग पाया

जाता है और इसी अभिप्राय से स्वामी शङ्कराचार्य ने ["वैश्वानरशब्दस्त्रुत्रयाणां साधारणः"] ब्र० सू० १ । २ । २४ शं० भा० में लिखा है कि वैश्वानर शब्द भूताग्नि, ईश्वर और जीव तीनों में एक जैसा वर्त्तता है, इस से स्पष्ट है कि यह केवल परमात्मा का ही वाचक नहीं किन्तु जाग्रतावस्थाभिमानी जीव का भी वाचक है और उक्त तीनों पादों में जीव का वर्णन किया गया है परमात्मा का नहीं।

सं०—अब परमात्मा को सब पदार्थों का कारण कथन करते हैं:—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामयेष योनिः । सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।६।

पद०—एषः । सर्वेश्वरः । सर्वज्ञः । एषः । अन्तर्यामी । एषः । योनिः । सर्वस्य । प्रभवाप्ययौ । हि । भूतानाम् ।

अर्थ

एषः=यह ओङ्कार जिसका आगे वर्णन किया जायगा	भूतानां=सब भूतों का
	अन्तर्यामी=अन्तर्यामी है
सर्वेश्वरः=सब का का स्वामी है	एषः=यह
एषः=यह	सर्वस्य=सबका
सर्वज्ञः=सब का जानने वाला है	हि=निश्चय करके
	प्रभवाप्ययौ=उत्पत्ति विनाश का
एषः=यह	योनिः=कारण है।

भाष्य—वह परमात्मा जिसका आगे चतुर्थपाद में वर्णन किया जायगा वही सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है, ईश्वर है,

सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है और वही सब का कारण है, क्योंकि शरीरधारी प्राणीमात्र तथा स्थूल भूतों का उत्पत्ति विनाश उसी से होता है, जैसाकि :—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि-जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तितद्विजिज्ञासस्व ॥

तैत्ति० ३।१०।१

इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि यह सब पदार्थ उसी से उत्पन्न होते और उसी की सत्ता से स्थित हुए जीवन धारण करते हैं, हे जीव ! तू उस ब्रह्म के जानने की इच्छा कर अर्थात् वही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश का कारण कथन किया गया है।

स्मरण रहे कि यहां जीव तथा प्रकृति की उत्पत्ति विनाश से तात्पर्य्य नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थों की उत्पत्ति का यहां प्रकरण नहीं, यह प्रकरण उत्पत्ति विनाश शाली पदार्थों का है, इसलिए उत्पत्ति विनाश योग्य अनित्य पदार्थों का ही उत्पत्ति विनाश समझना चाहिये नित्य पदार्थों का नहीं।

मयावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यहां ["एप",] शब्द से तृतीयपाद में कथन किये हुए प्राज्ञनामा जीव का ग्रहण है और इस अर्थ में उनको लाभ यह है कि सुषुप्ति अवस्था अभिमानी जो उक्त जीव है उसीको यह सब की उत्पत्ति स्थिति का कारण उसी को सर्वज्ञ और उसी को ईश्वर कथन करते हैं, यह उनकी भूल है, क्योंकि यदि उक्त शब्दों से यहां पूर्व का परामर्श होता हो वहीं तृतीयपाद में इसका वर्णन किया जाता परन्तु वहां नहीं किया और अब आगे चतुर्थपाद में परमात्म-

विषयक वर्णन किया जायगा उसमें जीव का क्या प्रसङ्ग? यदि यह कहा जाय कि "एतत्" शब्द सर्वत्र पूर्व का ही परामर्शक होता है वक्ष्यमाण का नहीं? इसका उत्तर यह है कि "तदेतौ श्लोकौ भवतः" प्रश्न० ५।५ में यह शब्द वक्ष्यमाण के लिये आया है अर्थात् जो आगे वर्णन करेंगे उसका बोधक है न कि पूर्व प्रकृत का, इसी प्रकार यहां भी जो आगे वर्णन किया जायगा उसका बोधक है पूर्व प्रकृत जीवात्मा का नहीं, इससे सिद्ध है कि प्राज्ञनामा जीव को चतुर्थपाद कथन करना मायावादियों की अत्यन्त भूल है, और इसी भूल में पड़कर कई एक टीकाकारों ने "एष" शब्द से पूर्व प्रकृत प्राज्ञ का ही ग्रहण किया जाता हैं जिससे वैदिक भेदभाव का खण्डन और मायावादियों के मायिक अद्वैत का मण्डन हो जाता है, यह उनकी खींच है, वस्तुतः बात यह है कि यहां पूर्वप्रकृत जीव के स्वरूप से भिन्न ब्रह्म का निरूपण किया गया है परन्तु इस स्थल में मायावादियों ने अर्थाभास करके वाग्जाल से जीव ब्रह्म की एकता को यहां तक समर्थन किया है कि 'गौड़पादाचार्य्य" ने कई एक कारिका लिखकर इस माण्डूक्योपनिषद् को ही अद्वैतवाद का भाण्डार और मायावाद का एकमात्र सार बना दिया है जिसकी दिङ्मात्र समीक्षा इसी उपनिषद् के अन्त में करेंगे।

सं०—सब इस चतुर्थपाद में ब्रह्म के स्वरूप का कथन करते हैं:—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यप-

देश्यमेकात्मप्रत्ययसारंप्रपञ्चोपश-
मं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं
मन्यन्ते स आत्मा स
विज्ञेयः । ७ ।

पद०--न । अन्तःप्रज्ञं । न । बहिःप्रज्ञं । न । उभयतःप्रज्ञं । न । प्रज्ञानघनं । न । प्रज्ञं । अप्रज्ञं । अदृष्टं । अव्यवहार्य्यं । अग्राह्यं । अलक्षणं । अचिन्त्यं । अव्यपदेश्यं । एकात्मप्रत्यय-सारं । प्रपञ्चोपशमं । शान्तं । शिवं । अद्वैतं । चतुर्थं । मन्यन्ते । सः । आत्मा । सः । विज्ञेयः ।

अर्थ

न, अन्तःप्रज्ञं=भीतर की प्रज्ञा वाला नहीं
न, बहिःप्रज्ञं=न बाहर की प्रज्ञा वाला है
न, उभयतःप्रज्ञं=न जाग्रत्स्वप्न के समान भीतर बाहर दोनों ओर की प्रज्ञा वाला है
न, प्रज्ञानघनं=न सुषुप्ति के समान घनीभूत प्रज्ञा वाला है
न, प्रज्ञं=न प्रज्ञा वाला है और
न, अप्रज्ञं=न बुद्धिहीन है
अदृष्टं=ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं
अव्यवहार्य्यं=क्रिया रहित है
अग्राह्यं=कर्मेन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं
अलक्षणं=सब चिन्हों से रहित है
अचिन्त्यं=चिन्तन में नहीं आ सकता
अव्यपदेश्यं=अकथनीय है
एकात्मप्रत्ययसारं=केवल एक मात्र अनुभव से जाना जाता है
प्रपञ्चोपशमं=इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का लय स्थान है
शान्तं=शान्तस्वरूप है

शिवं=आनन्दस्वरूप है मानते हैं
अद्वैतं=सजातीय, विजातीय, सः=वह
स्वगतभेद शून्य है, ऐसे आत्मा=परमात्मा है और
ब्रह्म को सः=वही
चतुर्थं, मन्यन्ते=चौथा पाद विज्ञेयः=जानने योग्य है।

भाष्य—पूर्व के तीन पादों में जीवात्मा का वर्णन करके इस चतुर्थ पाद में परमात्मा का स्वरूप वर्णन किया है कि वह स्वप्नावस्थाभिमानी जीव के समान भीतर ही स्मरण करने वाला नहीं, न जाग्रतावस्थाभिमानी जीव के समान एकमात्र बाहर की ओर बुद्धि वाला है, वह न दोनों प्रकार के जीवों के समान भीतर बाहर की ओर बुद्धि रखने वाला है, वह सर्वज्ञ होने से जीव नहीं और नाही अप्रज्ञ=जड़ प्रकृति है, वह रूपादि से रहित होने के कारण देखा नहीं जासकता, सूक्ष्म होने से व्यवहार में नहीं आसकता, अमूर्त्त होने से कर्मेन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, सब चिह्नों से वर्जित अचिह्न और निर्देशानर्ह है, एकमात्र अपना अनुभव ही उसके जानने में सार है, वह परमात्मा सम्पूर्ण संसार के लय होने पर एकमात्र आधार है, शान्तस्वरूप तथा आनन्दमय है,सजातीय, विजातीय स्वगतभेद शून्य है, ऐसे परमात्मा को विद्वान् लोग चतुर्थ पाद मानते हैं वही सब रूप होने से आत्मा और वही जानने योग्य है।

मायावादी इसके अर्थों में यह तो मानते हैं कि वह स्वप्नावस्थाभिमानी जीव के समान अन्तःप्रज्ञ नहीं, न जाग्रतावस्थाभिमानी जीव के समान बहिःप्रज्ञ है, और न सुषुप्ति अवस्थाभिमानी जीव के समान प्रज्ञानघन है किन्तु तीनों अवस्थाओं वाले जीव से भिन्न है और इसीलिये कहागया है कि "न,प्रज्ञं"= वह प्रज्ञ नहीं, ["प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः"]=जो विशेष

रीति से जाने उसका नाम ["प्रज्ञ"] और स्वार्थ में तद्धित करने से ["प्राज्ञ"] बनता है, जिसके अर्थ यह हैं कि प्रज्ञ ही प्राज्ञ है, इस प्रकार जब उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप को प्राज्ञ से भिन्न माना है तो फिर पूर्व ["एषः सर्वेश्वरः"] इस श्लोक में वर्णित प्राज्ञ-नामा जीव को ईश्वररूप कथन करना केवल साहसमात्र है, या यों कहो कि जीव को ब्रह्म बनाने के अभिप्राय से वहां इन्होंने मन माने अर्थ करदिये हैं, वस्तुतःबात यह है कि इस चतुर्थ पाद में वर्णित परमात्मा इस उपनिषद् में स्पष्टतया जीव से भिन्न वर्णन कियागया है, अतएव इस उपनिषद् से जीव ब्रह्म की एकता कदापि सिद्ध नहीं होसकती।

सं०—अब उक्त आत्मतत्व के वाचक ओङ्कार का कथन करते हैं:—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादामात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति। ८।

पद०—सः। अयं। आत्मा। अध्यक्षरं। ओङ्कारः। अधिमात्रं। पादाः। मात्राः। मात्राः। च। पादाः। अकारः। उकारः। मकारः। इति।

अर्थ

सः=वह

अयं, आत्मा=यह आत्मा

अध्यक्षरं=अक्षर के वर्णन में

है, वह अक्षर क्या है ?

ओङ्कारः=ओङ्काररूप है, और

वह

अधिमात्रं=अकारादि मात्राओं को आश्रय किया हुआ है, वह मात्रा क्या हैं
पादाः, मात्राः=पाद मात्रा हैं
च=और
मात्राः, पादाः=मात्रायें पाद हैं
अकार=अकार
उकारः=उकार
मकारः=मकार
इति यह मात्रा हैं।

भाष्य—वह परमात्मा जो ओङ्कार वाचक शब्द से वर्णन किया गया है वह अक्षररूप ओङ्कार है और वह अ, उ, म्, इन तीनों मात्राओं वाला है जिसका वर्णन आगे उपनिषत्कार स्वयं करेंगे, यह मात्रायें पादरूप हैं अर्थात् जिस प्रकार अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्र ओंकार है इसी प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञ और अक्षर ब्रह्म यह चार पाद हैं, उक्त मात्राओं की इन चार पादों के साथ समता वर्णन की गई हैं, या यों कहो कि जिस प्रकार अकार, उकार, मकार इन तीन मात्राओं वाला ओंकार है इसीप्रकार तत्प्रतिपाद्य ब्रह्म में विश्व, तैजस और प्राज्ञ यह तीन पाद प्रसिद्ध हैं और अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादक चतुर्थपाद अव्यवहार्य्य=व्यवहार में आने योग्य नहीं।

सं०—अब प्रथम मात्रा और प्रथम पाद का समानाधिकरण कथन करते हुए उसका फल वर्णन करते हैं:—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ।९।

पद०—जागरितस्थानः । वैश्वानरः । अकारः । प्रथमा । मात्रा । आप्तेः । आदिमत्त्वात् । वा । आप्नोति । ह । वै । सर्वान् आदिः । च । भवति । यः । एवं । वेद ।

अर्थ

जागरितस्थानः=जाग्रतावस्था वाला	सर्वान्, कामान्=सब कामनाओं को
वैश्वानरः=वैश्वानर नामा जीव	आप्नोति=प्राप्त होता है
अकारः=अकार	च=और
प्रथमा, मात्रा=पहिली मात्राहै	आदिः, भवति= प्रथम होता है
आप्तेः=व्यापक होने से	
वा=अथवा	यः=जो
आदिमत्त्वात्=प्रथम होने से	एवं=इस प्रकार
ह वै=निश्चय करके	वेद=जानता है ।

भाष्य—इस श्लोक में पूर्ववर्णित प्रथमपाद और ओंकार की अकाररूप प्रथम मात्रा का समानाधिकरण कथन किया गया है अर्थात् जाग्रतावस्था वाला विश्वसंज्ञक जो कथम पाद है वही ओंकार की प्रथम मात्रा अकार है, या यों कहो कि जिस प्रकार अकार सब से प्रथम अक्षर सब वर्णों में व्याप्त है उसके बिना कोई वर्ण नहीं बोला जाता, इसी प्रकार सब पादों से पहला विश्वनामा पाद तीनों पादों में व्यापक है अर्थात् जीव की स्वप्न, सुषुप्ति आदि सब अवस्थाओं में जाग्रतावस्था का प्रभाव रहता है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार अकार सब वर्णों में व्यापक है इसीप्रकार यहां जीव की तीन अवस्थाओं में वैश्वानर संज्ञक जीव को सबका प्रथम तथा अन्य अवस्थाओं में व्यापक कथन किया गया है, जो विद्वान् इस आत्मवाद को भली भांति जानता है वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप मनुष्य जन्म के फलों को प्राप्त होकर सब महात्माओं में अग्रणी होता है।

स०—अब द्वितीयमात्रा और द्वितीय पाद का सामानाधिकरण्य कथन करते हुए इनके ज्ञान का फल वर्णन करते हैं:—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारोद्वितीया मात्रो-त्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति हवै ज्ञानस-न्ततिं समानश्च भवतिनास्याब्रह्म-वित्कुलेभवति य एवं वेद ।१०।

पद०—स्वप्नस्थानः । तैजसः । उकारः । द्वितीया । मात्रा । उत्कर्षात् । उभयत्वात् । वा । उत्कर्षति । हवै । ज्ञानसन्ततिं । समानः । च । भवति । न अस्य । अब्रह्मवित् । कुले । भवति । यः । एवं । वेद ।

अर्थ

स्वप्नस्थानः=स्वप्नावस्था वाला
तैजसः=तैजस संज्ञक
उकारः=उकार
द्वितीया, मात्रा=दूसरी मात्रा है, क्योंकि
उत्कर्षात्=उत्कर्ष वाला होने से

वा=अथवा	भवति=होता है
उभयत्वात्=बीच में होने से	यः=जो
हवै=निश्चय करके	एवं=इस प्रकार
ज्ञानसन्ततिं=शिष्य प्रशिष्यादि	वेद=जानता है,
द्वारा ज्ञानसन्तति=ज्ञान	अस्य, कुले=उसके कुल में
का विस्तार	अब्रह्मवित्=ब्रह्म का न जानने
उत्कर्षति=करता है	वाला
च=और	न, भवति=नहीं होता।
समानः=समान	

भाष्य - स्वप्नस्थान वाला तैजस नामा जो दूसरा पाद है वहीं ओङ्कार की दूसरी मात्रा उकार है, जिस प्रकार उकार अकार से ऊपर होने के कारण उत्कर्ष वाला है और अकार मकार के बीच में है इसी प्रकार दूसरा तैजस पाद विश्व पाद की अपेक्षा उत्कृष्ट और विश्व तथा प्राज्ञ दोनों के बीच में है, जो पुरुष इस पाद को भले प्रकार जानता है वह अपने शिष्य प्रशिष्यादि द्वारा अपनी ज्ञान सन्तति को प्रति दिन बढ़ाता है और उस के कुल में कोई भी अज्ञानी उत्पन्न नहीं होता।

भाव यह है कि जिस पुरुष को यह ज्ञान है कि स्वप्नावस्था में जीव स्वाप्न पदार्थों को निद्रादोष से अन्यथा स्मरण करता है तथा जीव अविनाशी है और वही स्वप्नादि अवस्थाओं को धारण करने वाला है, जो ऐसा मानता है वह अपने शिष्यादि-रूप सन्तान को आत्मविद्या से प्रतिदिन बढ़ाता है।

सं०—अब तृतीय पाद और तीसरी मात्रा का सामानाधिकरण्य कथन करते हुए उस का फल वर्णन करते हैं:—

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद । ११ ।

पद०— सुषुप्तस्थानः । प्राज्ञः । मकारः । तृतीया । मात्रा । मितेः । अपीतेः । वा । मिनोति । ह वै । इदं । सर्वं । अपीतिः । च । भवति । यः । एवं । वेद ।

अर्थ

सुषुप्तस्थानः=सुषुप्ति अवस्था वाला	इदं, सर्वं=इस सब को
प्राज्ञः=प्राज्ञ नामा जीव	मिनोति=यथार्थरूप से जानता है
मकारः=मकाररूप	च=और
तृतीया, मात्रा=तीसरी मात्रा है	अपीतिः=सब का सुषुप्ति स्थान
मितेः=विश्व, तैजस का मापक होने से	भवति=होता है
वा=अथवा	यः=जो
अपीतेः=लय स्थान होने से	एवं=इस प्रकार
ह वै=निश्चय करके	वेद=जानता है ।

भाष्य—सुषुप्ति स्थान वाला प्राज्ञ नामा जीव जो तीसरा पाद है वही ओङ्कार की तीसरी मात्रा मकार है, जिस प्रकार

अन्तिम मात्रा मकार में अकार, उकार इन दोनों मात्राओं का लय हो जाता है अर्थात् मकार से इन को मापा जाता है, या यों कहो कि लय और उत्पत्ति से मकार उन का मापक है, इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था वाला प्राज्ञनामा जीव विश्व, तैजस जीवों का मापक तथा लय स्थान है, जो पुरुष इस सुषुप्ति अवस्थाभिमानी जीव को उक्त प्रकार से जानता है वह सब का मापक=यथार्थ ज्ञाता और सब का लय स्थान होता है।

भाव यह है कि जिस प्रकार "ओ३म्" के उच्चारण में अकार, उकार, मात्रायें मकार मात्रा में लय हो जाती हैं इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत तथा स्वप्नावस्था वाले जीव लय हो जाते हैं और सुषुप्ति अवस्था में जीव के अस्तित्व को मानने वाला पुरुष सब का प्रमाणभूत होता है, क्योंकि उस को जीव के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं रहता।

सं०—अब अमात्ररूप चतुर्थ तुरीय पाद का फल कथन करते हैंः—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद। १२।

पद०—अमात्रः। चतुर्थः। अव्यवहार्यः। प्रपञ्चोशमः। शिवः। अद्वैतः। एवं। ओङ्कारः। आत्मा। एव। संविशति। आत्मना। आत्मानं! यः। एवं। वेद। यः। एवं वेद।

अर्थ

चतुर्थः=चौथा पाद
अमात्रः=अपरिच्छिन्न
अव्यवहार्यः=व्यवहार से रहित है
प्रपञ्चोपशमः=जगत् की लयता का आधारभूत है
शिवः=आनन्दस्वरूप
अद्वैतः=सजातीय, विजातीय स्वगतभेद शून्य है
एवं=इस प्रकार
ओंकारः, एव=ओंकार ही
आत्मा=परमात्मा है
यः=जो
एवं=इस प्रकार
वेद=जानता है वह
आत्मना=अपने संस्कृत मन द्वारा
आत्मा=परमात्मा में
संविशति=प्रवेश करता है।

भाष्य—["यः एवं वेद"] यह द्वितीयवार पाठ उपनिषद् की समाप्ति के लिये आया है, जिस प्रकार ओंकार की चतुर्थ मात्रा व्यवहार में नहीं आती इसी प्रकार ओंकार का वाच्यभूत चतुर्थपाद परमात्मा व्यवहार रहित है, इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का लय स्थान है, आनन्दस्वरूप है, उस का कोई सजातीय नहीं और वह आत्मतत्व ओंकार का वाच्य है, जो उपासक उक्त आत्मतत्व की निराकाररूप से उपासना करता है वही उस में ज्ञान द्वारा प्रवेश करता है अन्य नहीं।

स्मरण रहे कि जिस प्रकार "ओंकार" में चतुर्थ मात्रा गूढ़ है किसी की दृष्टिगोचर नहीं होती इसी प्रकार यह आत्मतत्व जीव की तीनों अवस्थारूपी मात्राओं में अतिगूढ़ होने से साधा-

रण पुरुष नहीं समझ सकते, जो जिज्ञासु शुद्ध अन्तःकरण से उस की उपासना करते हैं वही उसको जानते हैं अन्य नहीं।

मायावादी इस उपनिषद् से मायावाद इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि यह चराचरात्मक जगत् ओंकार का उपव्याख्यान है अर्थात् ओंकार प्रतिपाद्य ब्रह्म का यह जगत् विवर्त्त है, या यों कहो कि जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है इसी प्रकार इन के मत में यह सब जगत् भ्रान्तिभूत है एक मात्र अद्वैत ही तत्व है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि उक्त भाव इस उपनिषद् में होता तो ब्रह्म के चारपाद कथन न किये जाते और यदि किये भी जाते तो अन्त में रज्जु सर्प के समान मिथ्यात्व बोधक अपवाद कथन किया जाता पर ऐसा नहीं किया गया अपितु चारों पादों का सत्यत्व भली भांति इस उपनिषद् में वर्णन किया गया है और यही नहीं प्रत्युत ओंकार प्रतिपाद्य ब्रह्म की उपासना भली भांति इस में कथन की गई है, इस से सिद्ध है कि मायावादियों के मतानुसार इस में अद्वैतवाद नहीं।

(२) पूर्व वर्णित तीन पादों में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अभिमानी जीव का इस में वर्णन किया गया है अर्थात् जिस प्रकार मात्रा परिच्छेद वाली होती है इसी प्रकार ओंकार रूप मात्राओं की समता से इन तीन पादों को परिच्छेद वाले=एकदेशी कथन किया गया है, यदि इन पादों में भी ब्रह्म का वर्णन होता तो इन को परिच्छेद वाले कदापि वर्णन न किया जाता,

इस से सिद्ध है कि ओंकार अक्षर प्रतिपाद्य ब्रह्म के यहां चार-पाद उपचार से कथन किये गये हैं, जैसा कि ['पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"] इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया गया है, इस से भी जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती।

(३) चतुर्थपाद में उक्त तीनों अवस्थाओं वाले जीव से ब्रह्म का भेद स्पष्टतया वर्णन किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि यह उपनिषद् स्पष्ट रीति से वैदिक द्वैतवाद का पोषक है और जो इसमें परमात्मा के लिये "अद्वैत" शब्द आया है उसका तात्पर्य्य यह है कि दूसरा कोई पदार्थ परमात्मा का सजातीय नहीं, जैसे लोक में कहा जाता है कि यह "अद्वितीय पुरुष है" जिसका तात्पर्य्य यह है कि इसके समान और कोई दूसरा पुरुष नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म के सम कोई अन्य पदार्थ न होने से उसको अद्वैत कथन किया गया है इस भाव से नहीं कि उससे भिन्न अन्य कोई पदार्थ ही नहीं, जगत् को मायामात्र मानकर अद्वैतवाद का वर्णन इस उपनिषद् में गन्ध-मात्र भी नहीं, फिर न जाने मायावादियों ने अपने मायावाद का निर्भर इस उपनिषद् पर कैसे रखा है ? इस उपनिषद् के आधार पर मायावाद का जितना निर्भर है उतना अन्य किसी उपनिषद् के आधार पर नहीं पाया जाता अर्थात् ["गौड़पादा-चार्य्य"] की कारिका इसी उपनिषद् पर हैं, इनमें इन्होंने द्वैतवाद का खण्डन करके मायावाद से विभूषित अद्वैतवाद को बलपूर्वक सिद्ध किया है जिससे जिज्ञासुओं को नानाप्रकार

के सन्देह इस उपनिषद्विषयक उत्पन्न होते हैं जिनके निवारणार्थ हम यहां मुख्य २ कारिकाओं की समीक्षा करते हैं:—

स्वप्नमाया यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥
न निरोधो नचोत्पत्तिर्नबद्धो नच साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

अर्थ—जैसे स्वप्न की माया और गन्धर्वनगर दृष्टिमात्र होता है इसी प्रकार यह सम्पूर्ण संसार है, ऐसा विद्वानों ने निश्चय किया है, अतएव वास्तव में न संसार की उत्पत्ति होती है, न प्रलय होता है, न कोई मुक्ति, न कोई बद्ध और न कोई मुक्ति के साधन हैं, यही तत्व है ।

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥
प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥

अर्थ—जिस प्रकार रज्जु के निश्चय होने पर सर्परूप संशय निवृत्त होकर यह निश्चय हो जाता है कि यह रज्जु ही है इसी

प्रकार आत्मतत्व के निश्चय होने से यह संसार रूप द्वैतजाल दूर हो जाता है, इन्द्रियों के मोहजाल से यह संसाररूप द्वैत प्रतीत होता है वास्तव में नहीं और यह उस परमात्मदेव की माया है जिससे यह जीव मोह को प्राप्त हो रहा है।

मायावादी "गौड़पादाचार्य्य" इस उपनिषद् से उक्त भाव वर्णन करते हैं परन्तु यह उनकी भूल है, माण्डूक्योपनिषद् से यह भाव कदापि नहीं निकलता, क्योंकि इसमें मायावाद का पोषक कोई शव्द नहीं और नाहीं संसार के मिथ्या होने का कोई प्रकरण है, प्रकरण यह है कि यह चराचरात्मक विश्व ओङ्कार का उपव्याख्यान है अर्थात् ओङ्कार ब्रह्म के निरूपण का हेतुभूत है, और जो जीव की तीन अवस्थायें वर्णन की गई हैं वह संसार के वर्णन में उपयोगी होने से कथन की हैं मिथ्या के अभिप्राय से नहीं, और जिस पद को अव्यवहार्य्य तथा अमात्रक कहा है वह ब्रह्म पद है, उस में मात्रारूप साकारता का गन्धमात्र भी नहीं, यदि अर्थापत्ति से अध्यास का आश्रय लेकर मायावाद को इस प्रकार सिद्ध किया जाय कि ओङ्कार का उपव्याख्यान यह संसार तभी हो सकता है जब मिथ्याभूत हो? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार तीनों अवस्थाओं वाला जीव सत्यरूप होकर ओङ्कार का उपव्याख्यान है इसी प्रकार प्रकृति परिणामी नित्य होकर उसका उपव्याख्यान है,

अतएव मिथ्यात्व की आवश्यकता नहीं, और जो घटाकाशादिकों का दृष्टान्त देकर इन कारिकाओं में जीवब्रह्म का अभेद सिद्ध किया है वह इस लिये ठीक नहीं कि इस उपनिषद् में कहीं भी घटाकाश के समान जीवब्रह्म का औपाधिक भेद वर्णन नहीं किया गया किन्तु जीवब्रह्म को वस्तुतः भिन्न २ निरूपण किया गया है कि जीव जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं वाला है और ब्रह्म इन तीनों अवस्थाओं से रहित है, इस प्रकार दोनों का भेद स्पष्ट सिद्ध है, फिर यह कथन करना कि:—

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ॥

जिस प्रकार बालकों को आकाश मलिन प्रतीत होता है इसी प्रकार अज्ञानियों को एक ही शुद्धात्मा जीवादि भेदों से मलिन प्रतीत होता है, यह कथन उपनिषद् के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि अनादि जीवात्मा को गौण और मृण्मय घट के समान ब्रह्म का कार्य्य सिद्ध करना केवल साहसमात्र है, यदि जीवात्मा गौण तथा कार्य्य होता तो ["द्वा सुपर्णा सयुजा"] ["ज्ञा ज्ञौ द्वावजानीशौ"] ["अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"] इत्यादि वाक्यों में जीव को अनादि काल से भिन्न सिद्ध न किया जाता परन्तु किया गया है फिर घटाकाश का दृष्टान्त देना

सर्वथा मिथ्या है, इसी अभिप्राय से महर्षि व्यास ने ["नात्मा-श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः"] ब्र० सू० २। ३। १८ इत्यादि सूत्रों में निरूपण किया है कि जीव की उत्पत्ति नहीं होती, फिर जीव के अनादित्व को गौण कथन करना भूल है, इस प्रकार समीक्षा करने से इन कारिकाओं की सङ्गति इस उपनिषद् से अणुमात्र भी नहीं मिलती, विस्तार के भय से हम यहां विशेष समीक्षा नहीं करते परन्तु इतना अवश्य कथन करते हैं कि:—

मृषात्वाद्भेदजातस्यसर्गस्थित्याद्यसंभवात् ।
सर्गस्थितिलयानां स्यादन्वाख्यानं मृषैव तु ॥

भेद के मिथ्या होने पर सर्गस्थिति=उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय आदि सब सांसारिक भाव मिथ्याभूत हो जाते हैं और इनके मिथ्या होने से उत्पत्ति प्रतिपादक सब श्रुतियें भी मिथ्या हो जाती हैं इसलिये मिथ्याभूत मायावाद का आश्रयण ठीक नहीं, इत्यादि आक्षेप करके यह समाधान किया है कि:—

पूर्णेनाभेदतः कार्यं पूर्णं स्यान्न मृषाश्रुतेः ।
यद्यतोनातिरेकेण तत्तदेवेति निश्चितिः ॥

पूर्ण से अभिन्न होने के कारण कार्य्य भी पूर्ण होता है मिथ्या नहीं, और यह बात श्रुति से पाई जाती है कि जो

पदार्थ जिससे अभिन्न होता है वह वही होता है यह निश्चय है, इस प्रकार ["सुरेश्वराचार्य्य"] ने कार्य्य कारण की एकता सिद्ध करने के लिये मायावाद के त्यागपूर्वक मुख्यसामानाधिकरण्य का आश्रयण करके सिद्ध यह किया है कि:—

इदं च द्वैतमस्त्येव तथाऽद्वैतमेव च ।
पूर्णत्वाख्याजहद्वृत्त्या समुद्रोर्मिवदीक्ष्यताम् ॥

द्वैत भी है और अद्वैत भी है, क्योकि पूर्णरूपता से समुद्र और उसकी लहरों के समान एकता पाई जाती है अर्थात् जिसप्रकार समुद्र का लहरों से भेद है और समुद्ररूप से सब एक है और समुद्ररूप से सब एक है इसी प्रकार मुख्य सामानाधिकरण्य से यह सब संसार परमात्मा का स्वरूप है, यह भाव माण्डूक्योपनिषद् से नहीं निकलता, यदि यह भाव इस उपनिषद् में होता तो चतुर्थ पाद को तीनों पादों से भिन्न ["अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य्यः"]=अपरिच्छिन्न चतुर्थ पाद व्यवहार से रहित है, यह कथन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि जीवरूप तीनों पादों से परमात्मरूप चतुर्थ पाद भिन्न है, और सब को मिथ्या मानकर बाधसामानधिकरण्य तथा सब को ब्रह्मरूप मानकर मुख्यसामानाधिकरण्य से सबकी एकता का कथन इस उपनिषद् में नाममात्र भी नहीं केवल अपने भाव से उक्त

आचार्य्यों ने कारिका बना कर इसमें मायावाद भरा है सो ठीक नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये
माण्डूक्योपनिषत्
समाप्ता

ओ३म्

अथ ऐतरेयोपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सं०—ओङ्कार की व्याख्याप्रधान अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् के अनन्तर अब आत्मविद्याप्रधान ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् का प्रारम्भ करते हैं:—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचनमिषत् । स ईक्षत लोकान् सृजा इति । १ ।

पद०—आत्मा । वै । इदं । एकः । एव । अग्रे । आसीत् । न । अन्यत् । किंचन । मिषत् । सः। ईक्षत । लोकान् । सृजै । इति।

अर्थ

वै=निश्चय करके
इदं, आत्मा=यह ब्रह्म
अग्रे=सृष्टि से पूर्व
एकः=एक
एव=ही
आसीत्=था
अन्यत्=उससे भिन्न
किंचन=कुछ भी
मिषत्=स्पर्द्धा करने वाला
न=न था
सः=उसने
ईक्षत=इच्छा की कि मैं
लोकान्, इति=लोक लोकान्तरों को
सृजै=रचूं ।

भाष्य—इस कार्य्याकार जगत् से पूर्व एक ही परमात्मा था उस समय उससे भिन्न अन्य कोई पदार्थ चेष्टा करने वाला न था अर्थात् उस समय परमात्मा से भिन्न जगत् निर्माण का सामर्थ्य अन्य किसी पदार्थ में न था, उसने जीवों के फलदातृत्व का अनुसन्धान करके यह विचार किया कि मैं सृष्टि को रचूं, जैसाकि "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं"। ऋग्० १०। ११। १२६। १ और "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अन्ह आसीत्प्रकेत:" ऋग्० १०। ११। १२६। २ इत्यादि मंत्रों में वर्णन कियागया है कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ["न सद्रूप"= यह कार्य्यरूप जगत् न था तथा "न असद्रूप"]=न अपने कारणरूप से विराजमान था और उस समय न मृत्यु, न अमृत और न रात्रि, दिन के चिन्ह सूर्य्य चन्द्रमा थे, उस समय जीती जागती ज्योति: वाला एकमात्र परमात्मा ही था।

भाव यह है कि सृष्टि के आदिकाल में परमात्मा से भिन्न अन्य सब पदार्थ निश्चेष्ट होते हैं अर्थात् जड़ होने से प्रकृति क्रिया नहीं कर सकती और परिच्छिन्न होने के कारण जीव का सामर्थ्य सृष्टि रचने का नहीं, इसलिये सृष्टि रचना में ईक्षण करने वाला एकमात्र परमात्मतत्व ही उस समय विराजमान था और वह सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद शून्य था, सजातीयभेद शून्य इसलिये था कि उस समय उस जैसा जगत्कर्त्ता अन्य कोई न था और जीव खद्योतकल्प होने के कारण भेदकारक न था, विजातीयभेद शून्य इसलिये था कि जड़ प्रकृति चेतनाविहीन होने के कारण अपनी सत्तास्फूर्ति को काम में नहीं ला सकती थी और स्वगतभेद शून्य इसलिये है कि वह निराकार है, अतएव उस समय सृष्टि रचयिता एकमात्र परमपिता परमात्मा ही था।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह नामरूपात्मक जगत् न था और नाही उस अवस्था में अव्याकृतरूप प्रकृति थी इसलिये यह कथन किया है कि ["एकएवाग्र आसीत्"]=एक ही था, यह कथन ठीक नहीं, यदि उक्त भाव इस श्लोक का होता तो ["न कर्माविभागादिति-चेन्नाऽनादित्वात्"] ब्र० सू० २। १। ३५=यदि कोई यह कहे कि प्रलयकाल में कर्म न थे एकमात्र ब्रह्म ही था, यह ठीक नहीं, क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि पाये जाते हैं, इत्यादि सूत्रों में महर्षिव्यास जीव तथा जीवों के कर्मों को अनादि कदापि वर्णन न करते, यदि सजातीय विजातीय भेद के अर्थ सर्वथा भेदशून्य के होते तो कर्मों से सृष्टि की व्यवस्था कदापि न की जाती और न परमात्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त-स्वभाव रह सकता, क्योंकि अव्याकृत रूप से भी जगदाकार परमात्मा को ही होना पड़ता, इत्यादि दोषों से सिद्ध है कि उस समय जगत् के रचने की चेष्टा करने वाला एकमात्र परमात्मा ही था अन्य नहीं।

और जो इन्होंने ["एकः"] शब्द से स्वगत भेद की ["एव"] शब्द से विजातीय भेद की तथा ["न, मिषत्"] शब्द से सजातीय भेद की निवृत्ति करके यह आश्रय लिया है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं इसलिये ["न, मिषत्"] के अर्थ ["आसीत्"] करने चाहियें कि ब्रह्म से भिन्न और कुछ न था, यह इसलिये ठीक नहीं कि "मिषत्" के अर्थ चेष्टा करने के हैं जिसका आशय यह है कि ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई पदार्थ सत्तास्फूर्ति देने वाला न था, इससे यह भाव कदापि नहीं निकलता कि अन्य कोई वस्त्वन्तर न थी, यदि यह भाव होता तो मायावादी ब्रह्म को अविद्या से विलक्षण

कदापि वर्णन न कर सकते, क्योंकि अविद्या को ब्रह्म से विलक्षण कथन करने से ब्रह्म और अविद्या का भेद स्पष्ट सिद्ध हो जाता है फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्म विजातीयभेद शून्य था, क्योंकि विजातीयभेद तो अविद्या से भी बना रहता है, यदि यह कहा जाय कि सृष्टि से पूर्व सजातीयभेद रहित और अपने से भिन्न जाति वाला अन्य कोई पदार्थ सत्तास्फूर्ति देने वाला न था इस अभिप्राय से आत्मा का एकत्व कथन किया गया है, इससे आत्मा का विवर्त्ति उपादानकारण और जगत् का मिथ्या होना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव इस स्थल में जीवब्रह्म की एकता सिद्ध करना मायावादियों का साहसमात्र है।

सं०—अब उस आत्मतत्व से लोकलोकान्तरों की रचना कथन करते हैं—

स इमांल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवीमरो या अधस्तात्ता आपः। २।

पद०—सः। इमान्। लोकान्। असृजत। अम्भः। मरीचीः। मरं। आपः। अदः। अम्भः। परेण। दिवं। द्यौः। प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं। मरीचयः। पृथिवी। मरः। याः। अधस्तात्। ताः। आपः।

अर्थ

सः=उस परमात्मा ने
इमान्=इन
लोकान्=लोकों को
अम्भः=मेघमण्डलमय लोक को

मरीचीः=तेजोमय लोक को	है आश्रय जिसका ऐसा
मरं=पृथिवी लोक को और	जो अन्तरिक्ष लोक वह
आपः=पृथिवी के मध्यवर्त्ती	मरीचयः=मरीचि लोक
आर्द्र लोक को	पृथिवी, मरः=भूलोक मरलोक
असृजत=रचा, जो	याः=जो
दिव्यं, परेण=द्युलोक से ऊपर	अधस्तात्=पृथिवी से नीचे
जलों का कणरूप लोक है	लोक है
अदः, अम्भः=वह अम्भलोक	ताः=वह
द्यौः, प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं=द्युलोक	आपः=आप शब्द से प्रसिद्ध है

भाष्य—यहां प्रकृति के संस्थानविशेष का नाम ["लोक"] है अर्थात् नभोमण्डल में जो मेघमण्डल दृष्टि पड़ता है जिससे वृष्टि होती है उसका नाम ["अम्भलोक"] द्युलोक से नीचे जो सूर्य्य की किरणों का पुंज है उसका नाम ["मरीचीलोक"] जिसमें मरणधर्मा प्राणी निवास करते हैं उसका नाम ["मरलोक"] और जो पृथिवी से नीचे जलों का प्रवाहण पाया जाता है उसका नाम ["अपलोक"] है।

भाव यह है कि जब परमात्मा ने इस सृष्टि को उत्पन्न किया तब यथायोग्य स्थानों में भिन्न २ प्रकार की रचना की अर्थात् कहीं मेघमण्डल की, कहीं प्रकाश की, कहीं पृथिवी की और कहीं पृथिवी के भीतर जो नाना कूपादि स्रोत जिनसे जल निकलते हैं उन लोकों को नाना भावों से विभक्त किया।

सं०—अब उक्त लोकों के लोकपालरूप विराट् की उत्पत्ति कथन करते हैं—

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा

इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्या मूर्च्छयत् । ३ ।

पद०—सः । ईक्षत । इमे । नु । लोकाः । लोकपालान् । नु । सृजै । इति । सः । अद्भ्यः । एव । पुरुषं समुद्धृत्य । अमूर्च्छयत् ।

अर्थ

इमे, लोकाः=उक्त अम्भादि लोकों के
नु=रचने पर
सः=उस परमात्मा ने
ईक्षत=इच्छा की कि इन लोकों के
लोकपालान्=लोकपालों को
नु=निश्चय करके
सृजे=रचूं
इति=यह
सः=उसने विचारा और
अद्भ्यः, एव=जलों से ही
पुरुषं=विराट्रूप पुरुष को
समुद्धृत्य=ग्रहण करके
अमूर्च्छयत्=रचा

भाष्य—प्रकृति के सूक्ष्मरूप अम्भादि लोकों की उत्पत्ति के अनन्तर उस परमात्मा ने विचारा कि यह लोक विना पालन से नष्ट होजावेंगे इसलिये इनका आधारभूत एक लोक रचूं, इस विचारानन्तर उसने विराट्रूप पुरुष को रचा, ["विविधोराजत इति विराट्"] =जो सम्पूर्ण सूर्य्यचन्द्रमादिकों का निवास स्थान हो उसका नाम ["विराट्"] और ["पुरिशेतेति पुरुषः"] =जो इस ब्रह्माण्डरूप पुरि में शयन करे उसका नाम ["पुरुष"] है, यहां "पुरुष" शब्द से तात्पर्य "विराट्" का है परमात्मा का नहीं, यद्यपि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूप पुरियों में अनुगत होने के कारण विराट् को भी ["पुरुष"] शब्द से कथन कर सकते हैं, इसी अभिप्राय से यहां विराट् को पुरुष

शब्द द्वारा कथन किया गया है अर्थात् प्रकृति की द्रवीभूत अवस्था से परमात्मा ने विराट् रूप लोक पाल को रचा जिससे लोकलोकान्तरों की रचना दृढ़ हो गई।

स०—अब उक्त विराट्रूप पुरुष से अग्न्यादि स्थूल भूतों की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयंनिरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतसः आपः। ४।

पद०—तं। अभ्यतपत्। तस्य। अभितप्तस्य। मुखं निरभिद्यत। यथा। अण्डं। मुखात्। वाक्। वाचः। अग्निः। नासिके निरभिद्येतां। नासिकाभ्यां। प्राणः। प्राणात्। वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतां। अक्षीभ्यां। चक्षुः। चक्षुषः आदित्यः। कर्णौ। निरभिद्येतां। कर्णाभ्यां। श्रोत्रं। श्रोत्रात्। दिशः। त्वक्।

निरभिद्यत । त्वचः । लोमानि । लोमभ्यः । ओषधिवनस्पतयः । हृदयं । निरभिद्यत । हृदयात् । मनः । मनसः । चन्द्रमाः । नाभिः । निरभिद्यत । नाभ्याः । अपानः । अपानात् । मृत्युः । शिश्नं । निरभिद्यत । शिश्नात् । रेतः । रेतसः । आपः ।

अर्थ

तं=उस विराट् पुरुष को
अभ्यतपत्=परमात्मा ने अपने ज्ञानरूप तप से तपाया
तस्य=उस
अभितप्तस्य=अभितप्त विराट् का
मुखं=मुख
यथा, अण्डं=अण्डे के समान
निरभिद्यत=फटा और उस
मुखात्=मुख से
वाक्=वाणी
वाचः=वाणी से
अग्निः=अग्नि उत्पन्न हुई, फिर
नासिके, निरभिद्येतां=नासिकायें भेद को प्राप्त हुईं
नासिकाभ्यां=नासिकाओं से
प्राणः=प्राण
प्राणात्=प्राण से
वायुः=वायु उत्पन्न हुआ, फिर
अक्षिणी, निरभिद्येतां=आंखें भेद को प्राप्त हुईं
अक्षीभ्यां=आंखों से
चक्षुः=चक्षुरिन्द्रिय
चक्षुषः=चक्षु: से
आदित्यः=सूर्य्य उत्पन्न हुआ, फिर
कर्णौ, निरभिद्येतां=कर्ण भेद को प्राप्त हुए
कर्णाभ्यां=कर्णों से
श्रोत्रं=श्रोत्रेन्द्रिय
श्रोत्रात्=श्रोत्र से
दिशः=दिशायें उत्पन्न हुईं, फिर
त्वक्, निरभिद्यत=त्वचा भेद को प्राप्त हुई
त्वचः, लोमानि=त्वचा से लोम
लोमभ्यः=लोमों से
ओषधिवनस्पतयः=ओषधि और वनस्पति उत्पन्न हुईं, फिर
हृदयं, निरभिद्यत=हृदय भेद को प्राप्त हुआ
हृदयात्=हृदय से
मनः=मन

मनसः=मन से
चन्द्रमाः=चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, फिर
नाभिः, निरभिद्यत=नाभि भेद को प्राप्त हुई
नाभ्याः=नाभि से
अपानः=अपान
अपानात्=अपान से
मृत्युः=मृत्यु उत्पन्न हुआ, फिर
शिश्नं, निरभिद्यत=उपस्थेन्द्रिय भेद को प्राप्त हुई
शिश्नात्=शिश्न से
रेतः=वीर्य्य
रेतसः=वीर्य्य से
आपः=जल उत्पन्न हुआ।

भाष्य—परमात्मा की इच्छा से जब उस विराट्रूप पुरुष में क्रिया उत्पन्न हुई तब प्रथम उसका मुखरूप अवयव भेद को प्राप्त हुआ, उससे वागिन्द्रिय से अग्नि उत्पन्न हुआ अर्थात् उस विराट् के सर्वोपरि मुखरूप अवयव से वागिन्द्रिय उत्पन्न हुआ, या यों कहो कि प्रकृति के सात्विक अंशों से प्रथम ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई, जैसाकिः—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

यजु० ३१।१२

अर्थ—उस पुरुष के मनरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा, चक्षुःरूप सामर्थ्य से सूर्य्य, श्रोत्ररूप सामर्थ्य से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ, इत्यादि मंत्रों में वर्णन कियागया है, इसी भाव को उक्त श्लोक में वर्णन किया है कि विराट् के ज्ञानप्रधान अवयवों से ज्ञानेन्द्रिय और कर्मप्रधान अवयवों से कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुए और त्वचा से रोमों की उत्पत्ति कथन करने का तात्पर्य्य यह है कि विराट् पुरुष द्वारा पृथिव्यादि रन्ध्रों से प्रथम रोमों के समान सूक्ष्म तृणादि उत्पन्न हुए, उनसे

ओषधियें तथा वनस्पतियें बनीं, फिर विराट् पुरुष के हृदयरूप सामर्थ्य से मनन प्रधान मन इन्द्रिय उत्पन्न हुआ और उससे चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, यहां मन से तात्पर्य्य ज्ञान के साधन-भूत मन का नहीं किन्तु सत्वप्रधान प्रकृति के अवयवविशेष का है, उससे सब के चित्तों को आल्हादित करने वाला चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और उसकी नाभिरूप सामर्थ्य से अपानवायु उत्पन्न हुआ, क्योंकि अपानवायु जो दुर्गन्धि युक्त होने से मृत्यु का साधन है इसलिये इससे मृत्यु उत्पन्न हुई, फिर उस विराट् पुरुष का आर्द्रभूत गतिशील अवयव भेद को प्राप्त हुआ उससे सम्पूर्ण पदार्थों के बीज उत्पन्न हुये और फिर उन तेजोविशिष्ट संतप्त बीजों से आपः=जल उत्पन्न हुए, जैसाकि ["तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"] इत्यादि वाक्यों में तेज से जल की उत्पत्ति कथन कीगई है, यहां उत्पत्ति से तात्पर्य्य आविर्भाव का है वास्तव में कोई भी प्राकृतपदार्थ उत्पन्न नहीं होता, इस प्रकार विराट् को संसार की उत्पत्ति का कारण कथन कियागया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विराट् यहां कोई पुरुषविशेष नहीं किन्तु इस ब्रह्माण्डरूप देह को ही विराट्रूप से कथन कियागया है इसलिये परमात्मा के विकारी होने का दोष नहीं आता।

इति प्रथमःखण्डः
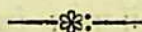
अथ द्वितीयःखण्डः प्रारभ्यते

सं०—अब उक्त अग्न्यादि देवताओं की पुरुष देह में प्रवृत्ति की जिज्ञासा कथन करते हैं:—

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति । १ ।

पद०—ताः । एताः । देवताः । सृष्टाः । अस्मिन् । महति । अर्णवे । प्रापतन् । तं । अशनायापिपासाभ्यां । अन्ववार्जत् । ताः । एनं । अब्रुवन् । आयतनं । नः । प्रजानीहि । यस्मिन् । प्रतिष्ठिताः । अन्नं । अदाम । इति ।

अर्थ

ताः, एताः, देवताः=वह पूर्वोक्त अग्न्यादि देव
सृष्टाः =उत्पन्न होकर
अस्मिन्, महति, अर्णवे=इस बड़े संसाररूपी समुद्र में
प्रापतन्=प्राप्त हुए
तं=उस विराट् देह को
अशनायापिपासाभ्यां=भूख और प्यास करके
अन्ववार्जत्=संयुक्त किया
ताः=वह देवता
इति=इस प्रकार
एनं=परमात्मा से
अब्रुवन्=बोले कि
नः=हमारे लिये
आयतनं=कोई स्थान

प्रजानीहि=नियत करें
यस्मिन्=जिस में
प्रतिष्ठिताः=ठहर कर
अन्नं=भोग्य पदार्थों को
अदाम=भोगें।

भाष्य—यहां देवता शब्द से तात्पर्य्य प्रकाशक होने से अग्न्यादि पदार्थों का है, जब चक्षुरादि इन्द्रिय उत्पन्न किये गये और उन्होंने विराट् रूप देह को भूख, प्यास से संयुक्त किया तब वह इन्द्रिय रूप देव परमात्मा से बोले कि हमारे लिये कोई स्थान दो जिस में ठहर कर अन्न को भक्षण करें अर्थात् अपने२ प्रयत्न को सफल करें, इन्द्रियों का यह कथन उपचार से है मुख्य नहीं, जैसा कि केनोपनिषद् में अग्न्यादिकों का भाषण उपचार से वर्णन किया गया है इसी प्रकार यहां भी परमात्मा के प्रति इन की याचना उपचार से कथन की गई है वास्तव में नहीं अर्थात् जब भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई तो मानो परमात्मा से उन्होंने ऐसे शरीर की याचना की कि जिस में प्रविष्ट होकर वह अपने २ जन्म को सफल करें।

सं०—अब उक्त जिज्ञासानुसार उन के लिये शरीरों का कथन करते हैं:—

ताभ्योगामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।२।

पद०—ताभ्यः। गां। आनयत्। ताः। अब्रुवन्। न। वै। नः। अयं। अलं। इति। ताभ्यः। अश्वं। आनयत्। ताः। अब्रुवन्। न। वै। नः। अयं। अलं। इति।

अर्थ

ताभ्यः=उक्त देवताओं के लिये	अश्वं=अश्व का शरीर
गां=गौ का शरीर	आनयत्=लाया गया तब
आनयत्=प्राप्त किया गया तब	ताः=वह देवता
ताः=वह देवता	इति=इस प्रकार
अब्रुवन्=बोले कि	अब्रुवन्=बोले कि
अयं=यह शरीर	अयं=यह शरीर भी
वै=निश्चय करके	वै=निश्चय करके
नः=हमारे	नः=हमारे
अलं=योग्य	अलं=योग्य
न=नहीं	न=नहीं ।
ताभ्यः=फिर उन के लिये	

भाष्य—जब उन देवों ने शरीर में प्रवेश की आकांक्षा की तो उन को प्रथम गो का शरीर प्राप्त किया गया, यहां गो नाम इन्द्रियों का है अर्थात् इन्द्रियाराम का शरीर उपस्थित किया गया तब उन देवताओं ने कहा कि इन्द्रियों के भोग भोगने योग्य शरीर ही हमारे लिये पर्याप्त नहीं किन्तु हम को कोई अन्य शरीर चाहिये फिर उन को अश्व का शरीर प्राप्त किया गया जिस के अर्थ ["अश्नुते व्याप्नोतीति अश्व."] =जो शीघ्र गति करे उस का नाम ["अश्व"] है अर्थात् गति प्रधान शरीर उन के लिये उपस्थित किया गया, इस का उत्तर भी देवों ने यही दिया कि यह हमारे योग्य नहीं ।

भाव यह है कि पुरुष को इन्द्रियारामी होना उचित नहीं, और नाही केवल गतिकर्मा बन कर ज्ञानहीन होना उचित है, इस कारण उक्त दोनों प्रकार के शरीर देवों ने इसलिये स्वीकार नहीं किये कि इन से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, सत्य है इन्द्रि-

याराभी और केवल कर्मी को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और ज्ञान प्राप्ति न होने से उस का जीवन भी सफल नहीं हो सकता, जैसा कि गीता में भी वर्णन किया है कि इन्द्रियारामी पुरुष की पापरूप आयु होती है और वह व्यर्थ जीता है, इसी प्रकार जो लोहकार की भस्त्रिका के समान केवल श्वासमात्र लेता है उस का जीवन भी व्यर्थ है।

स्मरण रहे कि उक्त शरीरों में अरुचि प्रकट करने का तात्पर्य्य पशु शरीरों के ही कारण नहीं किन्तु जिन मनुष्य शरीरों में भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं उन के त्याग से भी तात्पर्य्य है।

अन्य टीकाकार यहां गो और अश्व के शरीर का ही तात्पर्य्य लेते हैं कि इन का शरीर इन्द्रियादिकों के प्रवेशार्थ लाया गया पर इस बात को वह भी मानते हैं कि गो तथा अश्व पशुमात्र के शरीर का उपलक्षण हैं, जब यह अर्थ गो तथा अश्व से लाभ किये जाते हैं तो केवल इन्द्रियारामी और केवल कर्मी शरीरों का तात्पर्य्य क्यों न लिया जाय, हमारे विचार में उक्त दोनों शरीरों के उपस्थित करने का तात्पर्य्य केवल पशु शरीर से ही नहीं किन्तु पशुवत् जीवन वाले मनुष्य शरीरों से भी है, या यों कहो कि भोग साधन तथा कर्म साधन रूप शरीरों का त्याग करके ज्ञान कर्म प्रधान शरीर की अभ्यर्थना उक्त देवों ने की।

सं०—अब पुरुष शरीर लाने का कथन करते हैं:—

ताभ्यः पुरुषमानयत् ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वावसुकृतम्। ता अब्र-वीद्यथायतनं प्रविशतेति। ३।

पद०—ताभ्यः। पुरुषं। आनयत्। ताः। अब्रुवन्। सुकृतं। वत इति। पुरुषः। वाव। सुकृतं। ताः। अब्रवीत्। यथायतनं। प्रविशत। इति।

अर्थ

ताभ्यः=उक्त देवों के लिये	ताः=उन देवों से परमात्मा
पुरुषं=पुरुष शरीर	इति=इस प्रकार
आनयत्=लाया गया तब	अब्रवीत्=बोला कि
ताः=वह देव	यथायतनं=अपने २ स्थान में
इति=इस प्रकार	प्रविशत=तुम प्रवेश करो
अब्रुवन्=बोले कि	पुरुषः=पुरुष शरीर
सुकृतं=यह शुभ हो	वाव=ही
वत=इस में हम प्रसन्न हैं	सुकृतं=शुभ कर्मों का स्थान है।

भाष्य—अग्न्यादि देवों के प्रार्थना करने पर फिर उनको मनुष्य का शरीर लाया गया तब वह देवता उस शरीर को देखकर प्रसन्न हुए और कहने लगे कि हमारे लिए यह शरीर शुभ हो और फिर ईश्वर ने उसको उस शरीर में प्रवेश करने की आज्ञा दी, वास्तव में यह मनुष्यदेह ही शुभकर्मों का आयतन अर्थात् यह शरीर ज्ञान का साधन होने के कारण अन्य शरीरों से श्रेष्ठ है, इसलिये उक्त देवों ने स्वेच्छानुसार उसको ग्रहण किया, या यों कहो कि ज्ञान का साधन केवल एकमात्र मनुष्य शरीर ही है अन्य पशु पक्षी आदिकों के शरीर नहीं।

सं०—अब अग्न्यादि देवों का उक्त शरीर में प्रवेश कथन करते हैं:—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुःप्राणो-

भूत्वा नासिकेप्राविशदादित्य श्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापोरेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशन् । ४ ।

पद० — अग्निः । वाक् । भूत्वा । मुखं । प्राविशत् । वायुः । प्राणः । भूत्वा । नासिके । प्राविशत् । आदित्यः । चक्षुः । भूत्वा । अक्षिणी । प्राविशत् । दिशः । श्रोत्रं । भूत्वा । कर्णौ । प्राविशन् । औषधिवनस्पतयः । लोमानि । भूत्वा । त्वचं । प्राविशन् । चन्द्रमाः । मनः । भूत्वा । हृदयं । प्राविशत् । मृत्युः । अपानः । भूत्वा । नाभिं । प्राविशत् । आपः । रेतः । भूत्वा । शिश्नं । प्राविशत् ।

अर्थ

अग्निः, वाक्, भूत्वा, मुखं, प्राविशत्=अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुई

वायुः, प्राणः, भूत्वा, नासिके, प्राविशत्=वायु प्राणरूप होकर नासिकाओं में प्रविष्ट हुई

आदित्यः, चक्षुः, भूत्वा, अक्षिणी, प्राविशत्=सूर्य्य चक्षु रूप होकर आँखों में प्रविष्ट हुआ

दिशः, श्रोत्रं, भूत्वा, कर्णौ, प्राविशन्=दिशायें श्रोत्र होकर कानों में प्रविष्ट हुई

ओषधिवनस्पतयः, लोमानि, भूत्वा, त्वचं, प्राविशन्=ओषधि और वनस्पति लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं

चन्द्रमाः. मनः, भूत्वा. हृदयं, प्राविशत्=चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ
मृत्युः, अपानः. भूत्वा, नाभिं, प्राविपत्=मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुआ
आपः, रेतः, भूत्वा, शिश्नं, प्राविशन्=जल वीर्य्य होकर उपस्थेन्द्रिय में प्रविष्ट हुआ

भाष्य—इस श्लोक में अग्न्यादि सब तत्वों का शरीरके यथा योग्य स्थानों में प्रवेश कथन किया गया हैं अर्थात् वागिन्द्रिय अग्नि से शक्ति लाभ करता है इसका कारण कहा गया है कि अग्नि ने वाणीरूप से शरीर में प्रवेश किया, इसी प्रकार वायु तत्व प्राणरूप होकर शरीर में प्रविष्ट हुआ, और आदित्य चक्षःरूप से प्रविष्ट हुआ, क्योंकि आदित्य चक्षुरिन्द्रिय का कारण है, इसी प्रकार दिशा श्रोत्र का कारण होने से वह उसमें प्रविष्ट हुईं और वनस्पतियें तथा ओषधियें शरीर में रोम होकर प्रविष्ट हुईं अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्माण्डरूप शरीर में ओषधियें और वनस्पतियें उसका रोमस्थानीय हैं इसी प्रकार इस मनुष्य शरीर में अन्नरूप ओषधियों से रोमों की उत्पत्ति कथित की गई है, चन्द्रमा मनरूप होकर प्रविष्ट हुआ, जिसका तात्पर्य्य यह है कि जिसप्रकार चन्द्रमा आह्लाद का जनक है इसीप्रकार मन भी प्रसाद का जनक है, अपानवायु का मृत्युरूप से प्रवेश इस कारण कहा गया है कि सर्वसाधारण की मृत्यु अपानवायु द्वारा होती है, जैसे कि पीछे वर्णन किया गया है, और जला का वीर्य्यरूप से प्रवेश इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि अन्नादि सम्पूर्ण खाद्य पदार्थ रसरूप होकर वीर्य्य के जनक होते हैं अन्यथा नहीं, इस प्रकार सब इन्द्रियों ने अपने २ स्थान में प्रवेश किया।

सं०—अब क्षुत्पिपासा का ईश्वर से स्थान मांगना कथन करते हैं:—

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्र जानीहीति। सते अब्रवीदेतास्वेव वां देवता-स्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृ-ह्यते भागिन्यावेवास्यामशनाया-पिपासे भवतः। ५।

पद० - तं। अशनाया।पिपासे। अब्रूतां। आवाभ्यां। अभिप्रजानीहि। इति। सः। ते। अब्रवीत। एतासु। एव। वां। देवतासु। आभजामि। एतासु। भागिन्यौ। करोमि। इति। तस्मात्। यस्यै। कस्ये। च। देवतायै। हविः। गृह्यते। भागिन्यौ एव। अस्यां। अशनायापिपासे। भवतः।

अर्थ

तं=उस परमात्मा को
अशनायापिपासे=भूख और प्यास
इ ति=इसप्रकार
अब्रूतां=बोले कि
आवाभ्यां=हम दोनों के लिये
आभप्रजानीहि=स्थान दान दो
सः=वह परमात्मा
ते=उनसे
इति=इसप्रकार
अब्रवीत्=बोला कि
एतासु=इन
एव=ही
देवतासु=देवताओं में
वां=तुम दोनों को
आभजामि=स्थान देता हूं, और

एतासु=इनमें ही
भागिन्यौ=भाग पाने योग्य
करोमि=करता हूं
च=और
तस्मात्=इसी कारण
यस्यै=जिस
कस्यै=किसी
देवतायै=देवता के लिये
हविः=होम
गृह्यते=ग्रहण किया जाता है तो
अस्यां=उस देवता के लिये
एव=निश्चय करके
भागिन्यौ=भाग पाने वाली
अशनायापिपासे=भूख और प्यास दोनों
भवतः=होती हैं।

भाष्य—जब उक्त सब देवताओं ने अपना २ स्थान ग्रहण कर लिया तब भूख और प्यास ने कहा कि हेपरमात्मन्! हमारे लिये भी कोई स्थान दान दो जिससे हम भी अपने अधिकार के भागी हों अर्थात् भूख और प्यास ने कहा कि हमको भी अग्न्यादि देवताओं के समान कोई स्थानविशेष मिलना चाहिए तब परमात्मा उनसे इस प्रकार बोला कि इन्हीं देवताओं में तुमको भी स्थान देकर भाग पाने योग्य करता हूं अर्थात् खाद्य पदार्थों का जो रस किसी इन्द्रिय को पहुंचाया जाता है उस देवता से भाग पाने वाली भूख प्यास दोनों होती हैं, या यों कहो कि सम्पूर्ण इन्द्रियों के वलिदान के अधिकारी भूख प्यास हैं और वह इसप्रकार कि जब प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ विषय को भोगता है तब उसमें से भूख प्यास अपना भाग अवश्य लेते हैं, जैसाकि स्नान समय पिपासा उससे अवश्य लाभ उठाता है इसीप्रकार जब चक्षुरिन्द्रिय भोजन को देखता है तब मनुष्य अपनी भूख को यत्किञ्चित् शान्त करता है और फिर रसनेन्द्रिय द्वारा भूख प्यास अपनी शान्ति को उससे भी अधिक लाभ करते हैं अधिक क्या सब इन्द्रियों द्वारा भूख और प्यास

अपनी २ शान्ति लाभ करते हैं, इसी अभिप्राय से उक्त दोनों के सभी स्थान वर्णन किये गये हैं ।

इति द्वितीयःखण्डः

— — ❀❀❀ ——

अथ तृतीय:खण्डः प्रारभ्यते

सं०—अग्न्यादि देवता और इन्द्रियादि भोक्ताओं की उत्पत्ति कथन करके अब भोग्यवर्ग की उत्पत्ति वर्णन करते हैं :-

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चा-न्नमेभ्यः सृजा इति । १ ।

पद०—सः । ईक्षत । इमे । नु । लोकाः । च । लोकपालाः । च । अन्नं । एभ्यः । सृजै । इति ।

अर्थ

सः=उस परमात्मा ने
नु=फिर
इति=इस प्रकार
ईक्षत=विचार किया कि जो
इमे=यह पृथिव्यादि
लोकाः=लोक
च=और
लोकपालाः=लोकपाल हैं
एभ्यः=इन के लिये
अन्नं=भोग्य पदार्थों को
सृजै=रचूं ।

भाष्य—इन्द्रियों के गोलक तथा पृथिव्यादि लोक और भोक्ता जीवमात्र लोकपाल इनकी उत्पत्ति होने के पश्चात् परमात्मा ने विचार किया कि अब मैं इनके भोग्यरूप अन्न को उत्पन्न करूं ।

सं०—अब उक्त अन्न की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्त्तिरजायत। या वै सा मूर्त्तिर-जायतान्नं वै तत्। २।

पद०—सः। अपः। अभ्यतपत। ताभ्यः। अभितप्ताभ्यः। मूर्त्तिः। अजायत। या। वै। सा। मूर्त्तिः। अजायत। अन्नं। वै। तत।

अर्थ

सः=उस परमात्मा ने
अपः=जलादि पांच भूतों में
अभ्यतपत्=क्रिया उत्पन्न की और
अभितप्ताभ्यः=तप्त हुए उन
ताभ्यः=भूतों से
मूर्त्तिः, अजायत=मूर्त्ति=अन्न उत्पन्न हुआ
या=जो
सा, मूर्त्तिः=वह अन्नरूप मूर्त्ति
अजायत=उत्पन्न हुई
तत्=वह
एव=ही
वै=निश्चय करके
अन्नं=अन्न है।

भाष्य—["अद्यतेति अन्नं"]=जो खाया जाय उसका नाम ["अन्न"] है, पांच सूक्ष्ममहाभूतों से जब यह ब्रह्माण्ड घनीभूत हो जाता है तब वही मूर्त्तिमान् अन्न कहाता है और यह द्रवीभूत पृथिवी की अवस्थाविशेष से उत्पन्न होता है, इसी को सर्पादि तथा कईएक पक्षी छोटे २ मिट्टी के कणों को खाते हैं, इससे यह तात्पर्य्य नहीं कि केवल जल से ही यह ब्रह्माण्ड मूर्त्तिभाव को प्राप्त होता है किन्तु यह तात्पर्य्य है कि द्रवीभूत पृथिव्यादि तत्वों से यह ब्रह्माण्ड मूर्त्तिभाव को प्राप्त होता है

और इसीलिये यह कथन किया गया है कि तप्त जलों से यह मूर्त्तिभाव को प्राप्त हुआ।

सं०—अब उक्त अन्न के ग्रहणभूत साधन कथन करते हैं:—

तदेतदभिसृष्टं पराङत्यजिघांसत्तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा गृहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्। ३।

पद०—तत्। एतत्। अभिसृष्टं। पराङ्। अत्यजिघांसत्। तत्। वाचा। अजिघृक्षत्। तत्। न। अशक्नोत्। वाचा। गृहीतुं। सः। यत्। ह। एनत्। वाचा। अग्रहैष्यत्। अभिव्याहृत्य। हा। एव। अन्न। अत्रप्स्यत्।

अर्थ

ह=यह प्रसिद्ध है कि
तत्, एतत्, अभिसृष्टं=वह यह रचा हुआ अन्न
एव=निश्चय करके
पराङ्, अत्यजिघांसत्=भक्षण करने वाले से बचने की चेष्टा करने लगा
तत्=उस अन्न को जीव ने
वाचा=वाणी से
अजिघृक्षत्=खाने की इच्छा की, पर उसको
वाचा=वाणी
गृहीतुं=ग्रहण करने को
अशक्नोत्=समर्थ
न=न हुई
यत्=यदि
सः=वह जीवात्मा
एनत्=इस अन्न को
वाचा=वागिन्द्रिय से
अग्रहैष्यत्=ग्रहण कर सकता
हा=तो अन्नं=अन्न के
अभिव्याहृत्य=उच्चारणमात्र से ही
अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता।

भाष्य—वह भोग्य अन्न भक्षण करने वाले से बचने की चेष्टा करने लगा तब उस अन्न को जीव ने वाणी से खाने की चेष्टा की परन्तु वह जीव का भोजनभूत अन्न वाणीमात्र से ग्रहण नहीं किया जाता और जो इसको केवल वाणीमात्र से ग्रहण करना चाहता है उससे मानो यह भाग जाता है अर्थात् जो पुरुष वाणीमात्र से चर्चा करके भूख प्यास मिटाना चाहते हैं वह कदापि कृतार्थ नहीं होते, इससे सिद्ध हुआ कि पुरुष यथावत् अनुष्ठान से अन्नादि पदार्थों को उपलब्ध करे केवल वाणीमात्र से ही अपनी जीवनयात्रा की चेष्टा न करे।

सं०—अब घ्राणेन्द्रिय से अन्न के ग्रहण करने की चेष्टा का निराकरण करते हैं—

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेनगृहीतुम्। स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्। ४।

पद० - तत्। प्राणेन। अजिघृक्षत्। तत्। न। अशक्नोत्। प्राणेन। गृहीतुं। सः। यत्। ह। एनत्। प्राणेन। अग्रहैष्यत्। अभिप्राण्य। हा। एव। अन्नं। अत्रप्स्यत्।

अर्थ

ह=प्रसिद्ध है कि
तत्=उस अन्न को
प्राणेन=घ्राणेन्द्रिय से जीव ने
अजिघृक्षत्=ग्रहण करने की चेष्टा की तब वह
तत्=उसको
प्राणेन=प्राण से
गृहीतुं=ग्रहण करने को
अशक्नोत्=समर्थ
न=नहीं हुआ
यत्=यदि
सः=वह जीव

एनत्=इस अन्न को
प्राणेन=प्राण द्वारा
अग्रहैष्यत्=ग्रहण कर सकता
हा=तो
अन्नं=अन्न को
अभिप्राण्य=सूंघकर
एव=ही
अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता

भाष्य—जो लोग सुगन्धिमात्र चेष्टा से ही अन्नों को ग्रहण करना चाहते हैं वह कदापि कृतार्थ नहीं हो सकते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सुगन्धिमात्र से ही सब तृप्त हो जाते परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि पुरुष अपने यथावत् अनुष्ठान से अन्नादि पदार्थों को उपलब्ध करके सन्तुष्ट हो।

सं०—अब चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उक्त अन्न की प्राप्ति का निराकरण करते हैं—

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा गृहीतुम् । स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यत् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ।५।

पद०—तत् । चक्षुषा । अजिघृक्षत् । तत् । न । अशक्नोत । चक्षुषा । गृहीतुं । सः । यत् । ह । एनत् । चक्षुषा । अग्रहैष्यत् । दृष्ट्वा । हा । एव । अन्नं । अत्रप्स्यत् ।

अर्थ

ह=यह प्रसिद्ध है कि जीव ने
तत्=उक्त अन्न को
चक्षुषा=नेत्रों द्वारा
अजिघृक्षत्=ग्रहण करने की चेष्टा की
तत्=वह
चक्षुषा, गृहीतुं, न, अशक्नोत्= चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने को समर्थ नहीं हुआ
ऱ =यदि

सः=वह	हा=तो, अन्नं=अन्न को
एनत्=इस अन्न को	दृष्ट्वा=देखकर
चक्षुषा, अग्रहैष्यत्=चक्षुओं से ग्रहण कर सकता	एव=ही
	अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता

सं०—अब श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा उक्त अन्न की प्राप्ति का खण्डन करते हैं:—

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नशक्नोच्छ्रोत्रेण गृहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्। ६।

पद०—तत्। श्रोत्रेण। अजिघृक्षत्। तत्। न। अशक्नोत्। श्रोत्रेण। गृहीतुं। सः। यत्। ह। एनत्। श्रोत्रेण। अग्रहैष्यत्। श्रुत्वा। हा। एव। अन्नं। अत्रप्स्यत्।

अर्थ

ह=प्रसिद्ध है कि जीव ने	सः=वह
तत्=उक्त अन्न को	एनत्=इस अन्न को
श्रोत्रेण=श्रवणेन्द्रिय द्वारा	श्रोत्रेण=श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा
अजिघृक्षत्=ग्रहण करने की चेष्टा की	अग्रहैष्यत=ग्रहण कर सकता
	हा=तो
तत्=वह	अन्नं=अन्न को
श्रोत्रेण, गृहीतुं, न, अशक्नोत्= श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण करने में समर्थ न हुआ	श्रुत्वा=सुनकर
	एव=ही
	अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता।
यत्=यदि	

सं०—अब त्वचा से उक्त अन्न की प्राप्ति का निषेध कथन करते हैं:—

तत्त्वचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत् त्वचा ग्रही-तुम्। स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्। ७।

पद०—तत्। त्वचा। अजिघृक्षत्। तत्। न। अशक्नोत्। त्वचा। गृहीतुं। सः। यत्। ह। एनत्। त्वचा। अग्रहैष्यत्। स्पृष्ट्वा। हा। अन्नं। अत्रप्स्यत्।

अर्थ

ह=प्रसिद्ध है कि जीव ने
तत्=उक्त अन्न को
त्वचा=स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा
अजिघृक्षत्=ग्रहण करने की चेष्टा की
तत्=वह
त्वचा, गृहीतुं, न, अशक्नोत्=त्वगिन्द्रिय से ग्रहण करने को समर्थ न हुआ
यत्=यदि
सः=वह
एनत्=इस अन्न को
त्वचा=त्वचा से
अग्रहैष्यत्=ग्रहण कर सकता
हा=तो
अन्नं=अन्न को
स्पृष्ट्वा=स्पर्श करके
एव=ही
अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता।

सं०—अब केवल मन से उक्त अन्न की प्राप्ति का निषेध कथन करते हैं:—

तन्मनसाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसाग्र-

हीतुम् । स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्या
त्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् । ८ ।

पद०—तत् । मनसा । अजिघृक्षत् । तत् । न । अशक्नोत् । मनसा । गृहीतुं । सः । यत् । ह । एनत । मनसा । अग्रहैष्यत् । ध्यात्वा । हा । एव अन्नं । अत्रप्स्यत् ।

अर्थ

ह=प्रसिद्ध है कि जीव ने
तत्=उक्त अन्न को
मनसा=मन से
अजिघृक्षत्=ग्रहण करने की चेष्टा को
तत्=वह
मनसा, गृहीतुं, न, अशक्नोत्= मनसे ग्रहण करने को समर्थ न हुआ।
यत्=यदि
सः=वह
एनत्=इस अन्न को
मनसा=मन से
अग्रहैष्यत्=ग्रहण कर सकता
हा=तो
अन्नं=अन्न को
ध्यात्वा=ध्यान करके
एव=ही
अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता ।

सं०—अब शिश्नेन्द्रिय द्वारा उक्त अन्न को प्राप्ति का निषेध कथन करते हैं—

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन गृही-
तुम् । स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य
हैवान्नमत्रप्स्यत् । ९ ।

पद०—तत् । शिश्नेन । अजिघृक्षत् । तत् । न । अशक्नोत् ।

शिश्नेन । गृहीतुं । सः । यत् । ह । एनत् । शिश्नेन । अग्रहैष्यत् । विसृज्य । हा । एव । अन्नं । अत्रप्स्यत ।

अर्थ

ह=प्रसिद्ध है कि जीव ने
तत्=उक्त अन्न को
शिश्नेन=उपस्थेन्द्रिय द्वारा
अजिघृक्षत्=ग्रहण करने की चेष्टा की
तत्=वह
शिश्नेन, गृहीतुं, न, अशक्नोत्= शिश्नेन्द्रिय से ग्रहण करने को समर्थ न हुआ
यत्=यदि
सः=वह
एनत्=इस अन्न को
शिश्नेन=शिश्नेन्द्रिय से
अग्रहैष्यत्=ग्रहण कर सकता
हा=तो
अन्नं=अन्न को
विसृज्य=त्यागकर
एव=ही
अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता

भाष्य—उक्त सब श्लोकों का भाव पूर्ववत् ही जानना चाहिये ।

सं०—अब अपानवायु द्वारा अन्न के ग्रहण करने का कथन करते हैं—

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः । १० ।

पद०—तत् अपानेन । अजिघृक्षत् । तदा । आवयत् । सः । एषः । अन्नस्य । ग्रहः । यद्वायुः ! अन्नायुः । वै । एषः । यद्वायुः ।

अर्थ

सः=जीव ने जब
तत्=उक्त अन्न को
अपानेन=अपान वायु द्वारा
अजिघृक्षत्=ग्रहण करने की चेष्टा की
तदा=तब उसने

आवयत्=अन्नको ग्रहण किया
यद्वायुः=जो अपान वायु है वही
एषः=यह
अन्नस्य=अन्न का
ग्रहः=ग्राहक है और
एषः=यह
यद्वायुः=जो अपानवायु है वह
वै=निश्चय करके
अन्नायुः=अन्न द्वारा आयु की वृद्धि करने वाला है

भाष्य—["रसरूपेणान्नमपानयतीत्यपानम्"]=जो खाद्य पदार्थों का रस बनाकर नीचे के सब भागों में पहुंचाता तथा अनुपयुक्त भाग को बाहर निकाल देता है उसका नाम ["अपान"] है, और अन्न द्वारा आयु का हेतु होने से इसी का नाम ["अन्नायु"] कथन किया गया है, वाणी आदि इन्द्रियों से अन्न का ग्रहण इस लिये कथन नहीं किया गया कि वह अन्न को रस रूप नहीं बना सकते, इसलिये अपान-वायु को ही मुख्यतया अन्न का ग्रहण करने वाला कथन किया गया है अर्थात् जिस पुरुष का उक्त वायु अपना काम पूर्ण या नहीं कर सकता उसका जीवित रहना कठिन है, अपानवायु के दोष युक्त होने पर जो पुरुष आग्रहवशात् अन्न का भक्षण कर भी जाय तो वह उसको लाभकारी नहीं होता, इसी अभिप्राय से पूर्वोक्त श्लोकों में वर्णन किया है कि ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय अन्न के ग्रहण करने में समर्थ नहीं, शिश्नेन्द्रिय जिसको प्रजननेन्द्रिय भी कहते हैं उसका ग्रहण यहां अन्य कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है, इससे सिद्ध है कि कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय द्वारा अन्न का ग्रहण नहीं होता किन्तु अपानवायु द्वारा ही उसका ग्रहण होता है और इसीलिये उसको अन्नायु कहा गया है ।

सं०—अब जीव के प्रवेशक द्वारों का कथन करते हैं—

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति । स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोहमिति । ११ ।

पद०—सः । ईक्षत । कथं । नु । इदं । मदृते । स्यात् । इति । सः । ईक्षत । कतरेण । प्रपद्यै । इति । सः । ईक्षत । यदि । वाचा । अभिव्याहृतं । यदि । प्राणेन । अभिप्राणितं । यदि । चक्षुषा । दृष्टं । यदि । श्रोत्रेण । श्रुतं । यदि । त्वचा । स्पृष्टं । यदि । मनसा । ध्यातं । यदि । अपानेन । अभ्यपानितं । यदि । शिश्नेन । विसृष्टं । अथ । कः । अहं । इति ।

अर्थ

सः=उस जीव ने
इति=इस प्रकार
नु=पुनः
ईक्षत=विचारा कि
इदं=यह शरीरूप देह
मदृते=मेरे विना
कथं=कैसे
स्यात्=रहेगा
च=और
कतरेण=किस मार्ग से इस देह में
प्रपद्यै=प्रवेश करूं
इति=ऐसा
सः=उस जीव ने
ईक्षत=विचार किया
अथ=इस के अनन्तर वह इस प्रकार विचारने लगा कि
यदि=यदि

वाचा=वाणी द्वारा
अभिव्याहृतं=बोलने का कार्य्य करूं
यदि=यदि
प्राणेन=घ्राणेन्द्रिय से
अभिप्राणितं=सूंघने का कार्य्य करूं
यदि=यदि
चक्षुषा=नेत्रों से
दृष्टं=देखने का कार्य्य करूं
यदि=यदि
श्रोत्रेण=श्रोत्रेन्द्रिय से
श्रुतं=सुनने का कार्य्य करूं
यदि=यदि
त्वचा=स्पर्शेन्द्रिय से
स्पृष्टं=स्पर्श का कार्य्य करूं
यदि=यदि
मनसा=मन से
ध्यातं=ध्यान करूं
यदि=यदि
अपानेन=अपानवायु से
अभ्यपानितं=भोजन को पचाऊं
यदि=यदि
शिश्नेन=उपस्थेन्द्रिय से
विसृष्टं=वीर्य्यादि का त्याग करूं तो
अहं=मैं
क=क्या हुआ।

भाष्य—जीव ने विचार किया कि यह शरीररूप देह मेरे बिना कैसे रहेगा और इस में प्रवेश भी करूं तो किस मार्ग द्वारा कर सकता हूं ? यह विचार कर फिर सोचने लगा कि यदि वाणी द्वारा बोलने का कार्य्य करूं, त्वचा से स्पर्श का कार्य्य करूं इत्यादि तो मैं क्या हुआ अर्थात् जीवन का उद्देश्य क्या समझूं, या यों कहो कि जीव ने यह ईक्षण किया कि यदि मैं इन इन्द्रियों के संघातरूप शरीर में प्रविष्ट होकर इन्द्रियारामी हुआ तो क्या हुआ, अत एव मुझ को इन्द्रियों का आश्रय नहीं लेना चाहिये और नाहीं इन के द्वारों द्वारा मुझ को शरीर में प्रविष्ट होना चाहिये, सत्य है जो पुरुष इन्द्रियों का सहारा लेता है अर्थात् इन्द्रियारामी है उस का शरीर में प्रविष्ट होना निष्फल है, जैसा कि गीता में भी कहा है कि

["अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति"] =हे अर्जुन जो इन्द्रियारामी है वह पापरूप आयु वाला होने से व्यर्थ ही इस संसार में जीता है, इस से यह सूचित किया है कि पुरुष को किसी भी इन्द्रिय के आश्रित होकर नहीं रहना चाहिये।

सं०—अब ब्रह्मरन्ध्र द्वारा जीव का शरीर में प्रवेश कथन करते हैं:—

स एवमेव सीमानं विदार्य्यैतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विद्दतिर्नामद्वास्तदेतन्नान्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथो ऽयमावसथोऽयमावसथइति । १२ ।

पद०—सः । एवं । एव । सीमानं । विदार्य्य । एतया । द्वारा । प्रापद्यत । सा । एषा । विद्दतिः । नाम । द्वाः । तदेतत् । नान्दनं । तस्य । त्रयः । आवसथाः । त्रयः । स्वप्नाः । अयं । अवसथः । अयं । आवसथः । अयं । आवसथः । इति ।

अर्थ

सः=वह जीवात्मा
एवं, एव, सीमानं=इस ही सीमा को
विदार्य्य=भेदन करके
एतया, द्वारा=उसी मार्ग से
प्रापद्यत, इति=शरीर को प्राप्त हुआ
सा, एषा, द्वाः=वह यह मार्ग
विद्दतिः=छेदन किया हुआ
तदेतत्=वह यह
नान्दनं, नाम=आनन्द का हेतु होने से "नान्दन" नाम वाला है
तस्य=उस के
त्रयः=तीन
आवसथाः=स्थान हैं

त्रयः=तीन
स्वप्नाः=स्वप्न हैं, वह
अयं=यही
आवसथः=स्थान है
अयं=यही
आवसथः=स्थान है
अयं=यही
आवसथः=स्थान है।

भाष्य—जब जीवात्मा इस शरीररूप पिण्ड में प्रवेश करता है तब कपालत्रय की सन्धिस्थानरूप ब्रह्मरन्ध्र द्वारा भीतर जाता है, इसी लिये इस स्थान का नाम नान्दन=आनन्द का देने वाला है, क्योंकि मुक्त पुरुषों का आगमन इसी द्वार के द्वारा होता है, इस जीव की माता, पिता तथा स्व शरीर यह तीन अवस्था और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति यह तीन स्वप्न हैं अर्थात् माता पिता के रज वीर्य्य समय में तथा अपने स्वशरीर के गर्भाधान समय में जीव इन अवस्थाओं में स्वप्न के समान मुह्यमान=ज्ञान से रहित होता है, इस प्रकार उक्त तीन अवस्थाओं से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं का भेद और इन सब अवस्थाओं में जीव एक है।

मायावादी ["त्रयः स्वप्नाः"] के यह अर्थ करते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति यह तीनों अवस्था स्वप्न के समान मिथ्या हैं, उन का यह कथन ठीक नहीं क्योंकि इन के कथनानुसार यह भाव माना जाय तो प्रथम अनिष्टापत्ति इन के मत में यह होगी कि सुषुप्ति अवस्था में जीव ब्रह्म का अभेद मिथ्या हो जायगा और ऐसा होने से इनका ब्रह्म भाव भी मिथ्या हुआ, दूसरी बात यह है कि ['वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्"] ब्र० सू० २। २। २९ में महर्षि व्यास ने जाग्रतावस्था को स्वप्नावस्था से विलक्षण माना है अर्थात् यह सिद्ध किया है कि जाग्रतावस्था स्वप्नावस्था के समान मनोरथमात्र नहीं, इस से सिद्ध है कि "त्रयः, स्वप्नाः" के अर्थ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के

नहीं किन्तु जीव की उक्त तीनों अवस्थाओं के हैं जिन में माता पिता के रजवीर्य तथा गर्भाधान के समय में स्वप्नावस्था के तुल्य वह तत्व को नहीं जानता, यह यथार्थ अर्थ हैं और जो इन्होंने संसार को मिथ्या सिद्ध करने के लिये उक्त तीनों को स्वप्नरूप माना है सो ठीक नहीं।

सं०—अब शरीर में प्रविष्ट हुए जीवात्मा के ज्ञान का महत्व कथन करते हैं:—

स जातो भूतान्यभिव्यैच्चत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म-तत्तममपश्यदिदमदर्शमिति ।१३।

पद०—सः। जातः। भूतानि। अभिव्यैच्चत्। किं। इह। अन्यं। वा। अवदिषत्। इति। सः। एतं। एव। पुरुषं। ब्रह्म। तत्। तमं। अपश्यत्। इदं। अदर्शं। इति।

अर्थ

सः जातः=उक्त देह में प्रविष्ट हुआ जीवात्मा
भूतानि=भूतों को
अभिव्यैच्चत्=विवेक द्वारा जानता हुआ
किं, इह, अन्यं=इस संसार में और क्या
अवदिषत्=कथन करूं
इति=यह विचार करता है
सः=वह
वा=निश्चय करके
एतं, एव, पुरुष=उक्त परमात्म-रूप पुरुष को ही
तत्, तमं, ब्रह्म=अत्यन्त व्याप्त करके सर्वोपरि ब्रह्म
अपश्यत्=जानता है कि
इदं, अदर्शं, इति=इस को मैंने ब्रह्म समझा।

भाष्य—इस शरीर में प्रविष्ट हुआ जीवात्मा तत्त्ववेत्ता गुरु के उपदेश द्वारा आकाशादि भूतों के तत्व को जानता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परमात्मा की सत्ता से उत्पन्न होता और उसी की सत्ता से लय होता है क्या मैं उस परमात्मा से भिन्न को ब्रह्म कथन करूंगा किन्तु उसी परमात्मा को ब्रह्मरूप से कथन करूंगा, जैसाकि ["त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि"]= तुमको ही मैं ब्रह्मरूप से कथन करता हूँ अन्य किसी को नहीं, इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि इस शरीर में जीवरूप से प्रविष्ट हुआ २ आत्मा तत्त्वमस्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर यह कथन करता है कि मैं ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य पदार्थ को तत्त्व कथन नहीं करता किन्तु ब्रह्म को ही आत्मभाव से कथन करता हूं कि मैं ब्रह्म हूँ, यह अर्थ इस श्लोक के कदापि नहीं, क्योंकि प्रथम तो ब्रह्म जीवरूप से इस शरीर में प्रविष्ट नहीं हुआ और नाहीं उपदेश द्वारा वह अपने आपको ब्रह्मभाव से कथन करता है किन्तु प्रकृत यह है कि जब जीवात्मा का तत्त्ववेत्ता गुरु के द्वारा विवेक हो जाता है तब वह भूतों को जानता हुआ परमात्मा का साक्षात्कार करता है अन्यथा नहीं।

सं०—अब उक्त साक्षात्कार का स्वरूप कथन करते हैं—

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो हवै नाम तमिद-न्द्रं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्ष-प्रिया इव हि देवाः । १४ ।

पद०—तस्मात् । इदन्द्रः नाम । इदन्द्रः । हवै । नाम । तं । इदन्द्रं । सन्तं । इन्द्रं । इति । आचक्षते । परोक्षेण । परोक्षप्रियाः । इव । हि । देवाः । परोक्षप्रियाः । इव । हि । देवाः ।

अर्थ

तस्मात्=उक्त अपरोक्ष दर्शनसे
इदन्द्रः, नाम=परमात्मा का नाम इदन्द्र प्रसिद्ध है
हवै=निश्चय करके
इदन्द्रं, नाम=इदन्द्र नाम वाले
तं इदन्द्रं, सन्तं=इस इदन्द्र को ही
परोक्षेण=परोक्ष से
इन्द्रं=इन्द्र
आचक्षते=कहते हैं क्योंकि
हि=निश्चय करके
परोक्षप्रियाः, इव, देवाः,इति=विद्वान् लोग परोक्ष में प्यार करने वाले होते हैं

भाष्य—अपरोक्ष दर्शन के कारण परमात्मा का नाम ["इदन्द्र"] है, यह शब्द इदं पूर्वक दृश धातु से बना है जिसके अर्थ "देखा गया" हैं, इदन्द्र के दकार का लोप हो जाने से इसी को ["इन्द्र"] कहते हैं, यह लोप परोक्ष है और विद्वान् लोग परोक्ष से प्रीति करते हैं, अतएव इदन्द्र के अर्थ परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा के हैं, इस प्रकार साक्षात्भाव को प्राप्त हुआ परमात्मा इदन्द्र तथा इन्द्र शब्द से कथन किया गया है ['परोक्षप्रिया इव हि देवाः"] पाठ दोवार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है ।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि इस उपनिषद् के प्रारम्भ में अध्यारोप द्वारा ब्रह्म का जीवरूप से प्रवेश कथन किये और यहां अपवाद से उसके जीवभाव को मिटाकर उसी को ब्रह्मरूप से सिद्ध किया है, निष्प्रपंच ब्रह्म में मिथ्याभाव के आरोप द्वारा संसार की कल्पना का नाम इनके मत में

"अध्यारोप"] और उस मिथ्या कल्पना को मिटाकर जीव को ब्रह्ममात्र सिद्ध करने का नाम इनके मत में ["अपवाद"] है, इस प्रकार अध्यारोप तथा अपवाद से यहां इन्होंने जीव को ब्रह्म बनाया है, सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि यह भाव इस खण्ड में होता तो ["परोक्षप्रिया इव हि देवाः" = विद्वान् लोग परमात्मा के परोक्ष नाम में प्रीति रखते हैं, यह कथन न किया जाता, क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है तो कौन परोक्ष किसका यह नाम और किसका अपवाद, इससे सिद्ध है कि यहां इन्द्र नामक ब्रह्म की परोक्ष इदन्द्र नाम से उपासना कथन की गई है इसलिये उपास्यउपासकभाव से वैदिक भेदवाद की सिद्धि स्पष्ट है।

इति तृतीयःखण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः प्रारभ्यते

सं० —अब रज वीर्य द्वारा पुरुष शरीर की उत्पत्ति कथन करते हुए जीव प्रथम जन्म का वर्णन करते हैं:—

पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रे तस्तदेतत्सर्वेभ्योङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवा-त्मानं बिभर्त्ति तद्यदास्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म । १ ।

पद०—पुरुषे । हवै । अयं । आदितः । गर्भः । भवति । यत् ।

एतत्। रेतः। तत्। एतत्। सर्वेभ्यः। अङ्गेभ्यः। तेजः। सम्भूतं। आत्मनि। एव। आत्मानं। विभर्त्ति। तत्। यदा। स्त्रियां। सिञ्चति। अथ। एनं। जनयति। तत्। अस्य। प्रथमं। जन्म।

अर्थ

अयं=यह जीव
वै=निश्चय करके
पुरुषे=पुरुष शरीर में
आदितः=प्रथम
गर्भः=वीर्य्यरूप
भवति=होता है
यत्=जो
एतत्=यह
रेत=वीर्य्य है
तत्-वह
एतत=यह
तेजः=तेजरूप
सर्वेभ्यः, अङ्गेभ्यः=सब अङ्गों से
सम्भूतं=उत्पन्न होता है, और
आत्मानं=जीव को
आत्मनि=अपने शरीर में
एव=ही
विभर्ति=धारण करता है
तत्=उस वीर्य्य को
यदा=जब ऋतु काल में पुरुष
स्त्रियां=स्त्री में
सिञ्चति=सिञ्चन करता है
अथ=तब
एनं=यह जीव
जनयति=उत्पन्न होता है इस कारण
अस्य=इस जीव का
तत्=वह वीर्य्य सिञ्चन
प्रथमं=प्रथम
जन्म=जन्म है।

भाष्य—इस श्लोक में पुरुष स्त्री के रजवीर्य्य द्वारा शरीर की उत्पत्ति कथन की गई है और इसी को जीव का प्रथम जन्म कथन किया है अर्थात् पुरुष का तेजस्वी वीर्य्य जो सब अङ्गों से उत्पन्न होता है उस वीर्य्य को जब पुरुष ऋतुकाल में स्त्री में सिञ्चन करता है तब उससे यह जीव उत्पन्न होता है यही वीर्य्यसिञ्चन इस जीव का प्रथम जन्म है।

भाव यह है कि पिता के सब अंगों का तेज लेकर जब वीर्य्य स्त्री में गर्भाधानरूप से स्थिर कियाजाता है तब उससे सन्तान उत्पन्न होती है, अतएव जिस प्रकार गर्भाधान समय में शुद्धक्षेत्र की आवश्यकता है इसी प्रकार पिता के शरीर में शुद्ध वीर्य्य की आवश्यकता है, जब क्षेत्र और वीर्य्य दोनों परिपक्व शुद्ध और तेजस्वी होते हैं तभी उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है, या यों कहो कि पिता का शुद्ध वीर्य्य जब उत्तम क्षेत्र में पड़ता है तब वह शुद्ध सन्तान को उत्पन्न करता है।

सं०—अब जीव का स्त्री के गर्भ में तदात्मभाव को धारण करना कथन करते हैं:—

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यै-तमात्मानमत्रगतं भावयति ।२।

पद०—तत्। स्त्रियाः। आत्मभूयं। गच्छति। यथा। स्वं। अङ्गं। तथा। तस्मात्। एनां। न। हिनस्ति। सा। अस्य। एतं। आत्मानं। अत्र। गतं। भावयति।

अर्थ

यथा=जैसे
स्वं=अपना
अङ्गं=अङ्ग होता है
तथा=वैसे ही
तत्=वह वीर्य्य
स्त्रियाः=स्त्री के
आत्मभूयं=तदात्मभाव को
गच्छति=प्राप्त होता है
तस्मात्=इस कारण
एनां=उस स्त्री को वह वीर्य्य
न, हिनस्ति=पीड़ित नहीं करता
सा=वह स्त्री
अत्र=अपने गर्भरूप आत्मा में
अस्य=उक्त पति के

एतं=इस आत्मानं आत्मा को
गतं=प्राप्त हुए भावयति=पालन पोषण करती है

भाष्य—जब पुरुष स्त्री में गर्भाधान करता है तब जैसे अपना अङ्ग होता है वैसे ही वह वीर्य्य स्त्री के गर्भ में तदात्मभाव को प्राप्त होता है इसीकारण गर्भावस्था में स्त्री को कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता और वह अपने पति के प्राप्त हुए इस आत्मा का बड़े उत्साह से पालन पोषण करती है।

सं०—अब उक्त भाव से स्त्री का सत्कार कथन करते हुए द्वितीय जन्म का वर्णन करते हैं:—

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री-गर्भं विभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति आत्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीय जन्म। ३।

पद०—सा। भावयित्री। भावयितव्या। भवति। तं। स्त्रीगर्भ। विभर्ति। सः। अग्र। एव। कुमारं। जन्मनः। अग्रे। अधिभावयति। सः। यत्। कुमारं। जन्मनः। अग्रे। अधिभावयति। आत्मानं। एव। तत्। भावयति। एषां। लोकानां। सन्तत्यै। एवं। सन्तताः। हि। इमे। लोकाः। तत्। अस्य। द्वितीयं। जन्म।

अर्थ

सा, भावयित्री=वह गर्भवती स्त्री
तं, गर्भं=उस गर्भ को
बिभर्ति=धारण करने के कारण
भावयितव्या=पति के पालन पोषण करने योग्य
भवति=होती है
एषां=इन
लोकानां=लोकों के
सन्तत्यै=वृद्ध्यर्थ
सः=वह पिता
अग्रे, एव, जन्मनः, अग्रे=जन्म से पूर्व ही गर्भ में
कुमारं=बालक के
यत्=जो संस्कार
अधिभावयति=करता है
च=और
जन्मतः=जन्म के
अग्रे=पश्चात्
सः=वह पिता बालक के संस्कार
अधिभावयति=करता है
तत्=वह
आत्मानं=अपने
एव=ही
भावयति=संस्कार करता है
हि=क्योंकि
इमे, लोकाः=ये लोक
एवं=इसी प्रकार
सन्तताः=वृद्धि को प्राप्त होते हैं
तत्=इसीलिये
अस्य=इस जीव का यह
द्वितीयं=दूसरा
जन्म=जन्म है

भाष्य—वह गर्भवती स्त्री उस गर्भ को आत्मत्वेन धारण करके अपने खान पानादि रसों से उसका पालन पोषण करती है इसलिये पति को उचित है कि वह उसका सब प्रकार से सत्कार करे, और जो पिता अपने सन्तान के जन्म से पूर्व गर्भ में ही पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयनादि संस्कार और जन्म के पश्चात् जातकर्मादि संस्कार करता है वह मानो अपने ही संस्कार करता है, क्योंकि बालक पिता का अङ्ग होता है, और जो उक्त प्रकार से संस्कारों द्वारा अपनी सन्तान को संस्कारी

बनाता है वह वृद्धि को प्राप्त होता है और यही जीव का दूसरा जन्म कहाता है।

भाव यह है कि उत्तम सन्तनोत्पत्ति के लिये ही स्त्री पुरुष का परम प्रेम होना चाहिये न कि इन्द्रियाराम के लिये, जो पुरुष इन्द्रियारामी हैं वह शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं जैसाकि पीछे वर्णन किया गया है, इसी अभिप्राय से इस श्लोक में यह भाव कथन किया है कि जो पुरुष स्त्री पुंसवन तथा जातकर्मादि संस्कारों द्वारा सन्तान की उत्पत्ति करते हैं वह परस्पर तथा अन्य पुरुषों द्वारा पूजा के योग्य होते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि पुत्र जन्म से प्रथम पिता अपने ब्रह्मचर्य्य द्वारा मानो प्रथम ही पुत्र को निवास स्थान देता है अर्थात् सर्वाङ्ग परिपूर्ण पुरुष ही स्वसन्तति अवच्छेद का कारण हो सकता है अन्य नहीं, या यों कहो कि जिसके अङ्गों में रसरूपवीर्य्य ने पुष्टि पाई है वही पुरुष विच्छेद रहित पुत्रपौत्रादि लोकों का कारण होता है अन्य नहीं, इसी अभिप्राय से यह कथन किया है कि पुत्र पिता का ही द्वितीय जन्म है अर्थात् वही दूसरे रूप से प्रगट हुआ है, यदि पिता अपने प्रथम रूप में सन्तति के सामर्थ्य वाला न होता तो वह इस जन्म को न दे सकता और इसी आशय को लेकर कई एक ग्रन्थकारों ने भी यह कथन किया है कि पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है।

सं०—अब तृतीय जन्म कथन करते हैं—

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो

वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म । ४ ।

पद०—सः । अस्य । अयं । आत्मा । पुण्येभ्यः । कर्मभ्यः । प्रतिधीयते। अथ । अस्य । अयं । इतरः । आत्मा । कृत्यकृत्यः । वयोगतः । प्रैति । सः । इतः । प्रयन् । एव । पुनः । जायते । तत् । अस्य । तृतीयं । जन्म ।

अर्थ

स =वह
अयं=यह
आत्मा=आत्मरूप पुत्र
अस्य=इस पिता के
पुण्येभ्यः, कर्मभ्यः=शास्त्रोक्त पवित्र कर्मों से
प्रतिधीयते=स्थानापन्न होता है
अथ=इसके अनन्तर
अस्य =इसका पिता
अयं, इतरः=यह दूसरा
आत्मा=शरीर
कृतकृत्य.=कृतकार्य्य हुआ २
वयोगतः=अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त होकर
प्रैति=मरण को प्राप्त होता है, और
सः=वह
इतः=इस लोक से
प्रयन्=गया हुआ
पुनः, एव=फिर भी
जायते=उत्पन्न होता है
तत=वह
अस्य =इस जीव का
तृतीयं, जन्म=तीसरा जन्म है ।

भाष्य—प्रथमावस्था में ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण होना पुरुष का प्रथम जन्म तथा उसके अंगों से रसरूप वीर्य्य निकलकर पुत्र का उत्पन्न होना द्वितीय जन्म और उसको अपने स्थान में प्रतिनिधि करके जीर्णावस्था को प्राप्त हुआ जो मरकर अन्यत्र जन्म लेता है वह इसका तीसरा जन्म कहाता है अर्थात् प्रथम जीव

अपने माता पिता द्वारा जन्म लेता है, या यों कहो कि उसका प्रथम जन्म माता पिता रूप से होता है जो किसी का माता और किसी का पिता बनता है और फिर पूर्ण आयु को भोगता हुआ मरण को प्राप्त होकर इस लोक से गया हुआ फिर जन्म धारण करके किसी का पिता बनकर और उसको अपने स्थानापन्न करके इस शरीर को छोड़कर तृतीय जन्म धारण करता है, इस प्रकार भूत भविष्य तथा वर्त्तमान रूप से जीव के तीन जन्म हैं, इसी प्रकार अनेक जन्मों को धारण करके यह संसृतिचक्र जीव का तबतक नहीं छूटता जब तक पूर्ण ज्ञान न हो।

भाव यह है कि इस संसार रूप चक्र मे विरक्त होने के लिये यहां जन्म निरूपण किये गये हैं, अतः पुरुष को उचित है कि वह शमदमादि द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करे ताकि इस संसृतिचक्र से मुक्त होकर आनन्द को उपलब्ध कर सके, यहां प्रसङ्गसङ्गति से यह भी जान लेना चाहिये कि जन्मान्तर धारण करने के लिये कोई विलम्ब नहीं लगता किन्तु तृणजलौका=घास के कीड़े के समान तत्काल ही जन्मान्तर को धारण करता है अर्थात् जिस प्रकार उक्त कीड़ा आगे के तृणों का अवलम्बन करके पीछे के छोड़ देता है इसी प्रकार जीव जन्मान्तर को प्राप्त होकर पूर्वजन्म को त्याग देता है बीच में पौराणिक देहधारण के समान कोई विलम्ब नहीं लगता।

सं०—अब उक्त दुःख रूप जन्मों से छूटने का उपाय कथन करते हैं:—

तदुक्तमृषिणा गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतंमापुर

आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा नि-रदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो-वामदेव एवमुवाच । ५ ।

पद०—तत् । उक्तं । ऋषिणा । गर्भे । नु । सन् । ननु । एषां । अवेदं । अहं । देवानां । जनिमानि । विश्वाः । शतं । मा । पुरः । आयसीः । अरक्षन् । अधः । श्येनः । जवसा । निरदीयं । इति । गर्भे । एव । एतत् । शयानः । वामदेवः । एवं । उवाच ।

अर्थ

तत्=यह
ऋषिणा=ऋषि ने
उक्तं=कहा कि
गर्भे=गर्भ में
नु=ही
सन्=स्थित
वामदेवः=वामदेव
एवं=इस प्रकार
उवाच=बोला कि
ननु=निश्चय करके
अहं=मैं
एषां=इन
देवानां=अग्न्यादि देवों के
विश्वाः=सम्पूर्ण
जनिमानि=जन्मों को
अवेदं=जानता हूँ
मा=मुझको
शतं=सैकड़ों
आयसीः=लोहनिर्मित शृंखला के समान बने हुए
पुरः=शरीर
अधः=परमात्मज्ञान से प्रथम
अरक्षन्=रक्षा करते थे परन्तु अब मैं
श्येनः, इति=बाज के समान जाल को भेदन करके
जवसा=परमात्मज्ञानरूप सामर्थ्य से
एतत्=इस
गर्भे, एव=गर्भ में ही
शयानः=सोया हुआ
निरदीयं=निकल आया हूं ।

भाष्य—उक्त मन्त्र ऋग्० ३। ६। १६। १ का है जिसमें उपनिषत्कार ने ["गर्भ एवैतच्छ्यानो वामदेव एवमुवाच"] इतना पाठ मंत्र के आशयानुकूल बढ़ाया है, उक्त मंत्र का ऋषि वामदेव होने के कारण उपनिषत्कार का कथन है कि वामदेव गर्भ में ही कहाता है परमात्मज्ञान से प्रथम मैंने सब जन्मों को देखते हुए यह भी अनुभव किया कि सहस्रों लोह की शलाकावत् दृढ़ बन्धन रूप शरीरों से मैं बंधा हुआ था जब मैंने परमात्मज्ञान को प्राप्त किया तो बाज के समान उक्त जाल-रूप शरीरों को तोड़कर मुक्त हुआ हूँ।

इस मन्त्र पर विशेष विचार करने से प्रतीत होता है कि उक्त मंत्र का ऋषि वामदेव होने के कारण यह कथन वामदेव की ओर से वर्णन किया गया है, क्योंकि मन्त्र में वामदेव का नाम नहीं, जैसाकि ["तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति"] बृह० १। ४। १० में वामदेव की ओर से यह उक्ति कथन कीगई है कि मैं ही मनु और मैं ही सूर्य्य हुआ इसी प्रकार उक्त मंत्र में भी ["वामदेव एवमुवाच"]=वामदेव ने इस प्रकार कहा, यह उपनिषत्कार ने मिलाया है, वामदेव नामक किसी पुरुषविशेष का वर्णन वेद में नहीं, और इसी प्रकार ["शास्त्र दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्"] ब्र० सू० १। १। ३० में महर्षि व्यास ने इस उपदेश को शास्त्रदृष्टि से कथन किया है कि वामदेव ऋषि ने यह अनुभव किया कि मैं ही मनु और मैं ही सूर्य्य हूँ, वस्तुतः बात यह है कि वेद में यह कथन कि "मैं ही मनु और मैं ही सूर्य्य हुआ" किसी वामदेव नामक ऋषि की ओर से नहीं, सूत्रकार तथा उपनिषत्कार ने वामदेव के साथ उक्त भाव को इस अभिप्राय से सम्मिलित किया है कि वामदेव उन तद्धर्मतापत्ति वाले मंत्रों का तत्त्वदर्शी होने के

कारण उसकी ओर से यह कथन किया गया है कि उक्त ऋषि को गर्भ में ही ऐसा ज्ञान हो गया कि मैंने अनेक जन्मों को धारण किया, इसमें सन्देह नहीं कि योगजसामर्थ्य से ऐसा अपूर्व ज्ञान होना कोई असम्भव नहीं और गर्भवास केवल कारककोटि की रीति से व्यास वशिष्ठादिकों के जन्म समान वर्णन किया है, ऐसे जन्म केवल धर्मोद्धार के लिये धारण किये जाते हैं साधारण मनुष्यों के समान केवल मिश्रित कर्मों के फलार्थ ही ऐसे मुक्त पुरुषों का जन्म नहीं होता किन्तु अग्नि, वायु, आदित्यादि ऋषियों के समान विशेष प्रयोजन के लिये होता है सो इसमें कोई दोष नहीं परन्तु यह सन्देह अवश्य है कि वेद में उक्त ऋषि का नाम आना इस बात को सिद्ध करता है कि वेद सृष्टि के आरम्भ में नहीं बने? इसका उत्तर यह है कि वामदेव कोई पुरुष विशेष वेद में नहीं आया और सूत्रकार तथा उपनिषत्कार ने जो वामदेव को पुरुषविशेष कथन किया है वह मंत्रद्रष्टा ऋषि के अभिप्राय से कथन किया है, जैसाकि ऊपर वर्णन कर आये हैं, यह भाव है इसको न समझकर मायावादियों ने उक्त वाक्यों का यहां तक अन्यथा व्याख्यान किया है कि वामदेव को गर्भ में ही यह ज्ञान हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ, उनका यह कथन ठीक नहीं, वस्तुतः वही बात है कि इस स्थल में केवल मुक्त जीव की ओर से जन्म-जन्मान्तरों का ज्ञान कथन किया गया है जीव का ब्रह्म बनना नहीं।

सं० —अब उक्त ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्र-म्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके। सर्वान् कामाना-प्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्। ६।

पद०—सः । एवं । विद्वान् । अस्मात् । शरीरभेदात् । ऊर्ध्वः । उत्क्रम्य । अमुष्मिन् । स्वर्गे । लोके । सर्वान् । कामान् । आप्त्वा । अमृतः । समभवत् । समभवत् ।

अर्थ

सः=वह जीव
एवं=इसप्रकार आत्मतत्व को
विद्वान्=जानता हुआ
अस्मात्, शरीरभेदात्=इस शरीर के नाश होने के
ऊर्ध्वः=अनन्तर
उत्क्रम्य=इस शरीर से निकल कर
अमुष्मिन्, स्वर्गे, लोके=मुक्ति रूप स्वर्गलोक में
सर्वान्, कामान्, आप्त्वा=पर्याप्त काम हुआ २
अमृतः=मृत्यु से रहित
समभवत् होजाता है ।

भाष्य—"समभवत्" पाठ दो वार खण्ड की समाप्ति के लिये आया है, जब जीव इस बात को जान लेता है कि यह प्रारब्ध कर्म रूपी शरीर मेरे कर्मों का फल है और कर्मों से ही यह बन्धन मुझको प्राप्त हुआ है फिर मैं बन्धन के निमित्तभूत कर्म न करूंगा, इस तत्वज्ञान द्वारा वह जीव उक्त कर्मों के भोगानन्तर मुक्तिरूप स्वर्गधाम को प्राप्त होता है ।

मायावादी "ऊर्ध्व" शब्द के यह अर्थ करते हैं कि जीव सर्वोपरि ब्रह्मरूपता को प्राप्त होकर ब्रह्म बनजाता है, उनका यह कथन ठीक नहीं, यदि उक्त शब्द के यह अर्थ होते तो ["सर्वान्कामान्आप्त्वाऽमृतः"]=सब कामनाओं को प्राप्त होकर अमृत होजाता है, यह कथन न किया जाता, क्योंकि इनके मतानुसार कैवल्य मुक्ति में जीव का कामनाओं को प्राप्त होना नहीं कहा जासकता, इनकी मुक्ति के अर्थ जीवभाव को मिटाकर ब्रह्म बनजाने के हैं फिर कामनाओं की प्राप्ति क्या ? वस्तुतः इसका आशय वही है जो ऊपर कथन किया गया है कि जीव प्रारब्ध

कर्मों के भोगानन्तर आत्मतत्व रूप ज्ञान से स्वर्गधाम=मुक्ति को प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मा के आनन्दादि गुणों को लाभ करके सुखरूप होजाता है।

इति चतुर्थः खण्डः

——❀——

अथ पंचमःखण्डः प्रारभ्यते

——:(०):——

सं०—अब परमात्मविषयक प्रश्न करते हैं:—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा रूपं पश्यति येन वा शब्दं शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादुचास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

पद०—कः। अयं। आत्मा। इति। वयं। उपास्महे। कतरः। सः। आत्मा। येन। वा। रूपं। पश्यति। येन। वा। शब्दं। शृणोति। येन। वा। गन्धान्। आजिघ्रति। येन। वा। स्वादु। च। अस्वादु। च। विजानाति।

अर्थ

कः, अयं, आत्मा,=यह आत्मा कौन है जिसकी
वयं=हम लोग
इति=इसप्रकार
उपास्महे=उपासना करें
सः, आत्मा, कतरः=वह आत्मा कौन है
येन, वा=जिसकी ही सत्ता से पुरुष
रूपं, पश्यति=रूप को देखता है
, वा=जिसकी सत्ता से
शब्दं, शृणोति=शब्द को सुनता है
येन, वा=जिस की सत्ता से
गन्धान्, आजिघ्रति=गन्धोंको सूंघता है
येन वा=जिस की सत्ता से
वाचं, व्याकरोति=वाणी को प्रकट करता है
च=और
येन, वा=जिसकी सत्ता से
स्वादु, च, अस्वादु=स्वादु और अस्वादु को
विजानाति=अनुभव करता है

सं०—अब उक्त आत्मविषयक प्रश्न का समाधान करते हैं :—

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधादृष्टिधृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामोवश इति । सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

पद०—यत् । एतत् । हृदयं । मनः । च । एतत् । संज्ञानं । आज्ञानं । विज्ञानं । प्रज्ञानं । मेधा । दृष्टिः । धृतिः । मति । मनीषा । जूतिः । स्मृतिः । सङ्कल्पः । क्रतुः । असुः । कामः । वशः । इति । सर्वाणि । एव । एतानि । प्रज्ञानस्य । नामधेयानि । भवन्ति ।

अर्थ

यत्, एतत्, हृदयं=जो हृदय है
च=और
एतत्, मनः=यह मन है यही
संज्ञानं=सम्यक् चैतन्य भाव वाला आत्मा है
आज्ञानं=सब ओर से भले प्रकार जानने वाला
विज्ञानं=विविध पदार्थों का ज्ञाता
प्रज्ञानं=ज्ञानस्वरूप
मेधा=बुद्धिरूप
दृष्टिः=सब का द्रष्टा
धृतिः=धारण रूप शक्ति
मतिः=मननरूप शक्ति
मनीषाः=मनुष्यमात्र के मनों को स्व २ कर्माधीन प्रेरणा करने वाली शक्ति
जूतिः=संघातमात्र को एकत्र करने वाली शक्ति
स्मृतिः=अनुभवरूप शक्ति
संकल्प=शुभसंकल्परूप शक्ति
क्रतुः=यज्ञरूप शक्ति
असुः=प्राणरूप शक्ति
कामः=सब भुवनों को निर्माण करने की कामनारूपशक्ति
वशः=सबको वशीभूत करने वाली शक्ति
इति=इसप्रकार
एतानि, सर्वाणि=यह सब
प्रज्ञानस्य=ज्ञानस्वरूप परमात्मा के
एव=ही
नामधेयानि=नाम
भवन्ति=हैं ।

भाष्य—["आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"] इस वाक्य द्वारा उपनिषद् के प्रारम्भ में जिस आत्मा का उपक्रम

किया गया था अब उसी विषयक उपसंहार में यह प्रश्न है कि वह आत्मा कौन है जिस की हम उपासना करें, क्या जिस का सत्ता से हम रूप को देखते हैं वह आत्मा है वा जिस की सत्ता से शब्द सुनते हैं वह आत्मा है कि वा जिस की सत्ता से गन्ध का ग्रहण होता है वह आत्मा है ? इत्यादि आत्मविषयक प्रश्न इस अभिप्राय से किये गये हैं कि यहां इन्द्रियों का अधिष्ठाता जोव ही आत्मा शब्द से अभिप्रत है अथवा कोई अन्य आत्मा है जिस की सत्तास्फुरति से यह गन्धों को सूंघता है, वाणी को बोलता है और स्वादु अस्वादु को अनुभव करता है, इस कथन से उपनिषत्कार का अभिप्राय । "केनेषित पतति प्रषितं मनः"] केन० १ । १ इस वाक्य के समान परमात्मविषयक है और इसी अभिप्राय से प्रज्ञानात्मा के भिन्न २ नाम कथन करके अन्त में यह वर्णन किया है कि मन, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टिः, धृतिः, मतिः, मनीषा और जूती आदि यह सब नाम मुख्यवृत्ति से परमात्मा के ही हैं अर्थात् यह सब ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के अर्थ भेद से भिन्न २ नाम हैं और इन नामों वाला वही पूर्ण परमात्मा है जिस आत्मविषयक प्रश्न किया गया है।

मायावादी इस के यह अर्थ करते हैं कि प्रथम इस आत्मा के माता पिता तथा स्वशरीर, यह तीन स्थान कथन किये गये, फिर उसी उपाधि वशीभूत जीव को भूतों का तत्वज्ञान कथन किया गया, और इस अध्यारोप की निवृत्ति के लिये उस को तत्त्वज्ञान का उपदेश करके फिर यह कथन किया गया कि वही जीवात्मा गर्भ में आकर तीन शरीरों को धारण करता है और फिर उसी को वामदेव के दृष्टान्त से सिद्ध किया गया, अब उस "त्वं" पद वाच्य जीवात्मा का वर्णन करके आगे "तत्" पद वाच्य परमात्मा का ['एष ब्रह्मैष इन्द्रः"] इत्यादि

वाक्यों द्वारा अभेद सिद्ध किया जाता है, इस प्रकार यह लोग जीव ब्रह्म की एकता इस प्रकरण में सिद्ध करते हैं, सो ठीक नहीं, यदि यह आशय यहां होता तो इस से पूर्व वेद मंत्र द्वारा जीव के अनेक जन्म निरूपण करके उस का संसृति चक्र में भ्रमण करना कथन न किया जाता और नाही ["आत्मा वा इदं एक अग्रे आसीत्"] इत्यादि वाक्यों द्वारा परमात्म-विषयक उपक्रम किया जाता परन्तु किया गया है इस से स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रकरण परमात्मविषयक है जीवात्मा विषयक नहीं, जीवात्मा विषयक प्रकरण इस से पूर्व जन्म निरूपण में समाप्त हो चुका, अतएव इस स्थल में जीव ब्रह्म की एकता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती।

सं०—अब उक्त परमात्मा को ब्रह्म, इन्द्र तथा प्रजापति नामों से कथन करते हुए सब से बड़ा वर्णन करते हैं—

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवीवायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीवबीजानीतराणि चेतराणीचाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि-जंगमं च पतत्रि च यच्चस्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म । ३ ।

पद०—एष। ब्रह्म। एष। इन्द्रः। एष। प्रजापतिः। एते। सर्वे। देवाः। इमानि। च। पंचमहाभूतानि। पृथिवी। वायुः। आकाशः। आपः। ज्योतींषि। इति। एतानि। इमानि। च। क्षुद्रमिश्राणि। इव। बीजानि। इतराणि। च। अण्डजानि। च। जारुजानि। च। स्वेदजानि। च। उद्भिजानि। च अश्वाः। गावः। पुरुषाः। हस्तिनः। यत्किञ्च। इदं। प्राणिजंगमं। च। पतत्रि। च। यत्। च। स्थावरं। सर्वं। तत्। प्रज्ञानेत्रं। प्रज्ञाने। प्रतिष्ठितं। प्रज्ञानेत्रः। लोकः। प्रज्ञा। प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं। ब्रह्म।

अर्थ

एष=यही
ब्रह्म=ब्रह्म है
एष=यही
इन्द्रः=इन्द्र है
एष=यही
प्रजापतिः=प्रजापति है
च=और
एते, सर्वे, देवाः=यह सब चक्षुरादि देव
पृथिवी=पृथिवी
वायुः=वायु
आकाशः=आकाश
आपः=जल
ज्योतींषि=तेज
इमानि=यह
पञ्चभूतानि=पांच महाभूत
च=और
क्षुद्रमिश्राणि=मशक पिपीलिकादि छोटे २ जीवजन्तु
=और
इतराणि, बीजानि=और भी छोटे २ जीवों के बीज
च=और
इतराणि=इनके अतिरिक्त
अण्डजानि=जो अण्डों से उत्पन्न होते हैं
च=और
जारुजानि=जो जेर से उत्पन्न होते हैं
च=और
उद्भिजानि=वृक्षादि
इमानि=यह सब

च=और
अश्वाः=घोड़े
गावः=गाय बैल
पुरुषाः=पुरुष
हस्तिनः=हाथी
च=और
यत्किञ्च=जो कुछ
इदं=यह दृश्यमान
प्राणिजंगमं=प्राणीजात है
च=और
पतत्रि=उड़ने वाले
च=और
यत्=जो
स्थावरं=स्थावर हैं

च=और
प्रज्ञानेत्रं=प्रज्ञानरूप नेत्रवाला
प्रज्ञानेत्रः, लोकः=जो प्रज्ञान-रूप यह लोक है
च=और
प्रज्ञा=यह चितिशक्ति जो जगत् का
प्रतिष्ठा=आश्रयभूत है
तत्, सर्वं=यह सब
प्रज्ञाने, प्रतिष्ठितं=परमात्मा में स्थित है इसी कारण वह
प्रज्ञानं=ज्ञानस्वरूप परमात्मा
ब्रह्म=सबसे बड़ा है

भाष्य–उसी परमात्मा का नाम ब्रह्म, उसी का नाम इन्द्र, उसी का नाम प्रजापति और उसी को प्रज्ञानेत्र कहते हैं ["नीयते सत्तां प्राप्यतेऽनेनेति नेत्रं"]=जिससे सब पदार्थ सत्ता को लाभ करें उसका नाम ["नेत्र"] और प्रज्ञा=ज्ञानरूप नेत्र हों जिसके उसका नाम ["प्रज्ञानेत्र"] है, सो प्रज्ञानेत्र नाम ब्रह्म में आकाशादि सब भूत, पिपीलिकादि सब जीव जन्तु तथा अण्डज, जेरज, स्वेदज और उद्भिज यह चारों प्रकार के भूतवर्ग और जो कुछ यह स्थावर जङ्गमात्मिक संसारवर्ग है वह सब उक्त ब्रह्म में ओत प्रोत होने के कारण इस लोक को प्रज्ञानेत्र कहा गया है अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इसका नियन्ता, वही इसकी प्रतिष्ठा और वही ब्रह्म सबसे बड़ा है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यह चराचरात्मक जगत् शुक्ति रजत के समान प्रज्ञानरूप ब्रह्म में कल्पित होने के कारण इस संसारवर्ग को [“प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं”] प्रज्ञान में प्रतिष्ठित कहा गया है, या यों कहो कि यह सब कुछ शुक्तिरजत के समान ब्रह्म में आरोपित होने के कारण इस संसार की अध्यारोपमात्र से उत्पत्ति कथन कीगई है, और यह [“प्रज्ञानेत्र’ शब्द के यह अर्थ करते हैं कि [“प्रज्ञाचैतन्यमेव नेत्र व्यवहारकारणं यस्य स प्रज्ञानेत्रः”]=चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हो आरोपरूप व्यवहार का कारण जिसका उसका नाम [“प्रज्ञानेत्र”] है, इस कथन से संसार की स्थिति वर्णन कीगई और [“प्रज्ञायां चैतन्ये प्रतितिष्ठति प्रलयकाले सर्वं जगल्लीयते इति प्रज्ञाप्रतिष्ठा”=चेतन्यस्वरूप ब्रह्म में यह सब संसार प्रलयकाल में प्रतिष्ठा=स्थिति पाने के कारण इसको [“प्रज्ञाप्रतिष्ठा”] कहा गया है, इस प्रकार इस भ्रान्तिभूत संसारवर्ग की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण एकमात्र ब्रह्म ही है. यह कथन करके आगे यह वर्णन किया है कि [“प्रज्ञानंब्रह्म”] इस महावाक्य से जीवब्रह्म की एकता स्पष्ट है अर्थात् प्रज्ञान पद वाच्य जीवब्रह्म पद वाच्य ईश्वर इन दोनों की इसमें एकता कथन कीगई है, इनका यह कथन यहां सङ्गत नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य से इनके मतानुसार जीव ब्रह्म की एकता का तात्पर्य्य होता तो अग्रिम श्लोक में जीव की उत्क्रान्ति कथन करके उसको सुखरूप मुक्ति की प्राप्ति वर्णन न कीजाती, और दूसरी बात यह है कि इनके

मतानुसार जब ["प्रज्ञानेत्रो लोकः'] यह कथन कर के सम्पूर्ण संसार का ब्रह्म के साथ बाधसामानाधिकरण्य की रीति से अभेद कथन कियागया तो क्या जीव शेष रहगया जिसकी एकता आगे जाकर कथने करनी थी और जब प्रथम श्लोकों में प्रज्ञान पद ईश्वर वाच्य माना है तो यहां इसके अर्थ जीव के कैसे होसकते हैं, क्योंकि ["प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानम्"=सर्वोपरि ज्ञान का नाम प्रज्ञान है, फिर यह त्वं पद वाच्य जीव का प्रतिपादक कैसे ? और दोष यह है कि इसी श्लोक में प्रज्ञान शब्द के अर्थ परमात्मा करके उसमें रज्जुसर्प के समान सब संसार को भ्रान्तिभूत सिद्ध किया गया है फिर इसी स्थल में इसके अर्थ जीव के करना असङ्गत हैं, एवंविध समालोचना करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ["प्रज्ञानंब्रह्म"] यह विशेष्यविशेषणभाव है, यदि ["प्रज्ञान"] न कहकर केवल ब्रह्म ही कथन करते तो ब्रह्म नाम प्रकृति और वेद का भी है, इसलिये उक्त अर्थों से भिन्न करने के लिये ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कथन किया गया है, अतएव यह वाक्य मायावादियों का पोषक नहीं।

और जो कईएक टीकाकारों ने भयभीत होकर यहां यह मान लिया है कि इससे अद्वैतवाद की पुष्टि होती है यह इन· ो अदूरदर्शिता है, उन्होंने कभी भी इस महावाक्य पर दृष्टि नहीं डाल. उक्त वाक्य जीवब्रह्म की एकता को कदापि सिद्ध नहीं करता, इस .. 'वही आशय है जो हम ऊपर लिख आये

हैं, यदि यह वाक्य जीवब्रह्म की एकता का साधक होता तो इसमें जीव वाचक कोई पद अवश्य होता, जैसाकि ["तत्त्वमसि' में त्वं पद जीव का वाचक हैं, ["अहंब्रह्मास्मि"] में अहं पद जीव का वाचक है और ["अयमात्मा ब्रह्म"] में अयं पद जीव का वाचक है परन्तु ["प्रज्ञा ˙ "] में कोई पद जीव वाचक नहीं, प्रत्युत यह लोग ["प्रज्ञानेप्रतिष्ठितं"] इस पूर्व वक्य में प्रज्ञान के अर्थ ब्रह्म करते हैं जिसके यह अर्थ होते हैं कि ब्रह्म ही ब्रह्म है फिर जीव ब्रह्म की सिद्धि कैसे? अधिक विस्तार से क्या, उक्त वाक्य के अर्थ ["सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म"] के समान ज्ञानस्वरूपक के हैं, इस लिये इससे जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती, अन्य महा वाक्यों का समाधान आगे छान्दोग्य वृहदारण्यक में जहां २ आये हैं वहां २ किया गया है।

सं०—अब उक्त ब्रह्म के ज्ञान का फल कथन करते हैं:—

**स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्र-
म्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्
कामानाप्त्वामृतः समभ-
वत् समभवत् । ४ ।**

पद०—सः । एतेन । प्रज्ञेन । आत्मना । अस्मात् । लोकात् । उत्क्रम्य । अमुष्मिन् । स्वर्गे । लोके । सर्वान् । कामान् । आप्त्वा । अमृतः । समभवत् । समभवत् ।

अर्थ

सः=वह जिज्ञासु
एतेन=इस
प्रज्ञेन=ज्ञानस्वरूप
आत्मना=परमात्मा के ज्ञान द्वारा
अस्मात्=इस
लोकात्=लोक से
उत्क्रम्य=उत्क्रमण करके
अमुष्मिन्; स्वर्गे, लोके=सुख-स्वरूप मुक्ति अवस्था में
सर्वान्, कामान्; आप्त्वा=सब कामनाओं को प्राप्त होकर
अमृतः, समभवत्=मृत्यु से रहित हो जाता है।

भाष्य—["समभवत्"] पाठ दो बार ग्रन्थ की समाप्ति के लिये आया है, इस श्लोक में ब्रह्म ज्ञान का फल कथन किया गया है कि जब जिज्ञासु उक्त प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्म के तत्व ज्ञान द्वारा इस लोक से उत्क्रमण करता है तब वह मुक्ति में सब कामनाओं को प्राप्त होकर आनन्द भोगता है।

इस श्लोक में कामनारूपी ऐश्वर्य्य प्राप्ति का कथन और जीव की उत्क्रान्ति का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि यहां मायावादियों की नित्य प्राप्त की प्राप्तिरूप मुक्ति का वर्णन नहीं किन्तु ऐश्वर्य्य प्राप्तिरूप मुक्ति का वर्णन है, जैसा कि ["सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति"] तैत्ति० २। १ इत्यादि वाक्यों में कथन किया है कि वह मुक्ति में ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है, इस से सिद्ध है कि यह उप-

निषद् जीव ब्रह्म की एकता को वर्णन नहीं करता किन्तु ब्रह्म ज्ञान द्वारा जीव के अमृत भाव को कथन करता है।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
उपनिषदार्य्यभाष्ये
ऐतरेयोपनिषत्
समाप्ता

* ओ३म् *

अथ तैत्तिरीयोपनिषदार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

—(❀)—

सं०—आत्मविद्याप्रधान ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् के नन्तर अब शिक्षाप्रधान यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रारम्भ करते हैं :—

ओ३म्-शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु माम् अवतु वक्तारम्। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।१

पद०—ओ३म्। शं। नः। मित्रः। शं। वरुणः। शं। नः। भवतु। अर्यमा। शं। नः। इन्द्रः। बृहस्पतिः। शं। नः। विष्णुः। उरुक्रमः। नमः। ब्रह्मणे। नमः। ते। वायो। त्वं।

एव । प्रत्यक्षं । ब्रह्म । असि । त्वां । एव । प्रत्यक्षं । ब्रह्म । वदिष्यामि । ऋतं । वदिष्यामि । सत्यं । वदिष्यामि । तत् । मां । अवतु । तत् । वक्तारं अवतु । अवतु । मां । अवतु । वक्तारं । ओ३म् । शान्तिः । शान्ति. । शान्तिः ।

अर्थ

ओ३म्=सब का रक्षक
मित्र.=प्रेमाकर परमात्मा
नः=हमारे लिये
शं=सुखकारी हो
वरुणः=एकमात्र सब का वरणीय परमात्मा
नः=हमारे लिये
शं=सुखकारी
भवतु=हो
अर्यमा=न्यायकारी परमात्मा
नः=हमारे लिये
सुखकारी हो
इन्द्रः=परमैश्वर्य्यवान्
बृहस्पतिः=सब बृहत ब्रह्माण्डो का पति परमात्मा
नः=हमारे लिये
शं=सुखकारी हो
उरुक्रमः=अनन्त पराक्रम युक्त
विष्णु=सर्वव्यापक परमात्मा
नः=हमारे लियं
शं=कल्याणकारी हो
ब्रह्मणे, नमः=उक्त ब्रह्म के लिये नमस्कार हो
वायो=हे सर्वत्रगति शील परमात्मन्
ते=तुम्हारे लिये
नमः=नमस्कार हो
त्वं, एव=आप ही
प्रत्यक्षं, ब्रह्म, असि=सर्वसाक्षीरूप ब्रह्म हो
त्वां, एव=आपको ही
प्रत्यक्षं,ब्रह्म=प्रत्यक्ष ब्रह्म
वदिष्यामि=कहूंगा
ऋतं, वदिष्यामि=तुम्हारी ही वेदोक्त आज्ञा का कथन करूंगा
सत्यं, वदिष्यामि=सत्यबोलूंगा
तत्, मां, अवतु=वह ब्रह्म विद्या द्वारा हमारी रक्षा करे
तत्, वक्तारं, अवतु=वह ब्रह्म आचार्य्य की रक्षा करे

अवतु, मां=मेरी रक्षा करे
अवतु, वक्तारं=मेरे आचार्य्य की रक्षा करे
ओ३म्=सर्वरक्षक परमात्मा
शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः= आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों को शान्त करे।

भाष्य—इस उपनिषद् के आदि में शिष्य की ओर से यह प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन्! आप सब के मित्र कल्याण के देने वाले सर्वोत्तम उपासनीय कल्याणकारी सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न और सब से बड़े हैं आप हमारे लिये सुखकारी हों, हे अनन्तपराक्रमयुक्त सर्वव्यापक परमात्मन्! आप के लिए हमारा नमस्कार हो, हे वायु सम अनन्त बलवान् परमात्मन्! आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो आप के बिना अन्य कोई उपास्य देव नहीं, मैं आप ही की आज्ञा पालन करता हुआ आप की वेदोक्त वाणी का सब को उपदेश करूंगा, हे जगत्पिता! आप मेरे आचार्य्य की और मेरी सर्व प्रकार से रक्षा करें अर्थात् आध्यात्मिक दुख जो रागद्वेषादिकों से उत्पन्न होता है, आधिभौतिक जो चोर, व्याघ्रादिकों से होता है और आधिदैविक दुःख जो अतिवृष्टि आदि से होता है, इन तीनों प्रकार के दुःखों से आप हमें सदा दूर रखें, यह आपसे प्रार्थना है।

मायावादी इस श्लोक से नानादेववाद सिद्ध करते हैं कि मित्र=सूर्य्यमण्डल का अभिमानी देवता, वरुण=रात्रि का अभिमानी देवता, अर्य्यमा–चक्षुओं का अभिमानी देवता, इन्द्र=बल का अभिमानी देवता, हमारे लिये कल्याणकारा हों, इत्यादि अनेक देवताओं की उपासना इस श्लोक से सिद्ध करते हैं, उनका नानादेववाद मानना ठीक नहीं, क्योंकि श्लोक में एक ही परमात्मा को उपासना वर्णन की गई है और ईसा

भाव से महर्षि व्यास ने ["स्थानादिव्यपदेशाच्च"] ब्र० सू० १।२।१४ इत्यादि सूत्रों में वर्णन किया है कि सर्वान्तर्यामी रूप से एक ही परमात्मा सर्वगत हो रहा है फिर नानादेववाद कैसे ! दूसरी बात यह है कि यदि नानादेववाद वैदिक होता तो—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

यजु० ३२।१

इत्यादि मंत्रों में एकात्मवाद का समर्थन बलपूर्वक न किया जाता कि उसी परमात्मा का नाम अग्नि, उसी का नाम आदित्य, उसी का नाम वायु और उसी का नाम चन्द्रमा है, इत्यादि एक ही परमात्मदेव का तत्प्रतिपादक नाना नामों से व्यवहार किया जाता है नाना देवों के अभिप्राय से नहीं, इससे सिद्ध है कि मायावादियों का नानादेववाद इस श्लोक में नाममात्र भी नहीं ।

इति प्रथमोऽनुवाकः

——⊛——

सं०—अब उक्त ईश्वरोपासना के अनन्तर शिक्षा का कथन करते हैं—

ओ३म्—शीक्षां व्याख्यास्यामः वर्णः स्वरः मात्राबलम् साम सन्तानः इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।२।

पद०—शीक्षां। व्याख्यास्यामः। वर्णः। स्वरः। मात्राः। बलं। साम। सन्तानः। इति। उक्तः। शीक्षाध्यायः।

अर्थ

ओ३म्–सर्वरक्षक परमात्मा की कृपा से
शीक्षां, व्याख्यास्यामः=वर्ण-स्वरादिकों की शिक्षा का व्याख्यान करते हैं
वर्णः=अकारादि वर्ण
स्वरः=उदात्तादि स्वर
मात्राः=ह्स्वादिमात्रा
बलं=आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न
साम=वर्णों का मध्यम स्वर से उच्चारण
सन्तानः=वर्णों का अव्यवधान
इति=यह
शीक्षाध्यायः=शिक्षाका अध्याय
उक्तः=कथन किया गया है

भाष्य—इस श्लोक में आचार्य्य ने शिष्य के प्रति उपदेश किया है अर्थात् जिससे शिक्षा की जाय उसका नाम ["शीक्षा"] या यों कहो कि शिक्षा का नाम ही "शीक्षा" है, यहां छन्द के अभिप्राय से दीर्घ ईकार का प्रयोग किया गया है, अकाराकादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्रा, स्पृष्टादि प्रयत्न सामगीति और पदों का परस्पर सम्बन्ध इन सबका पाठक को उपनिषद् पाठ में ध्यान रखना चाहिये अर्थात् व्याकरण के नियम से विरुद्ध उपनिषदों का पाठ कदापि न करें, इस अभिप्राय से यह शिक्षाध्याय यहां कथन किया गया है, उक्त शिक्षा का विस्तार-पूर्वक वर्णन व्याकरण ग्रन्थों में स्पष्ट है इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

इति द्वितीयोऽनुवाकः

——✿——
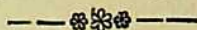
सं०—अब आचार्य्य शिष्य तथा अपने लिये ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ अधिलोक उपासना का कथन करता है:—

सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्, अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः, पञ्चस्वधिकरणेषु, अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्, ता महासंहिता इत्याचक्षते, अथाधिलोकं पृथिवी पूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपं, आकाशः सन्धिः, वायुः सन्धानम्, इत्यधिलोकम् ॥ ३ ॥

पद०—सह । नौ । यशः । सह । नौ । ब्रह्मवर्चसम् । अथ । अतः । संहितायाः । उपनिषदं । व्याख्यास्यामः । पञ्चसु । अधिकरणेषु । अधिलोकं । अधिज्यौतिषं । अधिविद्यं । अधिप्रजं । अध्यात्मं । ताः । महासंहिताः । इति । आचक्षते । अथ । अधिलोकं । पृथिवी । पूर्वरूपं । द्यौः । उत्तररूपं । आकाशः । सन्धिः । वायुः । सन्धानं । इति । अधिलोकं ।

अर्थ

नौ=हम दोनों का
यशः=यश, सह=साथ २ हो
नौ=हम दोनों
ब्रह्मवर्चसं=ब्रह्म तेज वाले
सह=साथ २ हों
अथ=इस के अनन्तर
अतः=ब्रह्मतेज की वृद्धि के लिये
संहितायाः=सन्धि सम्बन्धि
उपनिषदं=उपनिषद् का

व्याख्यास्यामः=व्याख्यान करते हैं जिस से इस उपनिषद् द्वारा परमात्मा के साथ जीव का सम्बन्ध हो और जिस के
पञ्चसु, अधिकरणेषु=पांच अधिकरण हैं
अधिलोकं=पृथिव्यादि लोकों को परमात्मा के आश्रित जान कर उसकी उपासना करना
अधिज्यौतिषं=प्रकाशमान लोकों को ईश्वराश्रित समझकर उपासना करना
अधिविद्यं=विज्ञान को ईश्वराश्रित समझ कर उपासना करना
अधिप्रजं=सम्पूर्ण प्रजाओं की उत्पत्ति को ईश्वर कर्तृक मानकर उपासना करना
अध्यात्मं=इस शरीर को ईश्वराश्रित समझकर उपासना करना
ताः=इस पांच प्रकार के ईश्वर विषयक उपासनारूप सम्बन्ध को
महासंहिताः, इति, आचक्षते=बड़ी सन्धि उपनिषद्वेत्ता कथन करते हैं
अथ=अब
अधिलोकं=उक्त अधिलोकादिकों का विशेष व्याख्यान करते हैं
पृथिवी, पूर्वरूपं=पृथिवी जिस का पूर्वरूप है
द्यौः, उत्तररूपं=द्यु जिस का उत्तररूप है
आकाशः, सन्धिः=आकाश जिसकी संधि है और
वायुः, सन्धानं=वायु जिसका सन्धान है
इति, अधिलोकं=उसको अधिलोक उपासना कहते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में आचार्य्य परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन्! हमारा शिष्य आचार्य्य दोनों का इस संसर में साथ २ यश हो और हम ब्रह्म तेज वाले साथ २ हों, इस प्रार्थना के अनन्तर आचार्य्य परमात्मा के साथ सम्बंध लगाने वाले उपनिषद् रूप व्याख्यान की प्रतिज्ञा करके यह

कथन करते हैं कि वह सम्बन्ध रूप उपासना अधिलोक, अधि-ज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्मरूप से पांच प्रकार की है और इसी का नाम महासंहिता अर्थात् परमात्मविषयक सर्वोपरि सम्बन्ध लगाना है, इस उपासना में पृथिवी को पूर्व-रूप और द्यौ को उत्तररूप कथन किया गया है जिस का अर्थ यह है कि जिस प्रकार पृथिवी तथा द्यौ ऊपर नीचे और आकाश इन दोनों के बीच का सन्धि तथा वायु इन दोनों का सम्बन्ध मिलाने वाला सन्धान है इसी प्रकार उक्त उपासना द्वारा पृथिवी आदि भूगोलों में परमात्मा की रचना का अनु-सन्धान करके जो उस की उपासना की जाती है उस का नाम "अधिलोक" है अर्थात् पृथिव्यादि लोकों में व्याप्त परमात्मा के उपासन का नाम ["अधिलोकोपासना"] है।

सं० – अब अधिज्यौतिषोपासना कथन करते हैं:—

अथाधिज्यौतिषं अग्निः पूर्वरूपं आदित्य उत्तररूपं आपः सन्धिः, वैद्युतः सन्धा-नम् इत्यधिज्यौतिषम् ।४।

पद०—अथ । अधिज्यौतिषं । अग्निः । पूर्वरूपं । आदित्यः । उत्तररूपं । आपः । सन्धिः । वैद्युतः । सन्धानं । इति । अधिज्यौतिषं ।

अर्थ

अथ=अब
अधिज्यौतिषं=अधिज्यौतिषोपासना का कथन करते हैं जिसका
अग्निः, पूर्वरूपं=अग्नि पूर्वरूप और
आदित्यः, उत्तररूपं=आदित्य उत्तररूप हो

आपः=जल, सन्धिः=संधि हो इति=उस को
वैद्युतः=विद्युत अधिज्यौतिषं=अधिज्यौतिष
सन्धानं=सन्धि करानेवाला हो कहते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में अधिज्यौतिष उपासना का कथन किया है कि नभोमण्डल में जो आदित्यरूप ज्योतिः है उस से अग्नि पूर्वरूप कहाता है तथा आदित्य उस का कारण होने से उत्तररूप कहाता है और अन्तरिक्ष में जो जल है वह उन दोनों की सन्धि है और विजलियें उन सब का सम्बन्ध कराने वाली हैं अर्थात् जितना अग्निमात्र तत्व है उस का पुञ्ज एकमात्र तेजोराशि सूर्य्य है, जल को सन्धि इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि जलों का आविर्भाव अग्नि से होता है और विद्युत अनन्त बलयुक्त होने से एक क्रियाविशेष है और उसी को इन सब का अनुसन्धाता=मिलाने वाला कहा गया है, इस प्रकार की जो रचनाविशेष सूर्य्यादि लोकों में पाई जाती है उस के कर्त्ता परमात्मा की उपासना का नाम ["अधिज्यौतिषोपासना"] है।

सं०—अब ब्रह्म ज्ञान विषयक अधिविद्योपासना कथन करते हैं:—

अथाधिविद्यम्, आचार्य्यः पूर्वरूपं अन्ते-
वास्युत्तररूपम्, विद्यासन्धिः प्रवचनं
सन्धानं इत्यधिविद्यम् । ५ ।

पद०—अथ । अधिविद्यम् । आचार्य्यः । पूर्वरूपं । अन्तेवासी । उत्तररूपम् । विद्या । सन्धिः । प्रवचनम् । सन्धानम् । इति । अधिविद्यम् ।

अर्थ

अथ=अब
अधिविद्यम्=अधिविद्योपासना का वर्णन करते हैं
आचार्य्यः, पूर्वरूपम्=आचार्य जिसका प्रथम कारण है
अन्तेवासी, उत्तररूपम्=शिष्य उत्तररूप है
विद्या, सन्धिः=विद्या संधि है
प्रवचनम्, सन्धानम्=अध्यापन सन्धि कराने वाला है
इति=उसको
अधिविद्यम्=अधिविद्योपासना=विद्या विषयक उपासना कहते हैं।

भाष्य—इस श्लोक में अधिविद्योपासना का वर्णन किया गया है अर्थात् जब आचार्य्य शिष्य को पढ़ाता है तो उस विद्या का मुख्यकारण आचार्य्य होने से उसको पूर्वरूप और अन्तेवासी=विद्या का ग्रहण करने वाला होने से शिष्य को उत्तररूप कहागया है, क्योंकि आचार्य्य विद्याग्रहण करने के अनन्तर शिष्य को विद्या प्रदान करता है, आचार्य्य तथा शिष्य का सम्बन्ध कराने वाली होने से विद्या सन्धि कहाती है और आचार्य्य का अध्यापनरूप कर्म उक्त सन्धि का कारण होने से सन्धान कहाता है, इस प्रकार ज्ञानविषयक परमात्मा का नियमरूप सम्बन्ध पायेजाने से उक्त नियम के नियन्तृत्वरूप परमात्मा की वेदरूप विद्या का प्रदान रूप कर्त्ता होने से उसका प्रथम आचार्य्य परमात्मा ही है, इसलिये परमात्मा को विद्या-विषयक उपासना का नाम ["अधिविद्योपासना"] है।

सं०—अब अधिप्रजोपासना का वर्णन करते हैं :—

अथाधिप्रजम्, मातापूर्वरूपं पितोत्तर-रूपं प्रजासन्धिः प्रजननं सन्धानं इ-त्यधिप्रजम् ॥ ६ ॥

पद०—अथ । अधिप्रजं । माता । पूर्वरूपं । पिता । उत्तररूपं प्रजा । सन्धिः । प्रजननं । सन्धानं । इति । अधिप्रजं ।

अर्थ

अथ=अब
अधिप्रजं=अधिप्रजोपासना का कथन करते हैं
माता, पूर्वरूपं=माता जिसका पूर्वरूप
पिता,उत्तररूपं=पिता उत्तररूप
प्रजा, सन्धिः=प्रजासन्धि
प्रजननं, सन्धानं=और जिसमें उक्तसन्धि को उत्पन्न करने वाली प्रजा की उत्पत्ति सन्धान है
इति=यह
अधिप्रजं=अधिप्रजोपासना कहाती है।

भाष्य—प्रजा की उत्पत्ति का मुख्यतया कारण होने से माता को पूर्वरूप कथन कियागया है और इसीलिये माता प्रजनन का मुख्य हेतु होने से जननी कहलाती है और पिता उस प्रजा का बीजरूप कारण होने से उत्तररूप कहाता है, प्रजा माता पिता की सन्धि और उक्त सन्धि का साधक होने से प्रजनन को सन्धान कथन कियागया है।

भाव यह है कि माता पिता द्वारा जो सन्तति उत्पन्न होती है यह भी परमात्मा का अपूर्व नियम है क्योंकि उसकी कृपा के विना केवल माता पिता के सम्बन्ध से सन्तान की उत्पत्ति कठिन है, इससे सिद्ध है कि परमात्मा की उक्त उपासना करना अत्यावश्यक है और उस उपासना का नाम [" अधिप्रजोपासना "] है।

सं—अब अध्यात्मोपासना का वर्णन करते हैं:—

अथाध्यात्मम्, अधरा हनुः पूर्वरूपम्, उत्त-

रा हनुरुत्तररूपम् वाक् सन्धिः जिह्वा सन्धानं इत्यध्यात्मम् ॥ ७ ॥

पद०—अथ । अध्यात्मं । अधरा । हनुः । पूर्वरूपं । उत्तरा । हनुः । उत्तररूपं । वाक् । सन्धिः । जिह्वा । सन्धानं । इति । अध्यात्मं ।

अर्थ

अथ=अब

अध्यात्मं=अध्यात्मोपासना का कथन करते हैं

अधरा, हनुः पूर्वरूपं=ठोड़ी के नीचे का भाग पूर्वरूप

उत्तराः, हनुः, उत्तररूपं=ठोड़ी के ऊपर का भाग उत्तररूप

वाक्, सन्धि =वाणी सन्धि

जिह्वा, सन्धानं=और जिह्वा सन्धि को मिलाने वाला सन्धान है

इति=यह

अध्यात्मं=शरीरविषयक अध्यात्मोपासना कहाती है।

भाष्य—यहां "आत्मा" शब्द से शरीर रूप संघात का ग्रहण है अर्थात इस शरीररूप संघात में जो परमात्मा की रचना पाई जाती है उसके अनुसन्धान से जो परमात्मविषयक उपासन किया जाता है उसका नाम ["अध्यात्मोपासना"] है, इस उपासन में जो ठोड़ी के नीचे का भाग पूर्वरूप कहा है उसका आशय यह है कि इस ब्रह्माण्डरूपी शरीर में पृथिवी, जलादिक पूर्वरूप और ऊपर के नक्षत्रादि सब लोकलोकान्तर उत्तररूप हैं तथा इस नभोमण्डल में जो घनगर्जनादि होता है वह सन्धि और जिह्वास्थानीय विद्युतादि उक्त सन्धि के साधन हैं, इस प्रकार ब्रह्माण्ड तथा इस शरीर की रचना को ईश्वर-कर्तृक समझकर उपासना करने का नाम ["अध्यात्मो-

पासना"] है, इस प्रकार भिन्न २ कार्य्यों की रचना द्वारा अधिलोकादि पांच प्रकार की उपासना कथन की गई है, कई एक लोग इन उपासनाओं को अधिष्ठात्री देवताओं की उपासना कथन करते हैं और कई एक इनको भूगोल खगोलादिकों का ज्ञान मानते हैं, पर यह भाव उपनिषत्कार का नहीं, यदि उक्त उपासनाओं का यह भाव होता तो इसको संहिता का उपनिषद् कदापि कथन न किया जाता परन्तु किया है, इससे सिद्ध है कि उक्त कथन ठीक नहीं, वैदिकमत में इसका भाव यह है कि उक्त पांचों प्रकार की सन्धियों में जो औपनिषद उपासना की जाती है, उसी का नाम अधिलोकादि उपासना है, क्योंकि जिससे ब्रह्म की समीपता उपलब्ध हो उसका नाम ["उपनिषद्" है और उसकी समीपता ब्रह्मोपासना द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है किसी अन्य देवता की उपासना द्वारा नहीं, इसी कारण उक्त पांच प्रकार की उपासना यहां कथन की गई हैं किसी अन्य अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब उक्त उपासनाओं का फल कथन करते हैं:—

इतीमा महासंहिताः, य एवमेताः महासंहिता व्याख्याता वेद। सन्धीयते प्रजया पशुभिःब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन स्ववर्गेण लोकेन। ८।

पद०—इति। इमाः। महासंहिताः। यः। एवं। एताः। महासंहिताः। व्याख्याता। वेद। सन्धीयते। प्रजया। पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेन। अन्नाद्येन। सुवर्गेण। लोकेन।

अर्थ

इति=यह
इमाः=जो अधिलोकादि उपासनायें हैं वह
महासंहिताः=ईश्वर के साथ घनिष्ट सम्बन्ध लगाने वाली हैं
यः=जो पुरुष
एवं=उक्त प्रकार से
एताः, महासंहिताः=इन महासंहिताओं का
व्याख्याता=आचार्य्य रूप से व्याख्यान करता है अथवा शिष्यरूप से
वेद=जानता है वह
प्रजया, पशुभिः=प्रजा और पशुओं से
ब्रह्मवर्चसेन=ब्रह्मतेज से
अन्नाद्येन=अन्नादि ऐश्वर्य्य से
सुवर्गेण, लोकेन=सुख की अवस्था के साथ
सन्धीयते=सम्बन्ध को प्राप्त होता है।

भाष्य—परमात्मा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध लगाने वाली जो उक्त महासंहिता है उसका ज्ञाता तथा अनुष्ठाता पुरुष इस संसार में सांसारिक ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता और वेद के स्वाध्याय से ब्रह्मतेज तथा मुक्तिरूप सुख की अवस्था को अनुभव करता है।

इति तृतीयोऽनुवाकः

—०—०—

सं०—अब प्रणवोपासना का कथन करते हैं:-

यश्छन्दसमामृषभोविश्वरूपः छन्दोभ्यो-ध्यमृतात्संबभूव समेन्द्रो मेधया स्पृणोतु अमृतस्य देव धारणो भूयासम् शरीरं

विचर्षणम् जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरिविश्रुवम् ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः श्रुतं मे गोपाय आवहन्ती वितन्वना ॥ ६ ॥

पद०—यः । छन्दसां । ऋषभः । विश्वरूपः । छन्दोभ्यः । अधि । अमृतात् । संबभूव । सः । मां । इन्द्रः । मेधया । स्पृणोतु । अमृतस्य । देव । धारणः । भूयासं । शरीरं । मे । विचर्षणं । जिह्वा । मे । मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां । भूरि । विश्रुवं । ब्रह्मणः । कोशः । असि । मेधया । पिहितः । श्रुतं । मे । गोपाय । आवहन्ती । वितन्वना ।

अर्थ

यः=जो ओङ्कार
छन्दसां=वेदों का
ऋषभः=सारभूत
विश्वरूपः=सर्वगत है और जो
छन्दोभ्यः, अधि, अमृतात्=
वेद तथा मुक्ति से ऊपर
संबभूव=स्थित है
सः=वह
इन्द्रः=इन्द्र
मां=मेरी
मेधया=बुद्धि की
स्पृणोतु=रक्षा करे
देव=हे दिव्यगुणयुक्त, मैं
अमृतस्य=मुक्तिरूप सुख का
धारणः=धारण करने वाला
भूयासं=होऊं
मे=मेरा
शरीरं=शरीर
विचर्षणं=रोगरहित हो
मे=मेरी
श्रुतं, मे=मेरा श्रवणपूर्वक जो अध्ययन किया हुआ है उसकी तुम
गोपाय=रक्षा करो और
आवहन्ती, वितन्वना=सब भोग्यपदार्थों को देने वाली तथा प्राप्त पदार्थों की वृद्धि करनेवाली शोभा मुझको दें

जिह्वा=वाणी
मधुमत्तमा=मधुरभाषण करने वाली हो
कर्णाभ्यां=श्रोत्रों से
भूरि=बहुत
विश्रुवं=सुनूं, हे परमेश्वर आप
ब्रह्मणः=वेद के, कोशः=रक्षक
असि=हैं इसलिये
मेधया, पिहितं=लौकिक बुद्धि से तुम ढके हुए हो

भाष्य—इस श्लोक में वेद प्रतिपाद्य प्रणव के वाच्यार्थ रूप परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि सब वेदों में जो ओङ्कार मुख्यवृत्ति से परमात्मा का वाचक है तद्वाच्य परमात्मा से यह प्रार्थना है कि हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से मैं मुक्ति * सुख को धारण करने वाला होऊं, मेरा शरीर नीरोग, मेरी वाणी मधुरभाषण करने वाली हो और मैं श्रुति वाक्यों के अर्थों को वारम्वार श्रवण करूं, आप वेदों के रक्षक हैं मेरे श्रवण किये हुए वैदिक अर्थ की आप रक्षा करें आप सर्वत्र सदा प्रकट हैं परन्तु केवल संसार विषयणी बुद्धि से अज्ञानी लोगों के लिये आप ढके हुए हो, जो शोभा सम्पूर्ण भोग्य पदार्थों को देदिप्य-मान करती हुई प्राप्त पदार्थों की वृद्धि करती है वह कृपाकरके आप मुझको भी प्रदान करें।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जड़ ओङ्कार से प्रार्थना नहीं हो सकती इसलिये यह कथन किया है कि ["ब्रह्मणः कोशोसि"] तू ब्रह्म का असिकोश के समान ढकने वाला परदा है अर्थात् तेरे में ब्रह्म छिपा हुआ है, या यों कहो कि जड़ ओङ्कार के अवलम्बन से उसमें छिपा हुआ परमात्मा प्रकट हो जाता है, यह कथन ठीक नही, यदि उक्त श्लोक के यह अर्थ होते तो उस ओङ्कार को इन्द्र शब्द से कथन न किया जाता और नहीं ["मेधयापिहित"] कहा जाता, इत्यादि तर्क से स्पष्ट है कि उक्त श्लोक में निराकार परमात्मा से प्रार्थना की

गई है जड़ ओङ्कार से नहीं और वेदों का सार उसको इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि वस्तुतः वैदिकधर्म में सर्वोपरि सार परमात्मा ही है तथा ब्रह्म का कोश कथन करने से तात्पर्य्य यह है कि वेदरूप ब्रह्मविद्या का असिकोश के समान परमात्मा रक्षक है, पर मायावादी इस शब्द के यह अर्थ करते हैं कि उक्त जड़ ओङ्कार और ब्रह्म का इस शब्द ने अभेद कथन किया है, यदि यहां पर उक्त प्रकार का अभेद विवक्षित होता तो ["श्रुतंमेगोपाय"]=मेरे श्रुतार्थ की रक्षा करो, यह प्रार्थना न की जाती, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां ओङ्कार के वाच्यभूत परमात्मा से प्रार्थना है किसी जड़ पदार्थ से नहीं।

सं०—अब उक्त श्री का वर्णन करते हुए उसकी प्राप्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते हैंः—

कुर्वाणाऽचीरमात्मनः, वासांसि मम गावश्च अन्नपाने च सर्वदा ततो मे श्रियमावहल्लोमशां पशुभिः सह स्वाहा (१) आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा (२) विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा (३) प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा (४) दमायन्तु ब्रह्मचारिणःस्वाहा (५) शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा (६)॥ १०॥

पद०—कुर्वाणा। अचीरं। आत्मनः। वासांसि। मम। गावः। च। अन्नपाने। च। सर्वदा। ततः। मे। श्रियं।

आ। वह। लोमशां। पशुभिः। सह। स्वाहा। आ। मा। यन्तु! ब्रह्मचारिणः। स्वाहा। वि। मा। यन्तु। ब्रह्मचारिणः। स्वाहा। प्र। मा। यन्तु। ब्रह्मचारिणः। स्वाहा। दमा.। यन्तु। ब्रह्मचारिणः। स्वाहा। शमाः। यन्तु। ब्रह्मचारिणः। स्वाहा।

अर्थ

आत्मनः=मुझको
अचीरं, कुर्वाणा=वह श्री शीघ्र ही प्राप्त होवे, वह श्री कैसी है
वासांसि=वस्त्र
गावः=गौ
च=और
मम=मेरे
सर्वदा=सब काल में
अन्नपाने=अन्न जल
च=भी भोगने योग्य उत्तम हों, हे परमेश्वर
ततः=पूर्वोक्त पदार्थ देने के पश्चात्
लोमशां=लोम वाले पशु संबंधी
श्रियं=लक्ष्मी
मे, आ, वह=मुझको दीजिये तथा
पशुभिः, सह=अन्य घोड़े, हाथी आदि पशुओं के साथ श्री को प्राप्त कराइये
मा=मुझको
दमाः=इन्द्रियों वा मन को वश में रखने वाले
ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारी
यन्तु=प्राप्त हों
शमाः=शान्ति शील
ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारी
यन्तु=प्राप्त हों
मा=मेरे समीप
ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारी
आ, यन्तु=आवें
मा=मुझको
ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारी
वि, यन्तु=विशेष कर प्राप्त हों
मा=मुझको
ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारी
प्र, यन्तु=भले प्रकार जानें और वह सब मुझको
स्वाहा=मङ्गलकारी हों।

भाष्य--हे परमात्मन्! आप मुझको ऐसी श्री प्रदान करें

जो चिरकाल तक मेरे ऐश्वर्य्य को बढ़ावे अर्थात् अन्न, जल, वस्त्र, गौयें आदि सब पदार्थ मुझको दें, सुन्दर २ रोमों वाले पशुओं के साथ आप मेरा मंगल करें और सब प्रकार से मुझ को ब्रह्मचारी लोग प्राप्त होकर मेरा मंगल करें, विविध प्रकार की कामनाओं वाले ब्रह्मचारी मेरा मंगल करें, दमनशील ब्रह्मचारी मुझको मंगलप्रद हों और शमविधि वाले ब्रह्मचारी मुझको मंगलकारी हों, ['स्वाहा"] शब्द का अर्थ सर्वत्र मंगलकारी समझना चाहिये।

सं०—अब परमात्मा से यश तथा अन्य श्री के लिये प्रार्थना करते हैं—

यशोजनेऽसानि स्वाहा (१) श्रेयान्व-स्यसोऽसानि स्वाहा (२) तं त्वाभग प्रवि-शानि स्वाहा (३) स मा भग प्रविश स्वाहा (४) तस्मिन्सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा (५) यथाऽऽपः प्रवतायन्ति यथा मासा अहर्जरम् एवं मां ब्रह्मचारिणः धातरा-यन्तु सर्वतः स्वाहा (६) प्रतिवेशोसि प्रमाभाहि प्रमापद्यस्व ॥ ११ ॥

पद०—यशः । जने । असानि । स्वाहा । श्रेयान् । वस्यस । असानि । स्वाहा । तं । त्वा । भग । प्रविशानि । स्वाहा । सः । मा । भग । प्रविश । स्वाहा । तस्मिन् । सहस्रशाखे । नि । भग । अहं । त्वयि । मृजे । स्वाहा । यथा । आपः । प्रवता । यन्ति ।

यथा । मा । साः । अहर्जरं । एवं । मां । ब्रह्मचारिणः धातः । आ । यन्तु । सर्वतः । स्वाहा । प्रतिवेशः । असि । प्र मा । भाहि । प्र । मा । पद्यस्व ।

अर्थ

यशः, जने, असानि=मैं सब जनों में यश वाला होऊं
स्वाहा=यह मेरी प्रार्थना है
वस्यसः=धनों वाले पुरुषों में
श्रेयान्=प्रशंसा के योग्य
असानि=होऊं
भग=हे ऐश्वर्य्य सम्पन्न
तं=मुझको
त्वा=आप
प्रविशानि=अपने स्वरूप में प्रविष्ट कीजिये
भग=हे शोभारूप परमेश्वर
सः=आप
मा=मेरे हृदय में प्रकाश कीजिये
सहस्राशाखे=जगत् की सहस्रों शाखा जिसमें हैं
तस्मिन्, त्वयि=उस आप में
भग=हे परमेश्वर
अहं=मैं
नि, मृजे=अपनी आत्मा को शुद्ध करूं
यथा=जैसे
आपः=जल
प्रवता=निम्न मार्गद्वारा
यन्ति=गमन करता है और
यथा=जैसे
मासाः=महीने
अहर्जरं=मनुष्यों को जीर्ण करते हुए सम्वत्सर को प्राप्त होते हैं
धातः=हे परमात्मन्
एवं=इसी प्रकार
सर्वतः=सब ओर से
ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारी
मां=मुझको
आ, यन्तु=प्राप्त हों, हे परमेश्वर आप
प्रतिवेशः=विश्राम के स्थान
असि=हैं मा=मेरे प्रति
प्र, भाहि=अपने स्वरूप को प्रकाशित कीजिये
मा=मुझको
प्र, पद्यस्व=प्राप्त हूजिये, यह प्रार्थना है

भाष्य—इस श्लोक में उपासक परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन्! मैं सब जनों में यश वाला होऊं, सब धनाढ्यों से श्रेष्ठ होऊं, सम्पूर्ण प्रकार का ऐश्वर्य्य, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य यह षड्गुणों वाला जो आपका स्वरूप है उसमें मैं प्रवेश करूं और मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर मेरा मङ्गल करें और हे परमात्मन्! तुम्हारा जो अनन्त ऐश्वर्य्य वाला स्वरूप है उसमें मैं अपने आपको शुद्ध करूं ऐसी आप मुझ पर कृपा करें, और हे परमात्मन! जिस प्रकार उच्च पर्वत प्रदेशों से जल स्वाभाविक ही नीचे की ओर बहता चला जाता है और जिस प्रकार संवत्सर के भीतर सब महीने संगत हो जाते हैं इसी प्रकार ब्रह्मचारी लोग मुझको आकर प्राप्त हों और मैं आचार्य्य रूप से सर्वत्र प्रसिद्ध होऊं, या यों कहो कि विद्यानन्द को चाहने वाला उपासक परमात्मा से यह प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन! मेरे आचार्य्यपन की ख्याति को सुनकर स्वाभाविक ब्रह्मचारी लोग मुझको आकर प्राप्त हों ताकि मेरा विद्यानन्द सदैव वृद्धि को प्राप्त होता रहे।

इति चतुर्थोऽनुवाकः

———

सं०—अब परमात्मोपसन प्रकरण में प्रथमव्याहृतियों द्वारा उपासना कथन करते हैं:—

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः तासामुहस्मै तां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते मह इति तद्ब्रह्म स आत्मा अङ्गा-

न्यन्य। देवताः भूरिति वा अयंलोकः भुव इत्यन्तरिक्षम् सुव इत्यसौ लोकः॥ १२॥

पद०—भू । भुवः । सुवः । इति । वै । एताः । तिस्रः । व्याहृतयः । तासां । उ । ह । स्म । एतां । चतुर्थीं । माहाचमस्यः । प्रवेदयते ! महः । इति । तत् । ब्रह्म । सः । आत्मा । अङ्गानि । अन्याः । देवताः । भूः । इति । वै । अयं । लोकः । भुवः इति । अन्तरिक्षं । सुवः । इति । असौ । लोकः ।

अर्थ

भूः,भुवः, सुवः, इति, वै, एताः, तिस्रः, व्याहृतयः=यह भूः आदि तीन व्याहृति हैं

तासां=उनमें

उ, ह=यह बात प्रसिद्ध है कि

महः, इति,=मह, यह

एतां चतुर्थीं=चौथीव्याहृति

माहचमस्यः=महाचमस ऋषि का पुत्र माहाचमस्य

प्रवेदयते, स्म=भले प्रकार जानता था

तत्, ब्रह्म=वह ब्रह्म है जो इन चारों व्याहृतियों का वाच्य है

सः, आत्मा=वह सब का अन्तरात्मा है

अन्याः, देवताः=अन्य जो सूर्य्यादि देवता हैं वह

अङ्गानि=इस ब्रह्म के अंग हैं

वै=निश्चय करके

भूः, इति, अयं, लोक=जो 'भूः' व्याहृति हैवह यह लोक है

भुवः, इति, अन्तरिक्षं='भुवः' अन्तरिक्ष है

सुवः इति, असौ, लोकः='सुवः' यह स्वर्ग लोक है।

भाष्य—भूः, भुवः, सुवः यह तीनों व्याहृतियें ब्रह्म को प्रतिपादन करती हैं–["व्याह्रियते अनया इति व्याहृतिः"] जिस वाक्यद्वारा परमात्मा का कथन किया जाय उसका नाम ["व्याहृति"] है, यह व्याहृतियें ईश्वर को इस प्रकार प्रति-

पादन करती हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि को प्राणरूप चेष्टा देने से ["भूः"] जिसमें सम्पूर्ण भूत उत्पन्न हों उसका नाम ["भुवः"] सुखरूप का नाम ["सुवः"] और ["मह्यते पूज्यते इति महः" जो दूसरों से पूजा जाय उसका नाम ["महः"] है, इस प्रकार उक्त तीनों व्याहृतियें और चतुर्थ यह ["महः"] व्याहृति जिसको चमस ऋषि का पुत्र मानता है यह चारों ब्रह्म की प्रतिपादक हैं, दूसरा प्रकार यह है कि ["भूः"] पृथिवीलोक को ["भुवः"] अन्तरिक्ष लोक को "सुवः" सुखप्रधान लोक को और "महः" आदित्य लोक को प्रतिपादित करती है, इस प्रकार भूरादि लोक लोकान्तरों की प्रतिपादक होने से ब्रह्म की अङ्गभूत अर्थात् उसका ऐश्वर्य्य हैं, यहां अङ्गाङ्गीभाव द्वारा तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं किन्तु स्व स्वामीभाव विवक्षित है अर्थात् जिस पक्ष में भूरादिकों के अर्थ पृथिव्यादि लोकों के हैं उस पक्ष में इनको परमात्मा के अङ्ग=ऐश्वर्य्य के प्रतिपादक समझना चाहिए।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि इन व्याहृतियों में पृथिव्यादि लोकों की दृष्टि से उपासना करनी चाहिये, यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि यदि पृथिव्यादकों की दृष्टि से यहां उपासना का विधान होता तो ["महइतिब्रह्म"] इन वक्ष्यमाण वाक्यों में महः आदि शब्दों का ब्रह्म के साथ अभेद वर्णन न किया जाता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इस अनुवाक में ब्रह्म को सर्वोपरि उपास्य देव माना गया है और उक्त व्याहृतियें ब्रह्म को प्रतिपादन करती हैं किसी जड़ उपास्य देव को नहीं।

सं०—अब उक्त व्याहृतियों को आदित्यादिरूप से ईश्वर प्रतिपादक कथन करते हैं :—

महइत्यादित्यः, आदित्येन वाव सर्वे लोका

महीयन्ते, भूरितिवा अग्निः, भुव इति वायुः सुवरित्यादित्यः, मह इति चन्द्रमाः चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते, भूरिति वा ऋचः भुवइति सामानि,सुवरिति यजूंषि १३।

पद०—महः। इति। आदित्यः। आदित्येन। वाव। सर्वे। लोकाः। महीयन्ते। भूः। इति। वै। अग्निः। भुवः। इति। वायुः सुवः इति। आदित्यः। महः। इति। चन्द्रमाः। चन्द्रमसा। वाव। सर्वाणि। ज्योतींषि। महीयन्ते। भूः। इति। वै। ऋचः भुवः। इति। सामानि। सुवः। इति। यजूंषि।

अर्थ

महः, इति, आदित्यः=["महः] शब्द आदित्य परमात्मा का वाचक है, क्योंकि
आदित्येन, वाव=आदित्यरूप परमात्मा से ही।
सर्वे=सब
लोकाः=लोक
महीयन्ते=पुजे जाते हैं
भूः, इतिः, वै, अग्निः=['भूः"] शब्द निश्चयकरके अग्निसंज्ञक परमात्मा का वाचक है
भुवः, इति, वायुः=["भुवः"] शब्द वायु संज्ञक परमात्मा का वाचक है
सुवः,इति, आदित्यः=['स्वः"] शब्द आदित्य का वाचक है
महः, इति, चन्द्रमाः=["महः"] शब्द चन्द्रमासंज्ञक परमात्मा का वाचक है
चन्द्रमसा, वाव, सर्वाणि-ज्योतींषि=निश्चय करके चन्द्रमा से सब ज्योतियें
महीयन्ते=प्रतिष्ठा को प्राप्त होती हैं
भूः, इति, वै,ऋचः=भूः शब्द निश्चय करके ऋग्वेद की ऋचाओं का

भुवः, इति, सामानि=भुवःशब्द सामवेद की ऋचाओं का और

सुवः, इति, यजूंषि=स्वः शब्द यजुर्वेद की ऋचाओं का वाचक है।

भाष्य—अविद्यान्धतम के नाशक आदित्यसंज्ञक परमात्मा का नाम ["महः"] है, क्योंकि सम्पूर्ण लोक लाकान्तर इसी ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की सत्ता से अपनी २ सत्ता को लाभ करते हैं तथा अग्निरूप गतिशील परमात्मा का नाम ["भूः"] है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्तिरूप गति इसी से होती है और सर्वत्र गतिशील परमात्मा का नाम ["भुवः"] है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति इसी से कथन कीगई है, इसी प्रकार चन्द्रमादि सब नाम यहां परमात्मा के हैं, जैसाकि ["तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः"], इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है।

सं०—अब ["महः"] व्याहृति को साक्षात् ब्रह्म का प्रतिपादक कथन करते हैं :—

मह इति ब्रह्म, ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते, भूरिति वै प्राणः, भुवइत्यपानः सुवरितिव्यानः, मह इत्यन्नम्, अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते, ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्द्धा, चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः ता यो वेद स वेद ब्रह्म सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ १४ ॥

पद०—महः। इति। ब्रह्म। ब्रह्मणा। वाव। सर्वे। वेदाः। महीयन्ते। भूः। इति। वै। प्राणः। भुवः। इति। अपानः।

सुवः । इति । व्यानः । महः । इति । अन्नं । अन्नेन । वाव । सर्वे । प्राणाः । महीयन्ते । ताः । वै । एताः । चतस्रः । चतुर्द्धा । चतस्रः । चतस्रः । व्याहृतयः । ताः । यः । वेद । सः । वेद । ब्रह्म । सर्वे । अस्मै । देवाः । बलिं । आवहन्ति ।

अर्थ

महः, इति, ब्रह्म="महः" शब्द ब्रह्म का वाचक है, और
ब्रह्मणा, वाव, सर्वे, वेदाः= निश्चय करके परमात्मा से ही सब वेद
महीयन्ते=प्रतिष्ठा को प्राप्त होतें हैं
भूः, इति, वै, प्राणः="भूः" शब्द प्राण संज्ञक ब्रह्म का वाचक है
सुवः, इति, व्यानः="सुवः" शब्द व्यान संज्ञक ब्रह्म का वाचक है
महः, इति, अन्नं="महः" शब्द अन्न संज्ञक ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि
अन्नेन, वाव, सर्वे, प्राणाः, महीयन्ते=निश्चय करके अन्न से ही सब प्राण प्रतिष्ठा को पाते हैं
ताः, वै, एताः, चतस्रः=यह ही चार
व्याहृतयः=व्याहृतियें
चतुर्द्धा=चार प्रकार की
चतस्रः, चतस्रः=एक २ चार २ प्रकार की होने से सब सोलह प्रकार की हैं
यः, ता, वेद=जो इन को जानता है
सः=वह
ब्रह्म वेद=ब्रह्म को जानता है और
अस्मै=उक्त ज्ञानी पुरुष के लिये
सर्वे देवाः=सब विद्वान् पूज्य मान कर
बलिं=भेंट
आवहन्ति=देते हैं।

भाष्य—"महः" यह ब्रह्म का वाचक है और उस ब्रह्म को प्राण नाम से भी कथन करते हैं, क्योंकि वह सब को प्राणन-

शक्ति देने वाला है, इसी अभिप्राय से महर्षि व्यास ने कथन किया है कि ["प्राणस्तथानुगमात्"] ब्र० सू० १।२। ३८=प्राण ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है, एवं सब दुःखों का निवारक होने के कारण ब्रह्म का नाम ["अपान"] सर्वत्र व्यापक होने से ["व्यान"] और सब का भक्षण कर्ता होने से उस का नाम ["अन्न"] है जैसा कि ["अत्ता चराचरग्रहणात्"] ब्र० सू० १।२।६ इस सूत्र में ब्रह्म को अत्ता कथन किया गया है, इस प्रकार भूः, भुवः, स्वः व्याहृतियें प्राण, अपान और व्यान का वाचक होने से ब्रह्म की प्रतिपादक हैं, जो लोग उक्त प्रकार से व्याहृति प्रतिपाद्य ब्रह्म को जानते हैं उन का ब्रह्मवेत्ता होने के कारण सब विद्वान् पूजन करते हैं, इस अनुवाक में निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन व्याहृतियों द्वारा किया गया है परन्तु साकारवादी इससे यह भाव निकालते हैं कि इस में षोडशकल साकार ब्रह्म का प्रतिपादन है, उन का यह कथन इस लिये ठीक नहीं कि श्लोक में साकार प्रतिपादक कोई शब्द नहीं, यदि अन्न, प्राण, अपान और व्यान इत्यादि शब्दों से जड़ अन्न तथा प्राण वायुओं का ग्रहण किया जाय तो भी यह प्रकरण साकार ब्रह्म का प्रतिपादक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने से उक्त शब्द जड़ प्राकृत पदार्थों के वाचक हो सकते हैं ब्रह्म के नहीं, यदि यह कहा जाय कि इन शब्दों का लक्ष्य ब्रह्म होने से यह उसके प्रतिपादक हैं तो भी साकारवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि लक्ष्य तो सर्वत्र निराकार ब्रह्म ही है साकार नहीं, और युक्ति यह है कि "महः इति ब्रह्म"="महः" यह ब्रह्म का नाम है किसी अन्य पदार्थ का नहीं, जब इस प्रकार इसमें साक्षात् ब्रह्म के वाचक शब्द पाये जाते हैं तो फिर यह प्रकरण

साकार का बोधक कैसे हो सकता है, वास्तव में बात यह है कि इस प्रकरण में व्याहृति प्रतिपाद्य ब्रह्म का उत्तम रीति से वर्णन किया गया है किसी जड़ पदार्थ का नहीं।

इति पंचमोऽनुवाकः

सं०—अब हृदयाकाश में ब्रह्म को उपास्यदेव कथन करते हैं—

स य एषोन्तर्हृदय आकाशः, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतोहिरण्मयः अन्तरेण तालुके, य एष स्तनइवावलम्बते, सेन्द्रयोनिः, यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते, व्यपोह्य शीर्षकपाले, भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति भुव इति वायौ। १५।

पद०—सः। यः। एषः। अन्तर्हृदये। आकाशः। तस्मिन्। अयं। पुरुषः। मनोमयः। अमृतः। हिरण्मयः। अन्तरेण। तालुके। यः। एषः। स्तनः। इव। अवलम्बते। सा। इन्द्रयोनिः। यत्र। असौ। केशान्तः। विवर्त्तते। व्यपोह्य। शीर्षकपाले। भूः। इति। अग्नौ। प्रतितिष्ठति। भुवः। इति। वायौ।

अर्थ

अन्तर्हृदये=हृदय के भीतर
यः=जो आकाशः=आकाश है
तस्मिन्=उसमें
सः, अयं=वह यह
मनोमयः=ज्ञानस्वरूप
हिरण्मयः=प्रकाशस्वरूप

अमृतः=नाशरहित
पुरुषः=पुरुष है
अन्तरेण, तालुके=तालु के मध्य
यः, एषः=जो यह काक नामक कण्ठ में
स्तनः, इव=स्तन के समान मांस का भाग
अवलम्बते=लटकता है उसके समीप ही सुषुम्णा नाड़ी का मार्ग है तथा
यत्र=जिस स्थान में
केशान्तः=केशों का अवसान है उस
विवर्त्तते=विभाग को
व्यपोह्य=छेदन करके
शीर्षकपाले=शिर के कपाल में उक्त नाड़ी निकली हुई है
सा=वही
इन्द्रयोनिः=ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा की मुक्ति का द्वार है
भूः,इति="भूः" इस व्याहृति द्वारा उपासना करने वाला उपासक
अग्नौ=परमात्मा के ज्ञानगुण को लाभ करके
प्रतितिष्ठति=मुक्तों में प्रतिष्ठित होता है और
भुवः,इति, वायौ="भुवः" इस व्याहृतिं द्वारा उपासना करने वाला उपासक परमात्मा के गतिरूप गुण को लाभ करता है

भाष्य—इस शरीर के भीतर हृदयाकाश में ज्ञानस्वरूप, मृत्युरहित तथा ज्योतिःस्वरूप परमात्मा स्थिर है उसकी उपासना करने वाला पुरुष मुक्ति अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् तालु के नीचे जो एक छोटासा मांस का खण्ड लटकता है जिसको काक कहते हैं उसके समीप से सुषुम्णा नामक नाड़ी कपाल को भेदन करके ऊर्ध्वदेश में निकली हुई है इसी के द्वारा उक्त उपासक गमन करता तथा सबको प्राणशक्ति देने वाले परमात्मा की उपासना से ज्ञान गुण को लाभ करके मुक्त पुरुषों में प्रतिष्ठित होता है ।

स्मरण रहे कि उपलब्धि के अभिप्राय से परमात्मा को

जीव के हृदय देश में कथन किया गया है वस्तुतः वह सर्वव्यापक है, परमात्मा उक्त उपासक सुषुम्णा नाड़ी द्वारा इस शरीर से उत्क्रमण करता है साधारण पुरुषों के समान अन्य इन्द्रियों के छिद्रों द्वारा नहीं, इस श्लोक में ब्रह्मज्ञानी की अन्य जीवों से उत्कृष्टता बोधक की गई है कि ब्रह्मज्ञानी की उत्क्रान्ति अन्य जीवों के समान नहीं होती।

सं०—अब यह कथन करते हैं कि "स्वः" तथा "महः" व्याहृतियों द्वारा ब्रह्मकी उपासना करने वाला पुरुष किस ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता है:—

सुवरित्यादित्ये,मह इति ब्रह्मणि, आप्नोति स्वाराज्यम्, आप्नोति मनसस्पतिम्, वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः, श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः, एतत्ततो भवति, आकाशशरीरं ब्रह्म सत्यात्मप्राणारामं मन आनन्दम्, शान्तिसमृद्धममृतम्, इति प्राचीनयोग्योपास्व ॥ १६ ॥

पद०—सुवः। इति। आदित्ये। महः। इति। ब्रह्मणि। आप्नोति। स्वाराज्यं। आप्नोति। मनसस्पतिं। वाक्पतिः। चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिः। विज्ञानपतिः। एतत्। ततः। भवति। आकाशशरीरं। ब्रह्म। सत्यात्म। प्राणारामं। मनः। आनन्दं। शान्तिसमृद्धं। अमृतं। इति। प्राचीनयोग्य। उपास्व।

अर्थ

सुवः, इति, आदित्ये="सुवः" रूप से उपासना करने वाला प्रकाश में
महः, इति, ब्रह्मणि="महः" रूप से उपासना करने वाला ब्रह्म में विराजमान होता है और वह
स्वाराज्यं=ईश्वर के भावों को
आप्नोति=प्राप्त होता है
मनसस्पतिं, आप्नोति=मन के स्वामित्व को प्राप्त होता है और वह
वाक्पतिः, चक्षुष्पतिः, श्रोत्रपतिः, विज्ञानपतिः=वाणी, चक्षुः, श्रोत्र तथा विज्ञान का स्वामी हो जाता है, और
ततः=उक्त उपासना से
एतत्, भवति=वक्ष्यमाण भावों वाला होता है
आकाशशरीरं=आकाश के समान व्यापक
सत्यात्म=सत्यस्वरूप
प्राणारामं=सब प्राणियों में रमण करने वाला
मनः, आनन्दं=मनको आनन्द देने वाला
शान्तिसमृद्धं=शान्ति तथा समृद्धि वाला
अमृतं=अविनाशी जो
ब्रह्म=परमात्मा है, हे जीव तू उस
प्राचीनयोग्य=सनातन ब्रह्मकी
इति=उक्त प्रकार से
उपास्व=उपासना कर।

भाष्य—"स्वः" और "महः" व्याहृतियों द्वारा उपासना करने वाला ब्रह्म में विराजमान होता है, या यों कहो कि उक्त उपासक ब्रह्म को प्राप्त होकर स्वतन्त्रता को लाभ करता है और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की शक्तियों को लाभ करके उनका स्वामी होता है अर्थात् ["सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितः"] इस वाक्य के अनुसार ब्रह्म के आनन्दादि गुणों को लाभ करके स्वतन्त्र हो जाता है, इसलिये हे जीव उक्त प्रकार से तू सब प्राणियों में रमण करने वाले, मनको आनन्द

देने वाले, शान्तिस्वरूप, अविनाशी परमात्मा की उपासना कर ताकि ब्रह्म के आनन्दादि गुणों को तद्धर्मतापत्ति द्वारा उपलब्ध कर सके।

मायावादी इस के यह अर्थ करते हैं कि उक्त व्याहृतियों से ब्रह्मोपासना करने वाला उपासक ब्रह्म बन जाता है, उनका यह कथन ठीक नहीं. यदि उक्त व्याहृतियों की उपासना का यह भाव होता तो उपसंहार में यह कथन न कियाजाता कि ["प्राचीन योग्योपास्व"]=उक्त उपासना में योग्यता वाला तु सनातन ब्रह्म का उपासना कर, क्योंकि ब्रह्म बनजाने पर कौन उपासक और किसकी उपासना, इससे सिद्ध है कि इस अनुवाक में ब्रह्म की उपासना कथन कीगई है जीव का ब्रह्म बनना नहीं, या यों कहो कि इस प्रकरण में व्याहृति उपासक को निराकार ब्रह्म की प्राप्ति का वर्णन कियागया है जीवब्रह्म की एकता का यहां कोई प्रकरण नहीं।

इति षष्ठोऽनुवाकः

—(❀)—

सं०—अब अधिभूत तथा अध्यात्मरूप से पाङ्क्तोपासना का कथन करते हैं:—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः, अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि, आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा इत्यधि-भूतम्, अथाध्यात्मम्, प्राणो व्यानोऽपान

उदानः समानः चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्, चर्म ं स्नावास्थि मज्जा एतदधि-विधाय ऋषिरवोचत्, क ं वा इदं सर्वं पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति ॥ १७ ॥

दप०—पृथिवी । अन्तरिक्षं । द्यौः । दिशः । अवान्तरदिशः। अग्निः । वायुः । आदित्यः । चन्द्रमाः । नक्षत्राणि । आपः । ओषधयः । वनस्पतयः । आकाशः । आत्मा । इति अधिभूतं । अथ । अध्यात्मं । प्राणः । व्यानः अपानः । उदानः । समानः । चक्षुः । श्रोत्रं । मनः । वाक् । त्वक् । चर्म । मांसं । स्नावा । अस्थि । मज्जा । एतत् । अधिविधाय । ऋषिः । अवोचत् । पाङ्क्तं । वै । इदं । सर्वं । पाङ्क्तेन । एव । पाङ्क्तं । स्पृणोति। इति ।

अथ

पृथिवी=पृ
अन्तरिक्षं=अन्तरिक्ष
द्यौः=द्युलोक
दिशः=पूर्वादि दिशा
अवान्तरदिशः=आग्नेयादि उप-दिशा
अग्निः अग्नि
वायुः=वायु
आदित्यः=सूर्य
चन्द्रमाः=चन्द्रमा

नक्षत्राणि=नक्षत्र
आपः=जल
ओषधयः=ओषधियें
वनस्पतयः=वनस्पतियें
आकाशः=आकाश और
आत्मा=जीवात्मा, इन सब पदार्थों में परमात्मा को व्यापक समझ कर उपासना करने का नाम
इति,अधिभूतं=अधिभूतोपासनाहै

अथ=अब अध्यात्मोपासना का कथन करते हैं
प्राणः=प्राण
व्यानः=व्यान
अपानः=अपान
उदानः=उदान
समानः=समान
चक्षुः=चक्षु
श्रोत्रं=श्रोत्र
मनः=मनः=मन
वाक्=वाणी
त्वक्=त्वचा
चर्म=चाम
मांसं, स्नावा, अस्थि, मज्जा= मांस नशें हड्डी और चर्बी
एतत्, अधिविधाय=इन का विधान करके
ऋषिः=ऋषि ने
अवोचत्=कहा कि
इदं, वै, सर्वं, पाङ्क्तं=निश्चय कर के यह सब पाङ्क्त= पंक्तिरूप नाना भावों में ईश्वर के व्यापक भाव से उपासना करने का नाम पाङ्क्तोपासना है
पाङ्क्तेन,एव=इस पांक्तोपासना से ही
पाङ्क्तं=पंक्ति में होने वाले परमात्मा को
स्पृणोति,इति=पुरुष प्राप्त होता है

भाष्य—पृथिव्यादि सब लोक लोकान्तरों तथा दिशा और उपदिशाओं में परमात्मा को व्यापक समझकर जो उपासना की जाती है उसका नाम ["अधिभूतोपासना"] तथा प्राणादि आत्म सम्बन्धी पदार्थों में परमात्मा को उपस्थित समझकर जो उपासना की जाती है उस का नाम ["अध्यात्मोपासना"] और उक्त दोनों प्रकार की उपासना का नाम ["पाङ्क्तोपासना"] है अर्थात् सब पदार्थों में परमात्मा को व्यापक समझकर उपासना करने का नाम "पाङ्क्तोपासना"] कहाती है, इसी उपासना द्वारा उपासक ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि इससे पूर्व ब्रह्म की उपासना कथन करके अब स्थूलदर्शियों के लिये पाङ्क्तो-

पासना का वर्णन किया है, इनका यह कथन ठीक नहीं, यदि यह उपासना स्थूलदर्शियों के लिये होती तो पूर्व की उपासनाओं में सूक्ष्मदर्शियों का अवश्य कथन होता कि अमुक २ उपासना सूक्ष्मदर्शियों के लिये और यह स्थूलदर्शियों के लिये है पर ऐसा कथन कहीं भी नहीं, इससे सिद्ध है कि जिस प्रकार भूरादि व्याहृतियों द्वारा परमात्मा की उपासना कथन की है इसी प्रकार पृथिव्यादि लोक-लोकान्तरों में व्यापक परमात्मा की उपासना वर्णन की गई है जिसका नाम "पाङ्क्तोपासना" है, इसमें उत्तम मध्यम का कोई विवेक नहीं, यदि कुछ विवेक होता तो इनके मतानुसार व्याहृति उपासना भी षोडशकल पुरुष विषयक होने के कारण मन्दाधिकारी के लिये ही कथन की जाती नकि उत्तमाधिकारी के लिये परन्तु ऐसा नहीं, इस से सिद्ध है कि इन की यह कल्पना पौराणिकों के समान माया मात्र है।

इति सप्तमोऽनुवाकः

——:(०):——

सं०—अब ओङ्कारोपासना कथन करते हैं:—

ओमितिब्रह्म, ओमितीदंसर्वम्, ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति, ओमिति सामानि गायन्ति, ओंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति, ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं गृणाति, ओमिति ब्रह्माप्रस्तौति,

ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति, ओमिति ब्राह्मणः वक्ष्यन्नाह, ब्रह्मोपाप्नुवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति । १८ ।

पद०— ओ३म् । इति । ब्रह्म । ओ३म् । इति । इदं । सर्वं । ओ३म् । इति । एतत् । अनुकृति । ह । स्म । वै । अपि । ओ । श्रावय । इति । आश्रावयन्ति । ओ३म् । इति । सामानि । गायन्ति । ओ३म् । शोम् । इति । शस्त्राणि । शंसन्ति । ओ३म् । इति । अध्वर्युः । प्रतिगरं । गृणाति । ओ३म् । इति । ब्रह्मा । प्रस्तौति । ओ३म् । इति । अग्निहोत्रं । अनुजानाति । ओ३म् । ब्राह्मणः । प्रवक्ष्यन् । आह । ब्रह्म । उपाप्नवानि । इति । ब्रह्म । एव । उपाप्नोति ।

अर्थ

ओ३म्, इति, ब्रह्म = "ओ३म्" यह ब्रह्म है

ओ३म्, इति, इदं, सर्वं = "ओ३म्" इस ब्रह्म के वाचक परमात्मा से यह सब जगत् व्याप्त है

ह, स्म, वै = यह प्रसिद्ध है कि

ओ३म्, इति, एतत् = ओ३म् यह वाच्य वाचक रूप ब्रह्म का

अनुकृति = अनुकरण है

अपि = और बात यह है कि

ओ, श्रावय, इति = शिष्य के यह कथन करने पर कि ब्रह्म का उपदेश सुनाओ तब "ओ३म्" का उच्चारण करके ही

आश्रावयन्ति = आचार्य्य शिष्य को उपदेश करता है

ओ३म्, इति = ओ३म् शब्दपूर्वक ही उद्गाता लोग

सामानि, गायन्ति = साम वेद का गायन करते हैं और

ओ३म्, शोम, इति=ओ३म् शोम् कह कर
शस्त्राणि, शंसन्ति=गीति रहित ऋचाओं की प्रशंसा करते हैं
ओ३म, इति=ओंकारपूर्वक ही
अध्वर्युः=अध्वर्यु यजमान के वाक्य का
प्रतिगरं=प्रत्युत्तर
गृणाति=करता है
ओ३म्, इति=ओ३म् पूर्वक ही
ब्रह्मा=सब ऋत्विजों का शिरोमणि
प्रस्तौति=वैदिक कर्म करने की आज्ञा देता है तथा
ओ३म, इति=ओ३म् पूर्वक ही
अग्निहोत्रं=अग्निहोत्र की
अनुजानाति=आज्ञा देता है
ओ३म्, इति=ओ३म् पूर्वक ही
ब्राह्मणः=ब्राह्मण
प्रवक्ष्यन्=वेदाध्ययन करते हुए
ब्रह्म उपाप्नुवानि=हम ब्रह्म को प्राप्त हों ऐसा
आह=कथन करते हैं, उक्त कर्मों का कर्त्ता
ब्रह्म, एव, इति=परमात्मा को ही
उपाप्नोति=प्राप्त होता है।

भाष्य – ब्रह्म का वाचक होने से ["ओ३म"] को ब्रह्म कथन किया गया है ["सर्वं"] कथन करने का तात्पर्य्य यह है कि सब वैदिक कर्म इसी के द्वारा प्रारम्भ किये जाते हैं, ओंकार का उच्चारण करके ही गुरु शिष्य को वेद का प्रारम्भ कराता है, ओंकार का उच्चारण करके ही उद्गाता सामवेद का गायन करते हैं और ओ३म् के उच्चारण पूर्वक ही ब्रह्मा सब ऋत्विजों को यज्ञादि कर्म करने की आज्ञा देता है, अधिक क्या सब वैदिक कर्म ओंकार के उच्चारण पूर्वक ही किये जाते हैं. इससे सिद्ध है कि ओंकार से तात्पर्य्य यहां ब्रह्म का है, इसीलिये यह कथन किया है कि ओ३म् का उपासक ब्रह्म को प्राप्त होता है।

मायावाद मत के एकदेशी शवलवादी ["ओ३म् इति इदं

सर्वं"] इस वाक्य के यह अर्थ करते हैं कि ओ३म् यह शवल ब्रह्म होने से सब चराचर जगत् इसी का रूप है, इन का यह कथन ठीक नहीं, यदि यह आशय यहां होता तो सब उत्तम कर्मों के प्रारम्भ में इसी का उच्चारण कथन न किया जाता, क्योंकि इन के मतानुकूल ओ३म् के स्थान में किसी अप शब्द का भी उच्चारण किया जाना भी शवलवाद की रीति से ब्रह्म का ही वाचक है फिर ओ३म् में क्या विशेषता ? इस से सिद्ध है कि ओ३म् परमात्मा का निज नाम शवलवाद के अभिप्राय से नहीं किन्तु नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म के बोधक होने के अभिप्राय से है और ओ३म् की उपासना से तात्पर्य्य निर्वि-शेष ब्रह्म की उपासना का है किसी अन्य का नहीं।

इति अष्टमोऽनुवाकः

——❀——

सं०—अब पुरुष के लिये अवश्य कर्त्तव्यकर्मों का कथन करते हैं:—

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च, तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च, शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च, अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च, अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च, मानुषञ्च स्वाध्याय-

प्रवचने च, प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः तपइति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः, तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥ १६ ॥

पद०—ऋतं। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। सत्यं। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। तपः। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। दमः। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। शमः। च। स्वाध्याय-प्रवचने। च। अग्नयः। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। अग्निहोत्रं। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। अतिथयः। च। स्वध्यायप्रवचने। च। मानुषं। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। प्रजा। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। प्रजनः। च। स्वाध्याय-प्रवचने। च। प्रजापतिः। च। स्वाध्यायप्रवचने। च। सत्यं। इति। सत्यवचाः। राथीतरः। तपः। इति। तपः। नित्यः। पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने। एव। इति। नाकः। मौद्गल्यः। तत्। हि। तपः। तत्। हि। तपः।

अर्थ

ऋतं, च, स्वाध्यायप्रवचने= शास्त्रीय सत्यभाषण करते हुए वेद को पढ़ो पढ़ाओ
च=और

सत्यं, च, स्वाध्यायप्रवचने= सत्यभाषण करते हुए पढ़ो पढ़ाओ
च=और

तपः, च, स्वाध्यायप्रवचने= तितिक्षा करते हुए पढ़ो पढ़ाओ
च=और
करते हुए पढ़ो पढ़ाओ
च=और
प्रजा, च, स्वाध्यायप्रवचने= प्रजा की रक्षा करतेहुए पढ़ो पढ़ाओ
च=और
प्रजनः, च, स्वाध्यायप्रवचने= सन्तान की उत्पत्तिपूर्वक पढ़ो पढ़ाओ
च=और
प्रजातिः, च, स्वाध्यायप्रवचने= जात्युन्नति करते हुए
दमः, च, स्वाध्यायप्रवचने= इन्द्रियों के निरोधपूर्वक पढ़ो पढ़ाओ
च=और
शमः, च, स्वाध्यायप्रवचने= मन के निरोधपूर्वक पढ़ो पढ़ाओ
च=और
अग्नयः, च, स्वाध्यायप्रवचने= तीनों अग्नियों के आधान-पूर्वक पढ़ो पढ़ाओ
च=और
अग्निहोत्रं, च, स्वाध्यायप्रवचने=प्रातः सायं दोनों काल अग्निहोत्र करते हुए पढ़ो पढ़ाओ
च=और
अतिथयः, च, स्वाध्यायप्रवचने=अतिथि सत्कारपूर्वक पढ़ो पढ़ाओ
च=और
मानुषं, च, स्वाध्यायप्रवचने= मनुष्य मात्र का सत्कार पढ़ो पढ़ाओ
च=और
सत्यवचाः=सत्यभाषण ही जिनका वाणी है जो कभी असत्य भाषण नहीं करते ऐसे
राथीतरः=राथीतर आचार्य्य
सत्य, इति=सत्य ही श्रेष्ठ है ऐसा मानते हैं
तपः, नित्यः पौरुशिष्टिः=तप करने में नित्य तत्पर रहना चाहिये यह पौरुशिष्टि आचार्य का मत है

स्वाध्यायप्रवचने, एव, इति, नाकः, मौद्गल्यः = नित्य वेद का पढ़ना पढ़ाना ही सर्वो- परि है यह मुद्गल आचार्य के शिष्य नाक नामक आचार्य्य का मत है तत्, हि, तपः=पढ़ना पढ़ाना ही मुख्य तप है, अतएव इसका अवश्य सेवन करना चाहिये

भाष्य—["तत्, हि, तपः"] पाठ दो बार अनुवाक की समाप्ति के लिये आया है, नित्यों को नित्य और अनित्यों को अनित्य मानना अर्थात् विद्यापूर्वक सब पदार्थों का विवेचन करना [' शास्त्रीय सत्य"] कहता है, इस सत्यपूर्वक पुरुष को स्वाध्याय तथा प्रवचन सदा कर्त्तव्य है, सत्यभाषणपूर्वक स्वाध्याय तथा प्रवचन करना चाहिये, शीतोष्ण, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि द्वन्द्वों के दमनपूर्वक नित्य स्वाध्याय तथा प्रवचन करना चाहिये, इन्द्रियों के निरोधपूर्वक नित्य स्वाध्याय तथा प्रवचन कर्तव्य है, तपपूर्वक किये हुए स्वाध्याय तथा प्रवचन सफल होते हैं और इन्द्रियों के निरोधपूर्वक किये हुए स्वाध्याय तथा प्रवचन सफल होते हैं, इत्यादि, नियम पूर्वक नित्य सत्यभाषण करने वाले रथीतर नामक ऋषि के पुत्र राथीतर आचार्य्य यह मानते हैं कि धर्म के सब आचरणों में नित्य सत्य का सेवन करना ही श्रेष्ठतम है, पुरुशिष्ट ऋषि के पुत्र पौरुशिष्टि का कथन है कि तप ही प्रधान है इसके सेवन करने से पुरुष पवित्र हो जाता है, मुद्गल ऋषि के पुत्र मोद्गल्य आचार्य्य का यह मत है कि स्वाध्याय तथा प्रवचन का ही नित्य सेवन करना चाहिये इसी से पुरुष का कल्याण हो सकता है, क्योंकि स्वाध्याय=पढ़ाना, प्रवचन=पढ़ना यह ही मुख्य तप है ।

भाव यह है कि जो पुरुष अनन्यचित्त से स्वाध्याय और प्रवचन करता है उसका मनुष्यजीवन पवित्र होजाता है, क्योंकि इन्हीं दोनों के अन्तर्गत सारे तप आजाते है, यह मौद्गल्य आचार्य्य मानते हैं, यदि कोई पुरुष तितिक्षा नहीं करता अर्थात् उक्त द्वन्द्वों को नहीं सहारता उसका केवल स्वाध्याय और प्रवचन निस्तारा नहीं कर सकते, जैसा कि ["आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः"] आचार हीन पुरुष को वेद पवित्र नहीं कर सकता अर्थात् जो पुरुष ऋत, सत्य, तप, दम और शम आदि साधनों द्वारा स्वाध्याय तथा प्रवचन करता है वह अपने आपको तपस्वी बनाकर इस संसारानल से संतप्त न हो कर सर्वोपरि अमृतधाम को प्राप्त होता है और जो ऋतादि साधनों से रहित होकर पठन पाठन करता है उस से उसके अन्तःकरण की शुद्धि नही हो सकती फिर परमपद प्राप्ति की तो कथा ही क्या, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह शमदमादि साधन सम्पन्न होकर वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्ययनाध्यापन करे।

इति नवमोऽनुवाकः

———

सं०—अब उक्त स्वाध्याय तथा प्रवचन का फल कथन करते हैं :—

अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्त्तिः पृष्ठं गिरे-रिव ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि, द्रविणं सवर्चसं, सुमेधा अमृतोक्षितः, इति

त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनं ॥ २० ॥

पद०—अहं । वृक्षस्य । रेरिवा । कीर्त्तिः । पृष्ठं । गिरेः । इव । ऊर्ध्वपवित्रः । वाजिनि । इव । स्वमृतं । अस्मि । द्रविणं । सवर्चसं । सुमेधाः । अमृतः । अक्षितः । इति । त्रिशङ्कोः । वेदानुवचनं ।

अर्थ

अहं=ब्रह्मज्ञानी का कथन है कि मैं
वृक्षस्य=इस संसाररूप वृक्ष का
रेरिवा=वैराग्यरूप शस्त्र से छेदन करने वाला हूं
गिरेः, पृष्ठं, इव=पर्वत के शिखर समान मेरा
कीर्त्तिः=यश सब से ऊंचाहो
ऊर्ध्वपवित्रः=सब से ऊंचा पवित्र जो
वाजिनि=सूर्य्य है उसके
इव=समान
स्वमृतं=परमात्मा के मुक्तिरूप सुख को
अस्मि=भोगता हूं
द्रविणं, सवर्चसं=प्रकाशक जो ब्रह्मतेज है उस वाला मैं हूं
सुमेधाः=उत्तम बुद्धिवाला
अमृतः, अक्षितः=मुक्तिरूप अक्षय सुखवाला मैं हूं
इति=यह कथन
त्रिशङ्कोः=त्रिशंकु नामा ऋषि का
वेदानुवचनं=वेदानुकूल है,

भाष्य—इस श्लोक में सत्यभाषण तथा तपसहित स्वाध्यायाय और प्रवचन का फल कथन कियागया है अर्थात् त्रिशंकु नामा ऋषि जिसने अनुष्ठानपूर्वक स्वाध्याय और प्रवचन किया उसका कथन है कि मैं इस संसाररूप वृक्ष को बैराग्यरूप शस्त्र से छेदन करके अमृतधाम को प्राप्त होकर अक्षय सुखवाला हूं

इसी प्रकार जो पुरुष वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा इस संसाररूप वृक्ष का छेदन कर देता हैं उसका ऊंची से ऊंची हिमालय की चोटी के समान यश होता है तथा सूर्य्य की ज्योतिः के समान उसका अमृतभाव अज्ञानियों का प्रकाशक होता हैं और विद्यारूप निधि तथा सब तेजों का वह होता है कि मानो सुमेधा=सुन्दर बुद्धि और मुक्तिरूप वारि से उसका पूर्णाभिषेक कियागया है, वह अति आनन्दित हुआ कथन करता है कि मैं अमृत हूं, यह त्रिशङ्कु नामक ऋषि ने वेदानुकूल कथन किया है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि वामदेव के समान त्रिशंकु ऋषि ने यह कथन किया है कि मैं अमृत हूं, मैं ही धन तथा सब प्रकार का तेज हूं, मैं इस संसाररूप वृक्ष का काटने वाला हूँ अर्थात् मैं ब्रह्म हूं, यह भाव इस श्लोक का कदापि नहीं, यदि इसका यह भाव होता कि मैं ब्रह्म हूँ तो ["सुमेधा अमृतोक्षितः" सुन्दरबुद्धि और अमृत से सींच हुआ मैं पूर्वोक्त विशेषण वाला हूं यह कथन न कियाजाता, क्योंकि इनके मतानुसार ब्रह्मभावरूप मुक्ति किसी के सींचने से नहीं होती, या यों कहो कि वह कर्मजन्य नहीं किन्तु नित्यप्राप्त की प्राप्ति है फिर ब्रह्मभाव कैसे ? इस से सिद्ध है कि साधन सम्पन्न हुए ब्रह्मज्ञानी का यह कथन है कि मैं उक्त आचरणोंद्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ हूँ, मेरा यश ऊंचा है और मैं इस संसार रूप वृक्ष का काटने वाला हूँ, इसी का नाम तद्धर्मतापत्ति है अर्थात् परमात्मा के भावों को लाभकरके विज्ञानी पुरुष यह कथन करता है, और इसी भाव को ["शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो-वामदेववत्" "ब्राह्मेण जैमिनिः"] इत्यादि सूत्रों में महर्षि व्यास ने वर्णन किया है जिसको पीछे विस्तारपूर्वक लिख

आये हैं, इस श्लोक में जीवब्रह्म की एकता का गन्धमात्र भी नहीं, और बात यह है कि इससे आगे के श्लोक में गुरु शिष्य को धर्म का उपदेश करता है और इनके मतानुकूल ब्रह्मज्ञान से उत्तर धर्म का उपदेश करना निष्फल है, इससे सिद्ध है कि यह प्रकरण ब्रह्मज्ञानी की अवस्था को वर्णन करता है ब्रह्म बनने को नहीं।

इति दशमोऽनुवाकः

—:०:—

सं०—अब वेदाध्ययन के अनन्तर गुरु शिष्य को शिक्षा करता है :—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति, सत्यंवद, धर्मंचर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, सत्यान्न प्रमदितव्यं, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम् स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ २१ ॥

पद०—वेदं। अनूच्य। आचार्य्यः। अन्तेवासिनं। अनुशास्ति। सत्यं। वद। धर्मं। चर। स्वाध्यायात्। मा। प्रमदः। आचार्य्याय। प्रियं। धनं। आहृत्य। प्रजातन्तुं। मा। व्यव-

च्छेत्सीः । सत्यात् । न । प्रमदितव्यम् । धर्मात् । न । प्रमदितव्यं । कुशलात् । न । प्रमदितव्यम् । भूत्यै । न । प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां । न । प्रमदितव्यम् ।

अर्थ

आचार्य्यः=आचार्य्य
वेदं=वेद को
अनूच्य=पढ़ाकर
अन्तेवासिनं=शिष्य के प्रति
अनुशास्ति=शिक्षा करता है कि हे शिष्य ! तू
सत्यं, वद=सत्य बोल
धर्मं, चर=वेदप्रतिपाद्य अग्निहोत्रादि रूप धर्म का आचरण कर
स्वाध्यायात्=पठन पाठन में
प्रमदः=प्रमाद
मा=मत कर
आचार्य्याय=आचार्य्य के लिये
प्रियं, धनं=प्यारा धन
आहृत्य=लाकर दे
प्रजातन्तुं=पुत्रादि सन्तति रूप विस्तार को
मा=मत
व्यवच्छेत्सीः=काट
सत्यात्, न, प्रमदितव्यम्=सत्य के पालन करने में प्रमाद न कर
धर्मात्, न, प्रमदितव्यम्=धर्म के पालन करने में प्रमाद मत कर
कुशलात्, न, प्रमदितव्यम्=अपनी शारीरिक आरोग्यत सम्पादन करने में प्रमाद न कर
भूत्यै, न, प्रमदितव्यं=धनादि ऐश्वर्य्य सम्पादन करने में प्रमाद न कर
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां, न प्रमदितव्यम्=स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत कर।

भाष्य—वेदाध्ययन के अनन्तर आचार्य्य शिष्य को शिक्षा करता है कि हे शिष्य ! तुम को सदा सत्य भाषण करना चाहिये, यहां ["सत्य"] शब्द अहिंसा आदि पांचों यमों का

उपलक्षण है, जैसा कि ["अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः"] यो० २।३० इस सूत्र में वर्णन किया है कि मन वाणी तथा शरीर से अनिष्ट चिन्तन, कठोर भाषणादि द्वारा प्राणीमात्र को दुःख देने का नाम ["हिंसा"] और सर्व प्रकार से सर्वकाल में किसी को भी दुःख न देने का नाम ["अहिंसा"] यथार्थ भाषण=जैसा देखा, सुना वा अनुमान किया हो उसको वैसा ही कथन करने का नाम ["सत्य"] छल, कपट, चोरी तथा ताड़नादि किसी प्रकार से भी अन्य पुरुष के धन को ग्रहण न करने का नाम ["अस्तेय"] सब इन्द्रियों के निरोधपूर्वक उपस्थेन्द्रिय के निरोध का नाम ["ब्रह्मचर्य्य"] और दोषदृष्टि से विषय भोग में घृणा का नाम ["अपरिग्रह"] है, इन पांचों का सेवन तथा नित्य नैमित्तिक कर्मों का तुम को सदा अनुष्ठान करना चाहिये, वेद का स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिये, और अपने स्वभावानुकूल स्त्री से वैदिक संस्कारानुसार विवाह करके प्रजा उत्पन्न करनी चाहिये, अपनी शारीरिक आरोग्यता सम्पादन करने में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि स्वास्थ्य के बिगड़ जाने से पुरुष किसी कार्य्य को यथावत् नहीं कर सकता, धनादि ऐश्वर्य्य प्रलोभन में आकर अपने धर्म से कभी च्युत नहीं होना चाहिये और वेद का अध्ययनाध्यापन तुम को अवश्य कर्तव्य है ताकि पढ़ा हुआ भूल न जाओ।

सं०—अब आचार्य्य शिष्य के प्रति देव तथा माता, पिता और आचार्य्य का सत्कार करना कथन करते हैं:—

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवोभव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि

सेवितव्यानि, नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ २२ ॥

पद०—देवपितृकार्याभ्यां । न । प्रमदितव्यम् । मातृदेवः । भव । पितृदेवः । भव । आचार्य्यदेवः । भव । अतिथिदेवः । भव । यानि । अनवद्यानि । कर्माणि । तानि । सेवितव्यानि । नो । इतराणि । यानि अस्माकं । सुचरितानि । तानि । त्वया । उपास्यानि । नो । इतराणि ।

अर्थ

देवपितृकार्याभ्यां, न, प्रमदितव्यम्=देव और पितादि की सेवा करने में कभी प्रमाद मत कर
मातृदेवः, भव=माता को देव मान
पितृदेवः, भव=पिता को देव मानो
आचार्य्यदेवः, भव=आचार्य्य को देव मान
अतिथिदेवः, भव=अतिथि को देव मान
यानि, अनवद्यानि, कर्माणि=जो अनिन्दित कर्म हैं
तानि=वही तुम को
सेवितव्यानि=सेवन करने चाहियें
नो, इतराणि=इतर नहीं
यानि=जो
अस्माकं=हमारे
सुचरितानि=वेदानुकूल कर्म हैं
तानि=उन्हीं का
त्वया=तुम को
उपास्यानि=अनुकरण करना चाहिये
नो, इतराणि=औरों का नहीं।

भाष्य—इस श्लोक में आचार्य्य ने शिष्य के प्रति और उपदेश किया है कि हे शिष्य ! देव=अध्यापक, उपदेशक, शिक्षक

तथा विद्वान् और पितृ=मननशील ज्ञानी. इन की सेवा करने में तुम को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये. तुम को उचित है कि तुम माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि इनका देव भाव से पूजन करो अर्थात् सब प्रकार से इन की आज्ञा का पालन करो और जो हमारे वेदानुकूल कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करो अन्यों का नहीं ।

यहां ["देव"] शब्द के अर्थ विद्वान् के हैं अर्थात् जिस प्रकार तुम विद्वान् को सर्वोपरि मान कर पूजन करते हो इसी प्रकार माता, पिता, अतिथि तथा आचार्य्य को सर्वोपरि मान कर पूजन करो, यहां पूजन के अर्थ यथायोग्य सत्कार के हैं और इसी अभिप्राय से यह कथन किया गया है कि जो इन के वेदानुकूल कर्म हैं उन्हीं का तुम को अनुष्ठान करना चाहिये निन्दित कर्मों का नहीं, या यों कहो कि जो दैवीसम्पत्ति के गुण हैं वही तुम को धारण करने चाहियें अन्य नहीं अर्थात् यदि तुम्हारे माता. पिता तथा आचार्य्य कोई अदैवी सम्पत्ति के भाव रखते हैं तो उनका तुम को कदापि अनुकरण नहीं करना चाहिये ।

सं०—अब अपने से उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव वाले पुरुषों का सत्कार करना कथन करते हैं:—

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्. श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयादेयम्, श्रियादेयं, ह्रिया देयम् भिया देयम् संविदा देयम् ॥२३॥

पद०—ये । के । च । अस्मत् । श्रेयांसः । ब्राह्मणाः । तेषां । त्वया । आसनेन । प्रश्वसितव्यं । श्रद्धया । देयम् । अश्रद्धया । अदेयम् । श्रिया । देयं । ह्रिया । देयं । भिया । देयं । संविदा । देयं ।

अर्थ

च=और
ये, के=जो कोई अन्य
अस्मत्=हमसे भिन्न
श्रेयांसः=श्रेष्ठ
ब्राह्मणाः=वेदादि शास्त्रों के जानने वाले विद्वान् ब्राह्मण हों
तेषां=उनका
त्वया=तुमको
आसनेन=आसनादि प्रदान द्वारा
प्रश्वसितव्यं=सत्कार करना चाहिये
श्रद्धया, देयम्=आस्तिक बुद्धि से श्रद्धापूर्वक उन को अन्नादि प्रदान करना चाहिये ।
अश्रद्धया, अदेयम्=अश्रद्धा से नहीं
श्रिया, देयं=शोभा पूर्वक दो
ह्रिया, देयं=लोकलाज से दो
भिया, देयं=प्रत्ययवाय रूप पाप के भय से दो
संविदा, देयं=ज्ञानपूर्वक दो ।

भाष्य—जो गुण कर्म स्वभाव द्वारा अपने आप से श्रेष्ठ हैं उन का आसनादि से सदा सत्कार तथा उनको श्रद्धापूर्वक अन्नादि का दान देना चाहिये अश्रद्धा से नहीं, और वह दान ज्ञानपूर्वक अर्थात् यथायोग्य हो ऐसा नहीं जैसे कई एक अज्ञानी लोग स्त्री पुत्रादि सर्वस्व दान कर देते हैं, यहां अनुचित दान की निवृत्ति के लिये सबके अन्त में ज्ञानपूर्वक देना कथन किया गया है ।

सं०—अब धर्म सम्बन्धि कर्मों में संशय होने पर उसकी

निवृत्ति कथन करते हैं: —

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः, युक्ता अयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः ॥ २४ ॥

पद०—अथ । यदि । ते । कर्मविचिकित्सा । वा । वृत्तविचिकित्सा । वा । स्यात् । ये । तत्र । ब्राह्मणाः । सम्मर्शिनः । युक्ताः । अयुक्ताः । अलूक्षाः । धर्मकामाः । स्युः । यथा । ते । तत्र । वर्त्तेरन् । तथा । तत्र । वर्त्तेथा ।

अर्थ

अथ=अब यह कथन करते हैं कि
यदि=जो
ते=तुमको
कर्मविचिकित्सा=वेदोक्त कर्मों में संशय हो
वा=अथवा
वृत्तविचिकित्सा=सदाचार विषयक संशय
स्यात्=हो तो
ये=जो
तत्र=उक्त वेदोक्त कर्मों में
ब्राह्मणाः=वेदवेत्ता हों
सम्मर्शिनः=विचारशील हों
युक्ताः=अनुष्ठानी हों
अयुक्ताः=किसी लोभ लालच में फसे हुए न हों
अलूक्षाः=क्रोध तथा आग्र-आदिकों से रहित हों
धर्मकामाः=धर्म की कामना वाले
स्युः=हों
यथा=जिस प्रकार
ते=वह

तत्र=उस वैदिक कर्म में
वर्त्तेरन्=वर्त्ते
तथा=इसी प्रकार
तत्र=उस कर्म में
वर्त्तेथा=तुम को वर्त्तना चाहिये।

भाष्य—यदि तुम को वैदिक कर्मों में यह सन्देह हो कि सूर्य्योदय होने पर हवन करना चाहिये ? उदय होने से प्रथम अथवा वैदिक सदाचार में यह संदेह हो कि मांसभक्षण तथा मामे की कन्या के साथ विवाह, इत्यादि सदाचार है वा नहीं ? जैसाकि कई एक देशों में यह कुलक्रमागत रीति पाई जाती है कि उक्त कर्मों को भी सदाचार मानते हैं, ऐसे अनाचारों को मिटाने के लिये वक्ष्यमाण गुण, कर्म, स्वभाव वाले वेदवेत्ता ब्राह्मणों से निर्णय करना चाहिये जो विरक्त, विचारशील, काम, क्रोध, ईर्षा, द्वेषादिकों से रहित हों और उनसे न केवल प्रष्टव्यमात्र से उक्त सदाचार का निर्णय करें अपितु उनके अनुष्ठान से निर्णय करना चाहिये, या यों कहो कि यज्ञादि कर्मों में जहां हिंसाविषयक मतभेद है वहां वैदिक धर्म में युक्त उक्त प्रकार के विरक्त ब्राह्मणों द्वारा निर्णय करने से मांस-भक्षणादि अनाचार तथा अगम्यागमनादि कुत्सित व्यवहार कदापि नहीं हो सकते।

सं०—अब सूतकपातकविषक निर्णय के लिये उक्त प्रकार का ही अवलम्बन कथन करते हैं:—

अथाभ्याख्यातेषु, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्म्म-कामा स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा तेषु वर्त्तेथाः ॥ २५ ॥

पद०—अथ । अभ्याख्यातेषु । ये । तत्र । ब्राह्मणाः । सम्मर्शिनः । युक्ताः । आयुक्ताः । अलूक्षाः । धर्म्मकामाः । स्युः । यथा । ते । तेषु । वर्त्तेरन् । तथा । तेषु । वर्त्तेथाः ।

अर्थ

अथ=अब
अभ्याख्यातेषु=सूतक पातकों की शङ्का वालों में
ये=जो
तत्र=उस कर्म विषयक
ब्राह्मणाः=वेदवेत्ता लोग हैं उन से निर्णय करना चाहिये,
शेष पदार्थ पूर्ववत् ।

सं०—अब उक्त शिक्षा का उपसंहार करते हैं:—

एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषत्, एतदनुशासनं एवमुपासितव्यं एवमुचैतदुपास्यं ॥ २६ ॥

पद०—एषः । आदेशः । एषः । उपदेशः । एषा । वेदोपनिषत् । एतत् । अनुशासनं । एवं । उपासितव्यं । उ । च । एतत् । उपास्यं ।

अर्थ

एषः="सत्यंवद" इत्यादि
आदेशः=विधि है
एषः, उपदेशः=यही उपदेश है
एषा=यही
वेदोपनिषत्=वेद और उपनिषत् का रहस्य है
एतत=यही
अनुशासनं=ईश्वर की आज्ञा है
एवं=इसी प्रकार
उपासितव्यं=अनुष्ठान करना चाहिये
एवं, उ, च, एतत्, उपास्यं=और इसी प्रकार उक्त ब्रह्म उपास्य है ।

भाष्य—अब इस शिक्षावल्ली का उपसंहार करते हुए यह कथन करते हैं कि ["सत्यं वद"] ["धर्मं चर"] इत्यादि जो पीछे उपदेश किया गया है वही वेद की विधि और वही वेद तथा वेदानुकूल शास्त्रों का उपदेश है, इसीका अनुष्ठान पुरुष को कर्त्तव्य है, और भूः, भुवः स्वः व्याहृतियों द्वारा जो परमात्म-देव को उपास्य कथन किया गया है वही एकमात्र पुरुष का उपास्यदेव है उसी की उपासना करनी चाहिये अन्य की नहीं।

इत्येकादशोऽनुवाकः

—:(०):—

सं०—अब उस उपास्यदेव की उपसंहार में प्रार्थना कथन करते हैं—

शन्नो मित्रः शं वरुणः, शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः, शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमोब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् ऋतमवादिषम् सत्यमवादिषं तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीत् आवीन्माम् आवीद्वक्तारम्॥ २७॥

। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पद०—शं। नः। मित्रः। शं। वरुणः। शं। नः। भवतु। अर्यमा। शं। नः। इन्द्रः। बृहस्पति। शं। नः। विष्णुः। उरुक्रमः। नमः। ब्रह्मणे। नमः। ते। वायो। त्वं। एव।

प्रत्यक्षं । ब्रह्म । असि । त्वां । एव । प्रत्यक्षं । ब्रह्म । अवादिषं । ऋतं । अवादिषं । सत्यं । अवादिषं । तत् । मां । आवीत् । तत् । वक्तारं । आवीत् । आवीत् । मां । आवीत् । वक्तारं । ओ३म् । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ।

भाष्य—यही उपासनाविषयक मन्त्र इस उपनिषद् के प्रारम्भ में लिखा गया है परन्तु इसमें केवल क्रियाओं का भेद है अर्थात् वहां यह कहा है कि "मैं आपको ही साक्षात् ब्रह्म कहूंगा" और यहां यह कि "मैंने आपको साक्षात् ब्रह्म कहा" इत्यादि भूतकाल की और "वह मेरी रक्षा करे" इसके स्थान में "उसने मेरी रक्षा की" इत्यादि भविष्यत् काल की क्रियाओं का भेद है, अतएव कोई विशेष भेद न होने से पुनः व्याख्यान नहीं किया गया ॥

इति द्वादशोऽनुवाकः

शिक्षावल्ली

समाप्ता

—❀—

ओ३म्

अथ ब्रह्मानन्द वल्ली प्रारभ्यते

——❀❀❀——

सं—प्रथमावल्ली में ब्रह्मप्राप्ति के साधनरूप शिक्षाओं का भले प्रकार निरूपण किया, अब ब्रह्म के स्वरूपनिरूपणार्थ इस वल्ली का प्रारम्भ करते हुए प्रथम गुरु शिष्य दोनों परमात्मा की प्रार्थना करते हैं—

ओ३म्–सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।१।

सूचना–इस मन्त्र का पद पदार्थ तथा भाष्य कठोपनिषद् के अन्त में किया गया है पाठकगण वहां देखलें।

सं०—अब ब्रह्म का स्वरूप कथन करते हैं—

ओ३म्–ब्रह्मविदाप्नोति परम्, तदेषाभ्युक्ता सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।२।

पद०–ब्रह्मवित् । आप्नोति । परं । तत् । एषा । अभ्युक्ता । सत्यं । ज्ञानं । अनन्तं । ब्रह्म । यः । वेद । निहितं । गुहायां । परमे । व्योमन् । सः । अश्नुते । सर्वान् । कामान् । सह । विपश्चिता । इति ।

अर्थ

ब्रह्मवित् = ब्रह्मज्ञानी
परं = सर्वोपरि ब्रह्म को
आप्नोति=प्राप्त होता है
तत् = उक्तार्थ में
एषा=यह ऋचा
अभ्युक्ता=कथन की गई है कि
सत्यं = सत्यस्वरूप
ज्ञानं = ज्ञानस्वरूप
अनन्तं = निरवधिकस्वरूप
ब्रह्म=परमात्मा है
यः = जो पुरुष
परमे, व्योमन्=महाकाशरूप
गुहायां=गुहा में उसको
निहितं=स्थित
वेद=जानता है सः = वह
सर्वान, कामान्=सब कामनाओं कों
विपश्चिता, इति = ज्ञानस्वरूप
ब्रह्मणा = ब्रह्म के साथ
अश्नुते = भोगता है ।

भाष्य—["सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म"] = वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, इस स्वरूपलक्षण वाले परमात्मा को ब्रह्मज्ञानी प्राप्त होता है अर्थात् जो पुरुष इस महाकाशरूप गुहा में स्थित ब्रह्म को जानता है वह सब प्रकार के ऐश्वर्य्य को मुक्ति अवस्था में सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ भोगता है ।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ["ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"] मुण्ड० २ । ६ = ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म ही हो जाता है, इस वाक्यानुसार इस श्लोक में ब्रह्म के ज्ञाता का ब्रह्म बनना कथन कियाँ गया है, और जो श्लोक में ब्रह्मप्राप्ति का कथन किया है इसका समाधान यह करते हैं कि सर्वव्यापक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् यहां ब्रह्मप्राप्ति केवल अविद्या

निवृत्तिरूप होने से गौण है मुख्य नहीं, क्योंकि वह नित्य प्राप्त है, या यों कहो कि नित्य प्राप्त की प्राप्ति उपचार से कथन की गई है वस्तुतः ब्रह्म प्राप्त नहीं होता, इनका यह कथन ठीक नहीं, यदि यह आशय उक्त श्लोक का होता कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म बन जाता है तो श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो यह कथन किया गया है कि परब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष अपनी सब कामनाओं को भोगता है, इस प्रकार भेद का स्पष्टतया वर्णन न किया जाता, इससे यह बात निस्सन्देह हो जाती है कि यह श्लोक ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्म बनना कथन नहीं करता किन्तु उक्त ब्रह्म की प्राप्ति कथन करता है और वह प्राप्ति अविद्यादि क्लेशों की निवृत्ति द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त होना है, और जो उक्त वाक्य द्वारा यह कथन किया था कि ब्रह्म के जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है इसका समाधान मुण्डक में कर आये हैं इसलिये यहां आवश्यकता नहीं।

मायावाद के एक देशी शवलवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्म के जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त होता है, यह उनका कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि प्रथम ब्रह्म के अर्थ परब्रह्म हैं तो अर्थ यह हुआ कि परब्रह्म के जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त होता है और यह इनको अभिमत नहीं, क्योंकि इनका यह मत है कि शवलब्रह्म = अपरब्रह्म के जानने के बिना परब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता और यहां इन्होंने इस बात को मान लिया है कि केवल शुद्धब्रह्म के ज्ञान से ही शुद्धब्रह्म का ज्ञान होता है शवलब्रह्म के ज्ञान से शुद्धब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, इसका वर्णन हम ईशोपनिषद् के १२ वें मन्त्र में कर आये हैं इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

["सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म"] इस वाक्य में ब्रह्म विशेष्य

और सत्यादि उसके विशेषण हैं यदि इतना ही कथन किया जाता कि ["सत्यं ब्रह्म"] ब्रह्म सत्य है, तो प्रकृति में अतिव्याप्ति जाती, क्योंकि प्रकृति भी सत्य है, यदि ["ज्ञानं ब्रह्म"] ब्रह्मज्ञानस्वरूप है, यही कथत करते तो जीव में अतिव्याप्ति जाती, क्योंकि जीव भी ज्ञानरूप है, इसकी व्यावृत्ति के लिये ["अनन्तं ब्रह्म"]=ब्रह्म अनन्त निरवधिक है जीव के समान परिच्छिन्न नहीं. इन तीनों पदों के मिलाने से ब्रह्म का यह लक्षण होता है कि ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है, इस से भी यह स्पष्ट सि॰ है कि अनृत, प्रकृति और जीव की व्यावृत्ति के लिये यहां सत्यादि पदों का प्रयोग कियागया है पर यह लक्षण मायावादियों के मत में इसलिये नहीं बनसकता कि लक्षण व्यावर्त्तक=इतरों से भिन्न करके जानने के लिये होता है और इनके मत में ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं फिर लक्षण किसका, यदि यह कहा जाय कि सत्यादि धर्म नहीं किन्तु स्वरूप हैं अर्थात् जो तीन कालों में एकरस रहे वह ["सत्य"] जो चिन्मात्र स्वरूप हो वह ['ज्ञान"] और जिसका देशकाल तथा वस्तु द्वारा परिच्छेद न हो वह ["अनन्त"] है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि अनन्त पद जब देश काल तथा वस्तु परिच्छेद का निषेधक है तो वह स्वरूप कैसे हो सकता है, इसी प्रकार जब सत्य तथा ज्ञान अनृत और जड़ के निषेधक हैं तो वह स्वरूप कैसे हो सकते हैं, अतएव इस लक्षण को ब्रह्म का स्वरूप मान कर भी भेद का निषेध नहीं हो सकता, इन्होंने भेद के निषेध का एक और प्रकार यह लिखा है कि ["वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"]=प्रकृति तथा जीव वाणी का आरम्भ-मात्र=मिथ्या हैं, और मिथ्याभेद से ब्रह्म को पृथक् करलेने से

द्वैतवाद का प्रसङ्ग नहीं आता, ठीक है पर मायावाद का तो आता है, जब मिथ्या माया से ब्रह्म को विलक्षण माना तब भी तो भेदवाद की सिद्ध हुई, क्योंकि सत्य का लक्षण यह है कि ["ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्"]=जिसका ध्वंस=नाश न हो उसको ["नित्य"] कहते हैं और नित्य तथा सत्य यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं इस लक्षण ने जब ध्वंस वाले पदार्थों से ब्रह्म को भिन्न कर दिया तो फिर अद्वैतवाद की सिद्धि कैसे ? और यदि कोई यह शङ्का करे कि ध्वंस तो ध्वंस का भी नहीं होता, इसलिये ध्वंसाप्रतियोगित्व नित्य का पूरा लक्षण न हुआ, क्योंकि ध्वंस भी ध्वंस का अप्रतियोगी है, इसका समाधान इस प्रकार है कि ["ध्वंसभिन्नत्वेसति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्"] =जो ध्वंस से भिन्न होकर ध्वंस का अप्रतियोगी हो वह ["नित्य"] है, इस प्रकार नित्य तथा अज्ञान का विरोध ज्ञान और देश, काल तथा वस्तु परिच्छेद से रहित अनन्त का लक्षण करने से अविद्या विलक्षण ब्रह्म में ज्यों का त्यों बना रहता है फिर एक ब्रह्मवाद की सिद्धि कैसे ? और बात यह है कि जो ब्रह्म सत्यस्वरूप होने से असत्=प्राकृतिक पदार्थों से भिन्न न हो न ज्ञानस्वरूप होने से जड़ पदार्थों से भिन्न है और नहीं अनन्तस्वरूप होने से परिच्छिन्न पदार्थों से भिन्न है वह इस प्रकार का होगा कि :—

मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
एवं वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः॥

अर्थ—मृगतृष्णा के जल में स्नान किये हुए और आकाश के पुष्प सिर में धारण करके यह वन्ध्या का पुत्र जाता है जिसके हाथ में शशशृङ्ग का धनुष है, इस वाक्य के समान सत्यादि पद प्रतिपादित मायावादियों का ब्रह्म मायामात्र ही हो

जाता है क्योंकि जब सत्यादि पद असत्यादि से अपने को पृथक् नहीं करते तो वह वन्ध्या के पुत्रवत् निःस्वरूप हैं, इससे सिद्ध है कि सत्यादि पदों का मिथ्याभेद से भिन्न बोधन करने का तात्पर्य्य नहीं किन्तु तात्विक भेद से भिन्न बोधन करने में तात्पर्य्य है, और जो मायावादियों ने ["यो वेद निहितं गुहायां"] के यह अर्थ किये हैं कि बुद्धि रूप गुहा में स्थिर ब्रह्म को जो अधिकारी ["मैं ब्रह्म हूं"] इस भाव से जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म से अभिन्न हुआ २ मुक्ति के सुख को भोगता है. यह अर्थ सर्वथा अलीक हैं, क्योंकि इस श्लोक में इनके ["अहं ब्रह्मास्मि"] भाव की गन्धमात्र भी चर्चा नहीं किन्तु यह कथन किया है कि इस महदाकाश रूप गुहा में स्थिर ब्रह्म को जानने वाला उस सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ मुक्ति के सुख को भोगता अर्थात् तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है, यह तात्पर्य्य उक्त लक्षण वाक्य का है अन्य नहीं।

सं०—अब ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण कथन करते हैं:—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, तस्येदमेव शिरः अयं दक्षिणः पक्षः, अयमुत्तरः पक्षः, अयमात्मा, इदं पुच्छं प्रतिष्ठा, तदप्येष श्लोको भवति ॥ ३ ॥

पद०—तस्मात्। वा। एतस्मात्। आत्मन। आकाशः। सम्भूतः। आकाशात्। वायुः। वायोः। अग्निः। अग्नेः। आपः। अद्भ्यः। पृथिवी। पृथिव्याः। ओषधयः। ओषधिभ्यः। अन्नं। अन्नात्। रेतः। रेतसः। पुरुषः। सः। वै। एषः। पुरुषः। अन्नरसमयः। तस्य। इदं। एव। शिरः। अयं। दक्षिणः। पक्षः। अयं। उत्तरः। पक्षः। अयं। आत्मा। इदं। पुच्छं। प्रतिष्ठा। तत्। अपि। एषः। श्लोकः। भवति।

अर्थ

तस्मात्=इस कारण सत्यादि वाक्य प्रतिपादित
एतस्मात्=पीछे कथन किये हुए
आत्मनः, वै=परमात्मा से ही
आकाशः=शब्द गुण वाला आकाश
संभूतः=प्रकट हुआ
आकाशात्=आकाश से
वायुः=वायुतत्व का आविर्भाव हुआ
वायोः=वायु से
अग्निः=अग्नि प्रकट हुई
अग्नेः, आपः=अग्नि से जल
अद्भ्यः=जलों से
पृथिवी=पृथिवी
पृथिव्याः, ओषधयः=पृथिवी से ओषधियें
ओषधिभ्यः=ओषधियों से
अन्नं=अन्न
अन्नात्=अन्न से
रेतः=वीर्य्य और
रेतसः=वीर्य्य से
पुरुषः=यह स्थूलदेह उत्पन्न हुआ
सः, वै, एषः=यह वही
पुरुषः=पुरुष नामक शरीर
अन्नरसमयः=अन्न के रस का विकार है
तस्य, एव, इदं, शिरः=उस पुरुष का यही शिर है
अयं, दक्षिणः, पक्षः=यह उस की दक्षिण भुजा है
अयं, उत्तरः, पक्षः=यह उस की वाम भुजा है
अयं, आत्मा=यह सारा देही इन शरीरगत अवयवों का आत्मा है

इदं, पुच्छं=दोनों पैर पुच्छ स्थानीय, प्रतिष्ठा=प्रतिष्ठा है
तत्, अपि, एषः, श्लोकः भवति= इस पूर्वोक्त विषय में आगे द्वितीयानुवाक के प्रारम्भ का श्लोक प्रमाण है।

भाष्य--उस सत्यादि लक्षणप्रतिपाद्य प्रकृत्याधार परमात्मा से आकाशरूप द्रव्य उत्पन्न हुआ, यहां भूतों की सूक्ष्मावस्था का नाम ["आकाश"] है, या यों कहो कि आकाश से तात्पर्य्य यहां अवकाशप्रद वस्तु का ही नहीं किन्तु सूक्ष्मरूप से सर्वत्र व्यापक द्रव्य का है और इस की उत्पत्ति वेदवादियों ने मानी है, इस से वायुरूप द्रव्य का आविर्भाव हुआ, वायुओं के सघर्षण से अग्नि सूर्य्यादि तेज पुञ्ज और उन से जलों का आविर्भाव हुआ, जैसा कि ["आदित्याज्जायते वृष्टिः"] मनु० इत्यादि श्लोकों में प्रतिपादन किया है, जलों से घनीभूत होकर यह ब्रह्माण्ड पृथिव्याकार हो गया उस से ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य्य तथा वीर्य्य से पुरुष का यह स्थूल देह और इस स्थूल देह को अलङ्कार द्वारा पक्षीरूप से वर्णन करने के लिये उस की दोनों भुजाओं को उत्तर तथा दक्षिण पक्ष और पादों को पुच्छस्थानीय वर्णन किया है जिस का तात्पर्य्य यह है कि जब तक पुरुष उक्त आत्मतत्व को नहीं जानता तब तक पशु पक्षियों के समान जीवन वाला होता है, इस में कोई विशेषता नहीं।

भाव यह है कि सब जगत् का निमित्तकारण परमात्मा जिससे आकाशादि प्राकृत पदार्थों का आविर्भाव होता है वह ब्रह्म है, उसी के जानने से पुरुष मुक्तिरूप सुख को उपलब्ध कर सकता है अन्यथा नहीं।

इति प्रथमोऽनुवाकः

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हुए अन्नमय कोश का वर्णन करते हैं:—

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीᳲ श्रिताः, अथोऽन्नेनैव जीवन्ति, अथैनदपि यन्त्यन्ततः, अन्नᳲ हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात्सर्वौषधमुच्यते, सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति, येऽन्नं ब्रह्मोपासते, अन्नᳲ हि भूतानां ज्येष्ठम्, तस्मात्सर्वौषधमुच्यते, अन्नाद्भूतानि जायन्ते, जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते, अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति॥२॥

पद०—अन्नात्। वै। प्रजाः। प्रजायन्ते। याः। काः। च। पृथिवीं। श्रिताः। अथो। अन्नेन। एव। जीवन्ति। अथ। एनत्। अपि। यन्ति। अन्ततः। अन्नं। हि। भूतानां। ज्येष्ठम्। तस्मात्। सर्वौषधं। उच्यते। सर्वं। वै। ते। अन्नं। आप्नुवन्ति। ये। अन्नं। ब्रह्म। उपासते। अन्नं। हि। भूतानां। ज्येष्ठं। तस्मात्। सर्वौषधं। उच्यते। अन्नात्। भूतानि। जायन्ते। जातानि। अन्नेन। वर्द्धन्ते। अद्यते। अत्ति। च। भूतानि। तस्मात्। अन्नं। तत्। उच्यते। इति।

अर्थ

याः, काः, च, पृथिवीं, श्रिताः= जो कुछ पृथिवी को आश्रय किये हुए है वह सब

अन्नात्, वै, प्रजाः, प्रजायन्ते= प्रजायें अन्न से ही उत्पन्न होती हैं

अथो, अन्नेन, एव, जीवन्ति= अन्न से ही सब प्राणों की रक्षा होती है
अथ, एनत, अपि, यन्ति, अन्ततः=और अन्त में सब इसी को प्राप्त होते हैं
अन्नं, हि, भूतानां=सब तत्वों में से अन्न ही
ज्येष्ठं=बड़ा है
तस्मात्=इस लिये
सर्वौषधं, उच्यते=सर्वौषधिरूप कहा जाता है
ये=जो पुरुष
अन्नं=अन्न की
ब्रह्म, उपासते=ब्रह्म समझकर उपासना करते हैं
ते, वै=वे ही
सर्वं, अन्नं, आप्नुवन्ति=सब प्रकार के अन्न को प्राप्त होते हैं
अन्नं, हि, भूतानां, ज्येष्ठं=अन्न ही सब भूतों में बड़ा है
तस्मात्, सर्वौषधं, उच्यते=इस लिये सर्व औषध कहा गया है
अन्नात्=अन्न से
भूतानि=प्राणी
जायन्ते=उत्पन्न होते और
जातानि=उत्पन्न हुए
अन्नेन=अन्न से ही
वर्द्धन्ते=बढ़ते हैं
अद्यते=जो प्राणियों से खाया जाता है उस को अन्न कहते हैं
च=और वही
भूतानि=प्राणियों का
अत्ति=भक्षण करता है
तस्मात्, अन्नं, तत्=इस कारण उस को अन्न
उच्यते, इति=कहा जाता है।

भाष्य--इस श्लोक को उक्त विषय में प्रमाण कथन करते हुए यह वर्णन किया है कि जो कुछ भी इस पृथिवी को आश्रय किये हुए है वह सब अन्न से ही उत्पन्न होता है ["अद्यते इति अन्नं"] =जो खाया जाय उस का नाम ["अन्न"] है, उसी से सब प्राणियों की रक्षा होती है और अन्त में सब उसी में लय हो जाते हैं अर्थात् सब की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का

स्थान अन्न ही है और यह अन्न सब से बड़ा होने के कारण ओषधि रूप कहा जाता है, जो पुरुष अन्न को ब्रह्म समझ कर उपासना करते हैं वही सब प्रकार के अन्नों को प्राप्त होते हैं, अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होकर इसी से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और इसी का नाम "अन्नमयकोश" है, प्राकृतजन तथा लोकायतिक=चार्वाक का कथन है कि अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते और इसी का भक्षण करके बढ़ते हैं, इसलिये अन्न ही सब से बड़ा है और इसी को ब्रह्म समझना चाहिये, जैसा कि उन का यह लोक प्रसिद्ध कथन भी है कि ["अन्न अन्न तें होत है घास घास तें होत"] इत्यादि उक्तियों द्वारा वह यह सिद्ध करते हैं कि इस संसार का अन्न के बीजों से भिन्न अन्य कोई कर्त्ता नहीं, इस प्रकार अन्नमयकोश से परमात्मा का स्वरूप ढका हुआ है "कोश" के अर्थ यहां परदे के हैं जैसा कि तलवार का कोश म्यान होता है, यहां इस कोश का इस भाव से वर्णन किया गया है कि जब तक उक्त कोश का परदा नहीं उतरता अर्थात् इस खानपानादि विषय से जब तक पुरुष विरुक्त नहीं होता तब तक उसको ब्रह्म का यथावत् ज्ञान नहीं होसकता, या यों कहो कि जब तक इस ब्रह्माण्ड की जड़ पदार्थगत सर्वशक्तियों को तुच्छ न माना जाय तब तक परमात्मा का ज्ञान नहीं होसकता, इसलिये परमात्मपरायण पुरुष के लिये उचित है कि वह साधारण प्रकार से अपनी जीवन यात्रा करता हुआ संसार में विचरे खानपानादि विशेष व्यसनों में प्रवृत्त न हो।

सं०—अब प्राणमय रूप द्वितीय कोश का कथन करते हैं:-

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तेनैष पूर्णः, स वा एष

पुरुषविध एवं, तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविधः तस्य प्राण एव शिरः व्यानो दक्षिणः पक्षः अपान उत्तरः पक्षः, आकाश आत्मा पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा श्लोको तदप्येष भवति ॥ ५ ॥

पद०—तस्मात् । वै । एतस्मात् । अन्नरसमयात् । अन्यः । अन्तरः । आत्मा । प्राणमयः । तेन । एषः । पूर्णः । सः । वै । एषः । पुरुषविधः । एव । तस्य । पुरुषविधतां । अनु । अयं । पुरुषविधः । तस्य । प्राणः । एव । शिरः । व्यानः । दक्षिणः । पक्षः । अपानः । उत्तरः । पक्षः । आकाशः । आत्मा । पृथिवी । पुच्छ । प्रतिष्ठा । तत् । अपि । एषः । श्लोकः । भवति ।

अर्थ

तस्मात्,वै, एतस्मात्, अन्नरसमयात्=उस पूर्वोक्त अन्न के रस द्वारा बने हुए शरीर से
अन्तरः,आत्मा, अन्यः=अन्तरात्मा भिन्न है
प्राणमयः=प्राणवायुरुप है
तेन, एषः, पूर्णः=उससे यह पूर्ण है और
सः, वै, एषः, पुरुषविधः, एव=वह यह पुरुषाकृति ही है
तस्य, पुरुषविधतां=उक्त पुरुषाकारता के
अनु=अनुकूल
अयं=यह
पुरुषविधः=पुरुषाकृति इसप्रकार है कि
तस्य=उसका
प्राणः, एव, शिरः=प्राण ही शिर
व्यानः, दक्षिणः, पक्षः=व्यान दहिना भाग

अपानः, उत्तरः, पक्षः=अपान वायां भाग
आकाशः, आत्मा,=आकाश आत्मा और
पृथिवी,पुच्छं, प्रतिष्ठा=उसकी स्थिति का आश्रय पृथिवी है
तत्,अपि, एषः, श्लोकः भवति=उक्त विषय का पोषक श्लोक आगे तृतीयानुवाक के प्रारम्भ में प्रमाण है।

भाष्य—इस श्लोक में प्राणमय कोश का वर्णन करते हुए यह कथन किया है कि पूर्वोक्त अन्नमय रस द्वारा बने हुए शरीर से भिन्न प्राणवायुरूप अन्तरात्मा है और उससे यह सब ब्रह्माण्ड परिपूर्ण होरहा है, उक्त पुरुषाकारता का प्राण शिर, व्यान दक्षिणभाग, अपान उत्तर भाग, आकाश आत्मा और इसका आश्रय पृथिवी है।

तात्पर्य्य यह है कि प्राकृत और लोकायतिकों से सूक्ष्मदर्शी प्राणवादी यह कथन करता है कि अन्न ब्रह्म नहीं किन्तु प्राणरूप वायु ब्रह्म है क्योंकि वही सर्वगत=सारे ब्रह्माण्ड को चेष्टा करा रहा है और इसके प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान यह पांच अवयव हैं जिनका वर्णन ऊपर किया है, इसलिये पुरुष को उचित है कि वह इस प्राण की ही भले प्रकार रक्षा करे।

इति द्वितीयोऽनुवाकः

———❀❀❀———
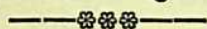
सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं :—

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात्सर्वायुषमुच्यते, सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते, प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मा-

त्सर्वायुषमुच्यत इति, तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । ६ ।

पद०—प्राणं । देवाः । अनु । प्राणन्ति । मनुष्याः । पशवः । च । ये । प्राणः । हि । भूतानां । आयुः । तस्मात् । सर्वायुषं । उच्यते । सर्वं । एव ते । आयुः । यन्ति । ये । प्राणं । ब्रह्म । उपासते । प्राणः । हि । भूतानां । आयुः । तस्मात् । सर्वायुषं । उच्यते । इति । तस्य । एषः । एव । शारीरः । आत्मा । यः । पूर्वस्य ।

अर्थ

देवाः=चक्षुरादि इन्द्रिय
प्राणं,अनु=प्राण के आश्रय से ही
प्राणन्ति=चेष्टा करते हैं
च=और
ये=जो
मनुष्याः=मनुष्य
पशवः=पशु आदि प्राणीमात्र हैं वह सब उसी के आश्रय रहते हैं, क्योंकि
प्राणः, हि, भूतानां=प्राण ही सब जीवों का
आयुः=जीवन है
ये, प्राणं, ब्रह्म, उपासते=प्राण की जो ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं
ते=वह
सर्वं, एव, आयुः, यन्ति=सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं
तस्मात् ,सर्वायुषं, उच्यते=इसी कारण प्राण को आयुरूप कहा जाता है
प्राणः, हिं, भूतानां, आयुः, तस्मात्, सर्वायुषं, उच्यते=प्राण ही सब भूतों का जीवन है इसलिये सब प्राण आयुरूप कहा जाता है
तस्य, एषः, एव, शरीरः, आत्मा=इसका यह ही आत्मा है जो आकाशरूप शरीर में व्याप्त है
यः, पूर्वस्य=जो पूर्व कथन किया गया है ।

भाष्य—उपरोक्त कथन को पुष्टि में यह श्लोक प्रमाण दिया गया है अर्थात् प्राणवादी का कथन है कि चक्षुरादि देव प्राण के आश्रय रहते हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब प्राणों द्वारा ही चेष्टा करते हैं, अधिक क्या प्राण ही सब जीवों का जीवन है, जो प्राण की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं वह पूर्ण आयु को प्राप्त होकर इस संसार से पयान करते हैं।

मायावादी ["ये प्राणं ब्रह्मोपासते"] इस वाक्य के यह अर्थ करते हैं कि जो पुरुष ["प्राणोऽहमस्मि"]=मैं प्राण हूं, इस अभेद दृष्टि से प्राणों की उपासना करता है वह सौ वर्ष की पूर्ण आयु वाला होता है, क्योंकि जो जिस भावना से ब्रह्म की उपासना करता है वह उसको वैसा ही फल देता है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि इस कोशरूप अध्यस्तोपासना के अनन्तर यह कथन किया गया है कि जो असद्रूप पदार्थों की ब्रह्मरूप से उपासना करता है वह स्वयं भी असद्रूप हो जाता है, इससे सिद्ध है कि मिथ्याभाव से ब्रह्म की उपासना का फलप्रद होना औपनिषद सिद्धान्त नहीं।

सं—अब मनोमयरूप तृतीय कोश का कथन करते हैं:-

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः, तेनैष पूर्णः, स वा एष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविधः तस्य यजुरेव शिरः ऋग् दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्षः आदेश आत्मा अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा, तदप्येष श्लोको भवति। ७।

पद०—तस्मात्। वै। एतस्मात्। प्राणमयात्। अन्यः। अन्तरः। आत्मा। मनोमयः। तेन। एषः। पूर्णः। सः। वै। एषः। पुरुषविधः। एव। तस्य। पुरुषविधतां। अनु। अयं। पुरुषविधः। तस्य। यजुः। एव। शिरः। ऋक्। दक्षिणः। पक्षः। साम। उत्तरः। पक्षः। आदेशः। आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः। पुच्छं। प्रतिष्ठा। तत्। अपि। एषः। श्लोकः। भवति।

अर्थ

तस्मात्, वै, एतस्मात्, प्राणमयात्=उस पूर्वोक्त प्राणमय से

अन्तरः, आत्मा, मनोमयः= मनोमय अन्तरात्मा

अन्यः=भिन्न है

तेन, एषः, पूर्णः=उससे यह पूर्ण होता है

स, वै, एषः, पुरुषविधः, एव= वह यह पुरुषाकार ही है

तस्य, पुरुषविधतां=उस आत्मा की शरीराकृति के

अनु=अनन्तर

अयं, पुरुषविधः=यह मनोमय पुरुषाकार होता है

तस्य, यजुः, एव, शिरः=उसका यजुर्वेद शिर

ऋग्, दक्षिणः, पक्षः=ऋग्वेद दक्षिण पक्ष

साम, उत्तरः, पक्षः=सामवेद उत्तर पक्ष

आदेशः, आत्मा=वेदों के विधिवाक्य आत्मा और

अथर्वाङ्गिरसः=अथर्ववेद

पुच्छं, प्रतिष्ठा=पुच्छ स्थानीय है

तत्, अपि, एषःश्लोकः, भवति= इसमें भी वक्ष्यमाण श्लोक प्रमाण है।

भाष्य—मनवादी=मनको आत्मा मानने वाला यह कथन करता है कि मन ही सबका आत्मा है और इस मनरूप आत्मा के यजुर्वेदादि इस अभिप्राय से अङ्गरूप वर्णन किये गये हैं कि मानस ज्ञान के विना वेदों का धारण नहीं हो सकता, या यों

कहो कि मानस ज्ञान से ही वेदों का धारण होता है अर्थात् वेद उसके शिरादि अङ्गों की शोभा को पूर्ण करते हैं और वह ज्ञान मन वाणी का विषय नहीं।

इति तृतीयोऽनुवाकः

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह आनन्दम्ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचनेति, तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।८।

पद०—यतः। वाचः। निवर्तन्ते। अप्राप्य। मनसा। सह। आनन्दं। ब्रह्मणः। विद्वान्। न बिभेति। कदाचन। इति। तस्य। एषः। एव। शारीरः। आत्मा। यः। पूर्वस्य।

भाष्य—इस श्लोक में मनवाणी यह कथन करता है कि उस मनोमय आत्मा को ऋग्वेदादि वाणियें प्रकाश नहीं कर सकतीं अर्थात् वहां तक नहीं पहुंच सकती और नाही असंस्कृत मन द्वारा उसका ज्ञान होसकता है, उक्त मन की ब्रह्मरूप से उपासना करने वाला कभी किसी से भय नहीं करता, शरीर में व्याप्त जो अन्तर्यामी है वही मनोमय है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यहां स्तुति के अभिप्राय से भय की निवृत्ति कथन कीगई है वास्तव में नहीं, क्योंकि मनोमय आत्मा के ज्ञान से अविद्या बनी रहती है,

इसलिये वस्तुतः भय का निषेध नहीं होसकता, भय का निषेध अद्वैत ज्ञान से ही होता है, इसका यह कथन इतने अंश में यहां यथार्थ है कि मनोमय ब्रह्म अविद्या से मानागया है और उससे भय की निवृत्ति भी स्तुतिमात्र कथन कीगई है वास्तव में नहीं।

सं०—अब विज्ञानमयरूप चतुर्थकोश का कथन करते हैं:-

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः, तेनैष पूर्णः, स वा एष पुरुषविधएव, तस्य पुरुषविधताम्, अन्वयं पुरुषविधः, तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योग आत्मा महः पुच्छं प्रतिष्ठा, तदप्येष श्लोको भवति ।६।

पद०—तस्मात् । वै । एतस्मात् । मनोमयात् । अन्यः । अन्तरः । आत्मा । विज्ञानमयः । तेन । एषः । पूर्णः । सः । वै । एषः । पुरुषविधः । एव । तस्य । पुरुषविधतां । अनु । अयं । पुरुषविधः । तस्य । श्रद्धा । एव । शिरः । ऋतं । दक्षिणः । पक्षः । सत्यं । उत्तरः । पक्षः । योगः । आत्मा । महः । पुच्छं । प्रतिष्ठा । तत् । अपि । एषः । श्लोकः । भवति ।

अथ

तस्मात्, वै, एतस्मात्, मनोमयात्=उस पूर्वोक्त इस मनोमय आत्मा से

विज्ञानमयः, अन्तरः, आत्मा, अन्यः=विज्ञानमय आत्मा भिन्न है

तेन, एषः, पूर्णः=उक्त विज्ञान से मनोमय आत्मा व्याप्त है
सः, वै, एषः, पुरुषविधः एव= वह विज्ञानमय आत्मा भी शरीर के अवयवों वाला पुरुषाकार है
तस्य, पुरुषविधतां=उक्त विज्ञानमय की पुरुषाकृति के
अनु=अनन्तर
अयं=यह
पुरुषविधः=पुरुषाकार होता है
तस्य, श्रद्धा, एव, शिरः=उस आत्मा का श्रद्धा ही शिर
ऋतं, दक्षिणः, पक्षः=ऋत दहिना भाग
सत्यं, उत्तरः, पक्षः=सत्य वायां भाग
योगः, आत्मा=चित्तवृत्ति का निरोध आत्मा और
महः, पुच्छं, प्रतिष्ठा=महत्तत्व पुच्छस्थानीय स्थिति का है
तत्,अपि, एषः,श्लोकः, भवति= इस विषय में भी आगे का श्लोक प्रमाण है।

भाष्य—बुद्धिवादी का कथन है कि जो महत्तत्व है वही आत्मा है उस से भिन्न अन्य कोई परमात्मा नहीं, और श्रद्धा=आस्तिक बुद्धि उस का शिर, सत्य=त्रिकालाबाध्यत्व दहिना पक्ष, सत्य=सत्य भाषण वायां पक्ष, योग=चित्तवृत्ति निरोधत्व आत्मा और सम्पूर्ण संसार में जो महत्तत्वरूप बुद्धितत्व व्याप्त है वह उसकी प्रतिष्ठा है अर्थात् प्रकृति से जो प्रथम परिणाम होता है उसी के बुद्धिरूप से सर्वात्मा=सब पदार्थ कार्य्य हैं उस से भिन्न सृष्टि का रचयिता अन्य कोई परमात्मा नहीं।

इति चतुर्थोऽनुवाकः

———

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण करते हैं:—

विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च, विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते, विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद, तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति, शरीरे पाप्मनो हित्वा, सर्वान् कामान् समश्नुत इति तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। १०।

पद०—विज्ञानं। यज्ञं। तनुते। कर्माणि। तनुते। अपि। च। विज्ञानं। देवाः। सर्वे। ब्रह्म। ज्येष्ठं। उपासते। विज्ञानं। ब्रह्म। चेत्। वेद। तस्मात्। चेत्। न। प्रमाद्यति। शरीरे। पाप्मनः। हित्वा। सर्वान्। कामान्। समश्नुते। इति। तस्य। एषः। एव। शारीरः। आत्मा। यः। पूर्वस्य।

अर्थ

विज्ञानं, यज्ञं, तनुते=उक्त विज्ञानमय कोश वैदिक कर्मरूप यज्ञ
च=और
कर्माणि, तनुते, अपि=लौकिक कर्मों का भी विस्तार करता है
सर्वे, देवाः=सब विद्वान् पुरुष
विज्ञानं=विज्ञान को
ज्येष्ठं, ब्रह्म=सर्वोपरि ब्रह्म मान कर
उपासते=उपासना करते हैं
चेत्=यदि
विज्ञानं, ब्रह्म=विज्ञानरूप ब्रह्म के
वेद=जानने में
तस्मात्, चेत्, न, प्रमाद्यति=यदि पुरुष प्रमाद न करे तो

शरीरे=इस शरीर में वर्त्तमान
पाप्मनः=पापों को
हित्वा=नाश करके
सर्वान्, कामान्=सब कामनाओं को
समश्नुते, इति=प्राप्त होता है
सः, एषः, एव=वह यह ही
तस्य=उस
शारीरः=शरीर में व्याप्त
आत्मा=आत्मा है
यः, पूर्वस्य=जो पूर्व कथन किया गया है।

भाष्य—बुद्धि को आत्मा मानने वाले वादी का कथन है कि यही बुद्धिरूप तत्व वैदिक कर्मों का विस्तार करता है और इसी विज्ञान को सब विद्वान् ब्रह्म समझ कर उपासना करते हैं, यदि कोई पुरुष उक्त मनोमयादि को आत्मा न समझता हुआ विज्ञान के जानने में प्रमाद न करे तो वह इसी शरीर में परमात्मतत्व की कृपा से सब कामनाओं को भोगता है।

सं०—अब उक्त चारों कोशों को ईश्वर मानने वालों का खण्डन करने के लिये आनन्दस्वरूप परमात्मा का वर्णन करते हैं:—

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः, तेनैष पूर्णः, स वा एष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधतां अन्वयं पुरुषविधः तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, तदप्येष श्लोको भवति । ११ ।

पद०—तस्मात् । वै । एतस्मात् । विज्ञानमयात् । अन्यः । अन्तरः । आत्मा । आनन्दमयः । तेन । एषः । पूर्णः । सः । वै । एषः । पुरुषविधः । एव । तस्य । पुरुषविधतां । अनु । अयं । पुरुषविधः । तस्य । प्रियं । एव । शिरः । मोदः । दक्षिणः । पक्षः । प्रमोदः । उत्तरः । पक्षः । आनन्दः । आत्मा । ब्रह्म । पुच्छं । प्रतिष्ठा । तत् । अपि । एषः । श्लोकः । भवति ।

अर्थ

तस्मात्, वै, एतस्मात्, विज्ञानमयः, अन्यः, अन्तरः, आत्मा, आनन्दमयः=उस पूर्वोक्त विज्ञानमय आत्मा से आनन्दमय आत्मा भिन्न है
तेन, एषः, पूर्णः=उस आनन्दमय आत्मा से यह विज्ञानमय आत्मा व्याप्त है और
सः, वै, एषः, पुरुषविधः, एव=वही यह आनन्दमय आत्मा पुरुषाकार है
तस्य=उस की
पुरुषविधतां, अनु=पुरुषविधता के अनन्तर
अयं, पुरुषविधः=यह आनन्दमय आत्मा पुरुष के तुल्य शरीराकृति वाला है
तस्य=उस का
प्रियं, एव, शिरः=प्यार ही शिर
मोदः, दक्षिणः, पक्षः=मोद दहिना भाग
प्रमोदः, उत्तरः, पक्षः=प्रमोद बायां भाग
आनन्दः, आत्मा=आनन्द आत्मा और उसकी
पुच्छं, प्रतिष्ठा, ब्रह्म=पुच्छ स्थानी स्थिति का हेतु ब्रह्म है
तत्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति=उक्त विषय का समर्थन करने वाला आगे का श्लोक है ।

भाष्य—इस श्लोक में आनन्दमय आत्मा को ब्रह्म मानने वाला वादी यह कथन करता है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय

और विज्ञानमय इनसे आनन्दमय परमात्मा भिन्न है और यह ज्ञानियों को उपलब्ध होता है अज्ञानियों के लिये उक्त चारों कोशों से परमात्मा का रूप ढका हुआ है, वह आनन्दमय परमात्मा उक्त कोशों से पृथक् है उसके प्रेम, मोद, प्रमोदादि को शिरादि पक्षस्थानीय इस अभिप्राय से कथन किया है कि यह उस आनन्दमय परमात्मा के निदर्शन हैं अर्थात् जो सांसारिक पदार्थों में प्रेमादिक होते हैं वह ब्रह्मानन्द के अंशमात्र हैं वस्तुतः प्रेमधाम एकमात्र ब्रह्म ही है और आनन्द उसका स्वरूपभूत होने से आत्मा कथन किया गया है तथा उसकी सर्वव्यापकता प्रतिष्ठा रूप होने से प्रतिष्ठा कथन की गई है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त अन्नमयादिकों की पुरुषाकारता निरूपण की गई है इसी प्रकार अलंकार से यदि परमात्मा की पुरुषाकारता निरूपण की जाय तो यावत् संसार का प्रेम उस के शिर स्थानीय, हर्ष उसका दायां बाहु, सम्पूर्ण संसार का प्रमोद बायां बाहु तथा आनन्द धड़ के समान मध्यभाग और उसका असीम होना पुच्छ वा प्रतिष्ठा कथन किया गया है, यह कथन रूपकालङ्कार से है, जैसाकि ["द्यौ मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिश्चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे"] इत्यादि वाक्यों में रूपकालङ्कार से वर्णन किया है कि द्युलोक उस का मस्तक स्थानीय, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डगत महाकाश नाभिस्थानीय और चन्द्रमा तथा सूर्य्य उसके नेत्र स्थानीय हैं, इसी प्रकार रूपकालङ्कार से उक्त श्लोक में प्रेमादिक कथन किये गये हैं, वस्तुतः बात यह है कि परमात्मा को छोड़कर संसार में प्रेमाकर कोई पदार्थ नहीं, इसी अभिप्राय से बृहदारण्यकोपनिषत् में कथन किया है कि:—

न वारे पुत्रस्यकामाय पुत्रः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥

अर्थ—पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं होता किन्तु आत्मा के लिये ही सब प्यारा होता है अर्थात् आनन्द के लिये सब प्यारे होते हैं और वह आनन्द मुख्यवृत्ति से परमात्मा में है।

इति पञ्चमीऽनुवाकः

———

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत् अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ॥ १२ ॥

पद०—असन्। एव। सः। भवति। असत्। ब्रह्म। इति। वेद। चेत्। अस्ति। ब्रह्म। इति। चेत्। वेद। सन्तं। एनं। ततः। विदुः। इति। तस्य। एषः। एव। शारीरः। आत्मा। यः। पूर्वस्य।

अर्थ

चेत्=यदि जो पुरुष
असत्, ब्रह्म, इति, वेद=असत् पदार्थों को ब्रह्म समझता है
सः=वह
असन्, एव, भवति=असत ही हो जाता है, और जो
ब्रह्म, अस्ति, इति, चेत्, वेद= ब्रह्म है ऐसा जानता है तो
ततः=इस ज्ञान से
एनं=ब्रह्मज्ञानी पुरुष को
सन्तं, इति=विद्वान् लोग श्रेष्ठ

विदुः=कहते हैं; आत्मा है
तस्य, एषः, एव, शारीरः, यः=जो
आत्मा=इसका वही शरीर पूर्वस्य=पूर्व कथन किया गया है

भाष्य--जो पुरुष जड़ पदार्थों को ब्रह्म समझते हैं वह स्वयं नष्ट हो जाते हैं और जो "ब्रह्म है" ऐसा समझते हैं ऐसे ब्रह्म-ज्ञानी पुरुषों को विद्वान् लोग श्रेष्ठ कथन करते हैं।

भाव यह है कि उक्त चारों कोशरूप असत्पदार्थों में जो आरोपमात्रसे ब्रह्मदृष्टि कथन की गई है उसको ब्रह्म मानने वाले सत्यवादी नहीं कहला सकते, सर्वोपरि ब्रह्म वही है जो इनसे भिन्न आनन्दमय कथन किया गया है, और इसी भाव को महर्षि व्यास ने ["आनन्दमयोऽभ्यासात्"] ब्र० सू० १।१। १२। इस सूत्र में आनन्दमय केवल परमात्मा को माना है जीव को नहीं, यही आशय उक्त अनुवाक में कथन किया गया है

मायावादी तथा अन्य टीकाकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोशों को जीव का स्वरूप आच्छादान करने वाले मानते हैं, उनका यह कथन ठीक नहीं, यदि उक्त कोश जीव विषयक होते तो इनमें आकाश को आत्मा तथा पृथिवी को पुच्छ निरूपण न किया जाता, क्योंकि परिच्छिन्न जीव का आकाश आत्मा तथा पृथिवी पुच्छ नहीं हो सकती, इत्यादि हेतुओं से सिद्ध है कि उक्त प्रकरण परमात्मविषयक अध्यासवाद का है अर्थात् कोई अन्नादि पार्थिव पदार्थों को ब्रह्म मानता है, कोई प्राण को, कोई मन को और कोई विज्ञान को, इन सबका खण्डन करके उपनिषत्कार ने एकमात्र आनन्दमय परमात्मा का ही निरूपण किया है।

सं०—अब शिष्य उक्त आनन्दमय परमात्मा के अधिकारी विषयक प्रश्न करता है:—

अथातोऽनुप्रश्नाः उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छति आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता इ उ ॥ १३ ॥

पद०—अथ। अतः। अनुप्रश्नाः। उत। अविद्वान्। अमुं। लोकं। प्रेत्य। कश्चन। गच्छति। आहो। विद्वान्। अमुं। लोकं। प्रेत्य। कश्चित्। समश्नुते। उ।

अर्थ

अथ, अतः, अनुप्रश्नाः=अब शिष्य यह प्रश्न करता है कि
कश्चन, अविद्वान, उत, प्रेत्य, अमुं, लोकं, गच्छति= क्या कोई मूर्ख पुरुष भी मरने के पश्चात् ब्रह्मलोक को प्राप्त हो सकता है
आहो=अथवा
कश्चित=कोई
विद्वान्=पढ़ा सुना ही
प्रेत्य=मरने के पश्चात्
अमुं, लोकं=ब्रह्मलोक के सुख को
समश्नुते, उ=भोगता है।

भाष्य—इस श्लोक में शिष्य की ओर से यह प्रश्न है कि वेद वेदाङ्गों का पढ़ा हुआ विद्वान ही मरने के पश्चात् ब्रह्म को प्राप्त होता है अथवा अपठित मूर्ख भी उसको प्राप्त हो सकता है ? यदि पठित ही उसको प्राप्त होता है तो यह उस परमात्मा का पक्षपात है, क्योंकि उसकी दृष्टि में जीवमात्र एक होने चाहियें, उसकी भेददृष्टि होना ठीक नहीं।

सं०—अब उक्त प्रश्न का समाधान करते हैं:—

सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा, इदं ७ सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य, सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च, निलयनञ्चानिलयनञ्च, विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च, सत्यञ्चानृतञ्च, सत्यमभवत्, यदिदंकिञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते, तदप्येष श्लोको भवति ॥ १४ ॥

पद०—सः। अकामयत। बहुस्याम्। प्रजायेय। इति। सः। तपः। अतप्यत। सः। तपः। तप्त्वा। इदं। सर्वं। असृजत। यत्। इदं। किञ्च। तत्। सृष्ट्वा। तत्। एव। अनुप्राविशत्। तत्। अनुप्रविश्य। सत्। च। त्यत्। च। अभवत्। निरुक्तम्। च। अनिरुक्तं। च। निलयनं। च। अनिलयनं। च। विज्ञानं। च। अविज्ञानं। च। सत्यं। च। अनृतं। च। सत्यं। अभवत्। यत्। इदं। किंच। तत्। सत्यं। इति। आचक्षते। तत्। अपि। एषः। श्लोकः। भवति।

अर्थ

स=उस परमात्मपुरुष ने अकामयत=कामना की कि मैं बहुस्यां, प्रजायेय=बहुत भावों से प्रकट होऊं इति, सः=इस के अनन्तर उसने तपः, अतप्यत=विचार किया

सः=उसने
तपः, तप्त्वा=अनुसन्धानपूर्वक विचार करके
यत्, इदं, किंच=यह जो कुछ जगत् है
इदं, सर्वं, असृजत=इस सब को रचा
तत्, सृष्ट्वा=उस सब को रचकर
तत्, एव, अनुप्राविशत्=वह ही जीवात्मा द्वारा प्रविष्ट हुआ
तत्, अनुप्रविश्य=उसमें प्रवेश करके
सत्, च=पृथिवी, अप, तेज यह मूर्त्तरूप
त्यत्, च=और वायु तथा आकाश अमूर्त्तरूप
अभवत्=हुआ
निरुक्तं=कार्य्य रूप से निरुक्ति करने योग्य हुआ
अनिरुक्तं, च=और कारणरूप से अनिरुक्त हुआ
च=और
निलयनं=पृथिव्यादि अधिकरण रूप हुआ
अनिलयनं, च=और निराश्रय रूप अन्यों का आधार हुआ
विज्ञानं, च=मनुष्यादिरूप चेतन
अविज्ञानं, च=पृथिव्यादि रूप जड़ हुआ
सत्यं=व्यवहार योग्य
अनृतं=रज्जुसर्पादिरूप से अन्यथाख्यातिरूप हुआ
यत्, इदं, किंच=यह जो कुछ है
तत्, सत्यं, इति, आचक्षते=वह सब सत्य ही कहा जाता है
तत्, अपि, एषः, श्लोकः, भवति=इस में आगे का श्लोक प्रमाण भी है।

भाष्य—परमात्मा ने सृष्टि के आदि काल में जीवों के कर्मानुसार यह इच्छा की कि मैं रूप वाला होऊं, यहां रूप शब्द के अर्थ अपने निज रूप के नहीं किन्तु उसकी आत्मभूत प्रकृति तथा जीव के हैं, ["रूप्यतेऽनेनेति रूपम्"] =जिस से इस कार्य्य का निरूपण किया जाय उसका नाम ["रूप"]

है अर्थात् उस का बहुभवन का संकल्प अपने आप को बहुत बना देने का नहीं किन्तु प्रकृत्याख्य द्रव्य को बहुत कर देने का तात्पर्य्य है, ''तप'' शब्द के अर्थ यहां ज्ञान के हैं अर्थात् उस ने अपने ज्ञान से इस सम्पूर्ण कार्य्यजात जगत् को रचा और रचकर वह अपने जीवरूप आत्मा द्वारा उस में प्रविष्ट हुआ, जैसा कि ["अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"] इस छान्दोग्य वाक्य में वर्णन किया है कि इस अपने जीवरूप द्वारा प्रवेश करके नाम रूप को रचूं, इस से सिद्ध है कि यहां ब्रह्म का अपने आपसे ही बहुत रूप हो जाना वर्णन नहीं किया गया किन्तु उसके आत्मभूत जीव तथा प्रकृति का बहुत हो जाना वर्णन किया गया है, उसी परमात्मा ने सब कार्य्य कारण रूप इस ब्रह्माण्ड के संघात को रचा, उसी ने व्यवहार योग्य और अन्यथा प्रतीयमान पदार्थों को बनाया, इसीलिये वह परमात्मा कूटस्थ नित्य होने के कारण "सत्" शब्द का मुख्यतया वाच्य है अर्थात् उस को "सत्" कहा जाता है, और अन्य परिणामी नित्य प्रकृति आदिकों में "सत्" शब्द गौण है।

भाव यह है कि परमात्मा ने सब प्रकार के जीवों को स्व २ कर्मानुसार तत्तद्शरीरविशिष्ट बनाया, जब उसने सब जीवों को कर्मानुसार बनाया तो फिर उसका पक्षपात क्या, या यों कहो कि स्वकर्मानुसार ब्रह्मवेत्ता ही उस को पा सकता है मूर्ख नहीं, और ऐसा करने में "कि ब्रह्मवेत्ता ही उस को पा सके अन्य नहीं" उसका कोई पक्षपात नहीं पाया जाता।

इति षष्ठोऽनुवाकः

——❀❀❀——
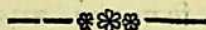
सं०—अब उक्त अर्थ की पुष्टि में और प्रमाण कथन करते हैं:—

असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति, यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयम् प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य तदप्येष श्लोको भवति ॥ १५ ॥

पद०—असत । वै । इदं । अग्रे । आसीत् । ततः । वै सत । अजायत । तत् । आत्मानं । स्वयं । अकुरुत । तस्मात् । तत । सुकृतं । उच्यते । इति । यत । वै । तत । सुकृतं । रसः । वै । सः । रसं । हि । एव । अयं लब्ध्वा । आनन्दी । भवति । कः । हि । एव । अन्यात । कः । प्राण्यात् । यत् । एषः । आकाशः । आनन्दः । न । स्यात । एषः । हि । एव । आनन्दयति । यदा । हि । एव । एषः । एतस्मिन् । अदृश्ये । अनात्म्ये ।

अनिरुक्ते । अनिलयने । अभयं । प्रतिष्ठां । विन्दते । अथ । सः । अभयं । गतः । भवति । यदा । हि । एषः । एतस्मिन् । उत । अरं । अन्तरं । कुरुते । अथ । तस्य । भयं । भवति । तत् । तु । एव । भयं । विदुषः । अमन्वानस्य । तत् । अपि । एषः । श्लोकः । भवति ।

अर्थ

असत्, वै, इदं, अग्रे, आसीत्= प्रसिद्ध है कि सृष्टि से पूर्व यह नाम रूपात्मक जगत् न था
ततः, वै, सत्, अजायत=उस अव्यक्त से यह कार्य्य रूप जगत् उत्पन्न हुआ उस ने
आत्मानं, स्वयं, अकुरुत= अपनी आत्मभूत प्रकृति तथा जीव को स्वयं बनाया
तस्मात्=इसी कारण
तत्, सुकृत, उच्यते, इति=उस ब्रह्म का नाम सुकृत कथन किया गया है
यत्, वै, तत्, सुकृतं, रसः, वै, सः=जो यह सुकृत ब्रह्म है वह आनन्दस्वरूप है
रसं, हि, एव, अयं, लब्ध्वा, आनन्दी, भवति=उस आनन्दस्वरूप को यह जीव लाभ करके आनन्दित होता है
एषः, एव, हि, आनन्दयति= वह ही इस का आनन्ददाता है
यत्, एषः, आकाशः, आनन्दः, न, स्यात्=यदि यह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म आनन्दस्वरूप न होता तो
कः, हिः, एव, अन्यात्, कः, प्राण्यात्=कौन प्राण को धारण करके श्वास ले सकता, क्योंकि वह प्राणों का प्राण है
यदा=जब
हि, एव=निश्चय करके
एष=यह जीवात्मा
एतस्मिन्, अदृश्ये, अनात्म्ये, अनिरुक्ते, अनिलयने अभयं, प्रतिष्ठां, विन्दते= इस इन्द्रियागोचर, शरीर-

रहित, निरुक्तिरहित, अधि करण रहित अभयरूप प्रतिष्ठा को लाभ करता है
अथ=तब, सः=वह
अभयं, गतः, भवति=अभय को प्राप्त होता है
यदा=जब
एषः=यह
एतस्मिन्=उक्त ब्रह्म में
अरं, उत्, अन्तरं, कुरुते=अल्प भी भेद बुद्धि करता है
अथ=तब
तस्य=उसको
भयं, भवति=भय होता है
विदुषः,तत्, तु, एव, भयं अमन्वानस्य=विद्वान् को ब्रह्मज्ञान से रहित होना ही भय है
तत्, अपि, एषः,श्लोकः, भवति= उक्त विषय में निम्नलिखित श्लोक प्रमाण है।

भाष्य—सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह कार्य्याकार जगत् असद्रूप=कार्य्यरूप न था, संसार में नामरूप वाले पदार्थ को ही सत् कहा जाता है परन्तु उस समय इसका नामरूप न होने से इसको असद्रूप कथन कियागया है, उस असद्रूप=अव्याकृत शरीर वाले परमात्मा ने अपने आत्मभूत प्रकृति तथा जीव को स्वयं बनाया, या यों कहो कि जीवों के कर्मानुसार प्रकृति में कार्य्याकारता उत्पन्न हुई जिससे ब्रह्म ने इस सम्पूर्ण विश्व को सुष्ठु रीति से निर्माण किया, यहां प्रकृति को अपने आपका आत्मा कथन करने का तात्पर्य्य वही है जो हम अन्यत्र भी कई स्थलों में प्रकट कर आये हैं और जैसाकि ["स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास"] ऋग्० १०। ११। १३०। २ इत्यादि मन्त्रों में अपनी शक्ति रूप प्रकृति को स्वधा शब्द से कथन किया है तथा ["अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य"] इत्यादि वाक्यों में जीव को आत्मा शब्द से वर्णन किया है, यहां इस कथन से यह तात्पर्य्य नहीं कि ब्रह्म आप ही जगदाकार होगया, और न ["तदात्मानं स्वयं अकुरुत"]=

उसने अपने आपको स्वयं रचा, ["तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"] वह जगत को रचकर आपही प्रविष्ट होगया, इत्यादि वाक्यों का यह तात्पर्य्य है, यदि यह तात्पर्य्य होता तो न पुण्य पाप की व्यवस्था होती और ना ही ब्रह्म शुद्धस्वरूप रहता, और दूसरी बात यह है कि यदि ब्रह्म ही जीवरूप होजाता तो ["जीवेनात्मना०"] इस वाक्य में जीव को अनादि न माना-जाता और नाहीं जीव तथा जीवों के कर्मों को अनादि मानकर वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष का परिहार किया जाता। इससे सिद्ध है कि उक्त श्लोक मायावादियों के अद्वैतवाद को सिद्ध नहीं करते किन्तु यह सिद्ध करते हैं कि सृष्टि से प्रथम जीव, ब्रह्म और अव्याकृत=प्रकृति यह तीनों अनादि थे।

अव्याकृत शरीर वाले परमात्मा को यहां असच्छब्द से वर्णन किया गया है और नामरूपात्मक जगत् का यहां सच्छब्द से व्यवहार किया है, शवलवादी असच्छब्द का अर्थ शुद्ध और सच्छब्द का अर्थ शवल करते हैं, इस अर्थ में दोष यह है कि जब उक्त श्लोक में यह लिखा है कि ["तदात्मानं स्वयं अकुरुत'] असदात्मा ने सदात्मा को उत्पन्न किया, तो क्या शुद्ध ने शबल को उत्पन्न किया ? यदि शवल उत्पन्न होता है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता, और दोष इस स्थल में मायावा-दियों के अर्थों में यह है कि यदि वह अपने आप ही जीव हुआ तो भी आनन्दस्वरूप होना चाहिये, क्योंकि जिसप्रकार महा-काश शब्दगुण वाला तथा अवकाश के देने वाला है इसी प्रकार उसका औपाधिकरूप घटाकाश भी शब्दगुण तथा अवकाश के देने वाला है, एवं जीव भी आनन्दस्वरूप होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं किन्तु इस श्लोक में वह वर्णन किया है कि जीव आनन्दस्वरूप नहीं वह परमात्मा के आनन्द

को भोगकर ही आनन्द वाला होता है. इससे जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट सिद्ध करके यह कथन किया है कि जो परमात्मा में भेदबुद्धि करता अर्थात् उसको नाना समझता वा उसमें अन्यथा बुद्धि करता है उस को अत्यन्त भय की प्राप्ति होती है परन्तु मायावादी इससे विरूद्ध यह अर्थ करते हैं कि जो अपने से परमात्मा को अल्पमात्र भी भिन्न समझता है उसको भय होता है, या यों कहो कि जो अपने आपको ब्रह्म समझता है उसको कोई भय नहीं होता, यदि परमात्मा के भयप्रद रूप के यही अर्थ होते तो आगे वक्ष्यमाण श्लोक में जो सूर्य्य, अग्नि, वायु आदिकों का उसके भय में गमन करना कथन किया है वह क्यों ? क्योंकि उन विचारों ने तो अपने आप तथा परमात्मा में भेदबुद्धि नहीं की फिर उनका क्या अपराध, इससे सिद्ध है कि परमात्मा का भयरूप नियम जड़ चेतन सम्पूर्ण जगत् के लिये एक रस है, इससे उस पूर्वोक्त प्रश्न का भी उत्तर आगया कि ज्ञानी ही उस को प्राप्त होते हैं अज्ञानी नहीं, यदि ज्ञानी भी केवल शुष्क ज्ञान कथन करता है तो वह भी उसके स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकता, इस प्रकार परमात्मा में किसी विद्वान् तथा अविद्वान् का पक्षपात नहीं, जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है और उस परमात्मा का भय रूप नियम अटल है, यदि विद्वान् भी दुराचारी है अथवा ज्ञानादि परमात्मा के नियमों को भंग करता है तो वह भी अज्ञानी के समान भयभीत रहता तथा दुःख भोगता है।

इति सप्तमोऽनुवाकः

——❀❀——
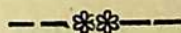
सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:...

भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेतिसूर्य्यः, भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चम इति । १६ ।

पद०—भीषा । अस्मात् । वातः । पवते । भीषा । उदेति । सूर्य्यः । भीषा । अस्मात् । अग्निः । च । इन्द्रः । च । मृत्युः । धावति । पञ्चमः । इति ।

अर्थ

अस्मात्=इस ब्रह्म के
भीषा=भय से
वातः=वायु
पवते=चलती है
भीषा=इसी के भय से
सूर्य्यः=सूर्य्य
उदेति=उदय होता है
अस्मात्=इसी ब्रह्म के
भीषा=भय से
अग्निः=अग्नि तपती है
च=और
इन्द्रः=विद्युत अपने तेज को धारण करती है
च=और इसी के भय से
पञ्चमः=पांचवां
मृत्युः=मृत्यु
धावति, इति=क्षीणायु वालों के प्रति गति करता है ।

भाष्य—उसी परमात्मा के नियम में वायु चलता है, उसी के नियम में सूर्य्य उदय होता और उसी के नियम में भौतिकाग्नि, विद्युत तथा मृत्यु यह सब अपना २ काम करते हैं अर्थात् परमात्मा बलस्वरूप होने के कारण यह सम्पूर्ण जड़ जगत् उसी के बल से स्व २ गति कर रहा है ।

सं०—परमात्मा की असाधारण शक्ति कथन करने के अनन्तर अब उसके आनन्द की पराकाष्ठा वर्णन करते हैं:—

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति, युवा-स्यात्साधुयुवाध्यापकः, आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः, तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः, स एको मनुष्यगन्धर्वाणा-मानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य, ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः, स एको देव-गन्धर्वाणामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य, ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः, स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रो-त्रियस्य चाकामहतस्य, ते ये, शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः, स एक आजान-जानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्यचाकाम-हतस्य, ते ये शतमाजानजानां देवानामान-न्दाः, स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्यचाकाम-हतस्य, ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः,

स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्यचाकामहतस्य, ते ये शतं देवानामानन्दाः, स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्यचाकामहतस्य, ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य, ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य, ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ १७ ॥

पद०—सा। एषा। आनन्दस्य। मीमांसा। भवति। युवा। स्यात्। साधुयुवा। अध्यापकः। आशिष्ठः। दृढिष्ठः। बलिष्ठः। तस्य। इयं। पृथिवी। सर्वा। वित्तस्य। पूर्णा। स्यात्। सः। एकः। मानुषः। आनन्दः। ते। ये। शतं। मानुषाः। आनन्दाः सः। एकः। मनुष्यगन्धर्वाणां। आनन्दः। श्रोत्रियस्य। च। अकामहतस्य। ते। ये। शतं। मनुष्यगन्धर्वाणां। आनन्दाः। सः। एकः। देवगन्धर्वाणां। आनन्दः। श्रोत्रियस्य। च। अकामहतस्य। ते। ये शतं। देवगन्धर्वाणां। आनन्दाः। सः। एकः। पितृणां। चिरलोकलोकानां। आनन्दः। श्रोत्रियस्य।

च । अकामहतस्य । ते । ये । शतं । पितृणां । चिरलोकलोकानां । आनन्दाः । स । एकः । आजानजानां । देवानां । आनन्दः । श्रोत्रियस्य । च । अकामहतस्य । ते । ये । शतं । आजानजानां । देवानां । आनन्दाः । सः । एकः । कर्मदेवानां । देवानां । आनन्दः । ये । कर्मणा । देवान् । अपि । यन्ति । श्रोत्रियस्य । च । अकामहतस्य । ते । ये । शतं । कर्मदेवानां । देवानां । आनन्दाः । सः । एकः । देवानां । आनन्दः । श्रोत्रियस्य । च । अकामहतस्य । ते । ये । शतं । देवानां । आनन्दाः । सः । एकः । इन्द्रस्य । आनन्दः । श्रोत्रियस्य । च । अकामहतस्य । ते । ये । शतं । बृहस्पतेः । आनन्दाः । सः । एकः । प्रजापतेः । आनन्दः । श्रोत्रियस्य । च । अकामहतस्य । ते । ये । शतं । प्रजापतेः । आनन्दाः । सः । एकः । ब्रह्मणः । आनन्दः । श्रोत्रियस्य । च । अकामहतस्य ।

अर्थ

सा, एषा, आनन्दस्य, मीमांसा, भवति=वह यह आनन्द की विवेचना की जाती है

युवा, स्यात्=यौवनावस्था-संयुक्त हो

साधुयुवा=सदाचारी हो

अध्यापकः=वेदवेदाङ्गों का जानने वाला हो

आशिष्ठः=माता, पिता तथा आचार्य्य से शिक्षा पाया हुआ हो

दृढिष्ठः=दृढ़ अङ्गों वाला

बलिष्ठः=बलवान् हो

तस्य, इयं, पृथिवी, सर्वा, वित्तस्य, पूर्णा, स्यात्=उस की यह सब पृथिवी वित्त की भरी हुई हो

सः=वह

एकः, मानुषः, आनन्दः=एक मनुष्य का बड़ा आनन्द है

ये, ते, शतं, मानुषाः, आनन्दाः=जो ये मनुष्य सम्बन्धी सौ आनन्द एकत्र किये जायें तो

स:, एक:, मनुष्यगन्धर्वाणां, आनन्द:=यह एक मनुष्य-गन्धर्वों का आनन्द है
श्रोत्रियस्य, च, अकामहतस्य=कामनारहित वेदवेत्ता को भी वैसा ही आनन्द होता है
ते, ये, शतं, मनुष्यगन्धर्वाणां, आनन्दा:=जो वे मनुष्य-गन्धर्वों के सौ आनन्द हैं
स:, एक:, देवगन्धर्वाणां, आनन्द:=वह एक देव-गन्धर्वों का आनन्द है
श्रोत्रियस्य, च, अकामहतस्य ॥ कामनारहित वेदवेत्ता को भी वैसा ही आनन्द होता है
ते, ये, शतं देवगन्धर्वाणां, आनन्दा:=वे जो देव गन्धर्वों के सौ आनन्द एकत्र किये जांय तो
स:, एक:, चिरलोकलोकानां पितॄणां, आनन्द:=वह एक उन पितृसंज्ञक विद्वानों को आनन्द होता है जो चिर-काल तक परमात्मा के साथ युक्त होते हैं
ते, ये, शतं, चिरलोकलोकानां, पितॄणां, आनन्दा:=जो वे उक्त पित्रों के सौ आनन्द एकत्रित किये जांय तो
स:, एक:, आजानजानां, देवानां. आनन्द:=वह एक आनन्द उन विद्वानों को होता है जो जन्म से ही बुद्धिवैचित्र्य के कारण यश को प्राप्त हैं
ते, ये शतमाजानजानां, देवानां आनन्दा:=वे जो आजानज विद्वानों के सौ आनन्द एकत्र किये जांय तो
स:, एक:, कर्मदेवानां देवानां आनन्द:=वह एक आनन्द उन विद्वानों को होता है
ये, कर्मणा, देवान्, अपियन्ति=जो उत्तम कर्मों के सेवन से देवाधिकार को प्राप्त हुये हैं
ते, ये, शतं, कर्मदेवानां, देवानां आनन्दा:=उन कर्मदेव नामक विद्वानों के सौ आनन्द एकत्र किये जांय तो

सः, एकः देवानां, आनन्दः= वह एक आनन्द उन विद्वानों को प्राप्त होता है जो परम्परा से स्वयं सिद्ध विद्वान् हों

ते, ये, शतं, देवानां, आनन्दाः= उन पूर्वोक्त विद्वानों के सौ आनन्द एकत्र किये जांय तो

सः, एकः, इन्द्रस्य, आनन्दः= वह एक आनन्द उक्त देवों के स्वामी इन्द्र को प्राप्त होता है

ते, ये, शतं, इन्द्रस्य, आनन्दाः=जो वे इन्द्र= परमैश्वर्यवान् देव के सौ आनन्द एकत्र किये जांय तो

सः, एकः, वृहस्पतेः, आनन्दः= वह एक आनन्द उस वृहस्पति नामक विद्वान को प्राप्त होता है जो वाणियों का पति है

ते, ये, शतं, वृहस्पते, आनन्दाः=जो वे वृहस्पति नामक विद्वान् के सौ आनन्द एकत्रित किये जांय तो

सः, एकः, प्रजापतेः, आनन्दः= वह एक आनन्द उस विद्वान् को प्राप्त होता है जो सब विद्वानों का शिरोमणि है

ते, ये शतं, प्रजापतेः, आनन्दाः= प्रजापति नामक राजा के सौ आनन्द एकत्र किये जांय तो

सः, एकः, ब्रह्मणः, आनन्दः= वह एक आनन्द परमात्मा को होता है और जो

श्रोत्रियस्य, च, अकामहतस्य= कामना रहित जो वेदवेत्ता है वह भी ब्रह्म के इस आनन्द का उपभोग करता है।

भाष्य—इस श्लोक में सब आनन्दों को सातिशय कथन किया गया है कि मनुष्य का आनन्द यह है कि वह युवा हो, बलिष्ठ हो और अधीतशास्त्र भी हो, इतना ही नहीं किन्तु पुष्कल धन वाला भी हो, यह साधारण मनुष्य के आनन्द की सीमा है, इससे शतगुणा आनन्द गन्धर्व का होता है जो परमात्मस-

म्बन्धी सामवेदादि के गायन को अनन्यभक्ति से गाता है, जो वेद का यथार्थवेत्ता किसी कामानल से दग्ध नहीं उसको भी वैसा ही आनन्द होता है, जो ब्रह्मवेत्ता होकर परमात्मा का गायन करता है उसका नाम ["देवगन्धर्व"] है,उनसे सौगुना आनन्द उनको होता है, जो वैदिककर्म करने में निपुण हैं, उनसे सौगुना आनन्द उनको है जो पूर्व प्रारब्ध कर्मों से ही देवभाव को प्राप्त होकर ब्रह्मविद्यादि दिव्य गुणों को प्राप्त हुए हैं, उनसे सौगुना आनन्द उनको है जो अपने ऐहिक कर्तव्य से देवभाव को प्राप्त हुए हैं और उनसे सौगुना आनन्द उनको अधिक है जिनका देवभाव ऐहिककर्मजन्य तथा प्रारब्ध कर्मजन्य नहीं किन्तु जो चिरकाल से ही स्वस्वभाव से शुद्ध हैं, उनसे सौगुना आनन्द ऐसे देवों के अधिपति ["इन्द्र"] को है, "इन्द्र"] यहां किसी अलौकिक देवविशेष का नाम नहीं किन्तु दिव्य गुणों वाले पुरुषों के राजा का नाम ["इन्द्र"] है उससे सौगुना आनन्द वृहस्पति नामक विद्वान् को, उससे सौगुना चक्रवर्ती राजा को और उससे सौगुना अधिक ब्रह्म को होता है।

भाव यह है कि साधारण मनुष्य से लेकर प्रजापति पर्य्यन्त यहां सब आनन्दों को सातिशय निरूपण कियागया है अर्थात् एक से दूसरे का आनन्द कहीं बढ़कर है और यह अतिशयता ब्रह्म में जाकर समाप्त होजाती है, कामनारहित वेदवेत्ता का आनन्द जो ब्रह्म के आनन्द समान कथन किया है वह ब्रह्मानन्द हैं या यों कहो कि कामनारहित पुरुष ब्रह्मानन्द का उपभोग करता हे, वास्तव बात यह है कि सर्वोपरि आनन्द एकमात्र ब्रह्म का है और सब उसी के आनन्द से आनन्दित होते हैं।

इति अष्टमोऽनुवाकः

———

सं०—अब उक्त आनन्दस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान का फल कथन करते हैं :—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये, स एकः, स य एवंवित् अस्माल्लोकात्प्रेत्य, एत मन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं प्राणमय-मात्मानमुपसंक्रामति, एतं मनोमयमात्मान-मुपसंक्रामति, एतं विज्ञानमयमात्मानमुप-संक्रामति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति, तदप्येष श्लोको भवति ॥ १८ ॥

पद०—सः। यः। च। अयं। पुरुषे। यः। च। असौ। आदित्ये। सः। एकः। सः। यः। एवंवित्। अस्मात्। लोकात्। प्रेत्य। एतं। अन्नमयं। आत्मानं। उपसंक्रामति। एतं। प्राणमयं। आत्मानं। उपसंक्रामति। एतं। मनोमयं। आत्मानं। उपसंक्रामति। एतं। विज्ञानमयं। आत्मानं। उपसं-क्रामति। एतं। आनन्दमयं। आत्मानं। उपसंक्रामति। तत्। अपि। एषः। श्लोकः। भवति।

अर्थ

सः, यः=वह यह निरवधि-कानन्द वाला परमात्मा
अयं=इस
पुरुषे=पुरुष में
च=और
यः=जो
असौ=वह
आदित्ये=आदित्य में है
स, एकः=वह एक है
सः, यः=वह जो

एवंवित्=इस प्रकार परमात्मा के स्वरुप को जानता है
वह
अस्मात्, लोकात्, प्रेत्य=इस लोक से दृष्टि हटाकर
एतं, अन्नमयं, आत्मानं, उपसंक्रामति=इस अन्नमय आत्मा को परमात्मा समझता है
एतं, प्राणमयं, आत्मानं, उपसंक्रामति=फिर इस प्राणमय को आत्मा समझता है
एतं, मनोमयं, आत्मानं, उपसंक्रामति=फिर मनोमय को आत्मा समझता है
एतं, विज्ञानमयं, आत्मानं, उपसंक्रामति=फिर इस विज्ञानमय को आत्मा समझता है
एतं, आनन्दमयं, आत्मानं, उपसंक्रामित=फिर इस प्राणमय को आत्मा समझता है
तत्, अपि, एष:, श्लोक:,भवति=इस विषय का प्रतिपादक वक्ष्यमाण श्लोक प्रमाण है।

भाष्य—जो अधिकारी पुरुष इस देह से लेकर सूर्य्यपर्य्यंत सब लोक लोकान्तरों में परमात्मा को एक समझता है वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों को जिनका वर्णन पूर्व कर आये हैं इनसे परमात्मा को पृथक् समझ कर आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त होता है, या यों कहो कि परमात्मा का एकत्वदर्शी नानादेववाद तथा उसके नाना भेदों में न फंस कर परमात्मा को सर्वत्र परिपूर्ण एकरस देखता है।

मायावादी इसके यह अर्थ करते हैं कि जो अधिकारी उक्त आनन्दमय ईश्वर और जीव को घटाकाश तथा मठाकाश के समान स्वरूप मात्र से एक समझता है वह देह त्याग के अनन्तर ब्रह्म बन जाता है यह अर्थ ठीक नहीं, यदि उक्त श्लोक का यह आशय होता तो घटाकाश तथा मठाकाश के समान एकता का बोधक कोई दृष्टान्त अवश्य होता परन्तु नहीं, । दूसरी बात

यह है कि चार कोशों का वर्णन करके आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति कथन न की जाती, और दोष यह है कि इन के मत में "तत्त्वमस्यादि" महावाक्यों से जीते जी ही जीव को ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाता है फिर मरकर ब्रह्मभाव क्यों वर्णन किया जाता, और नाही अग्रिम श्लोक में वन वाणी का अविषय ब्रह्म को कथन करके जीव के लिये निर्भयता का उपदेश किया जाता, इससे सिद्ध है कि यह श्लोक आनन्दमय पुरुष की सर्वव्यापकता और उक्त चार कोशों से पृथक्ता बोधन करता है जीव ब्रह्म का अभेद नहीं।

सं०—अब उक्त ब्रह्मज्ञान से पश्चात्ताप का अभाव करते हैं:,

यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति, एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति, स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते, य एवं वेद इत्युपनिषत् ॥ १६ ॥

पद०—यतः। वाचः। निवर्तन्ते। अप्राप्य। मनसा। सह आनन्दं। ब्रह्मणः। विद्वान्। न। बिभेति। कुतश्चन। इति। एवं। ह। वाव। न। तपति। किं। अहं। साधु। न। अकरवं। किं। अहं। पापं। अकरवं। इति। सः। यः। एवं। विद्वान्। एते। आत्मानं। स्पृणुते। उभे। हि। एवं। एषः। एते। आत्मानं। स्पृणुते। यः एवं। वेद। इति। उपनिषत्।

अर्थ

यतः, अप्राप्य, मनसा सह. वाचः, निवर्त्तन्ते=जिस आनन्द-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त न होकर मन के सहित वाणियें लौट आती हैं
ब्रह्मणः, आनन्दं=उस ब्रह्म के आनन्द को
विद्वान्=जानता हुआ
न, बिभेति, कुतश्चन, इति=किसी से भी भय नहीं करता, क्योंकि
एतं, ह, वाव, न, तपति=उक्त आनन्दस्वरूप को जानता हुआ संतप्त नहीं होता
किं, अहं, साधु, न, अकरवं=मैंने क्यों श्रेष्ठ कर्म नहीं किया
किं, अहं, पापं, अकरवं, इति=क्यों मैंने पाप कर्म किया है
सः, यः, एवं, विद्वान्,=सो जो इस प्रकार जानता है वह
आत्मानं, स्पृणुते=आत्मा को प्रसन्न रखता है कि
एते, उभे, हि, एव, एष, एते, आत्मानं, स्पृणुते=ये दोनों आत्मा के साथ ही संबंध रखते हैं
यः, एवं, वेद=और जो उक्त प्रकार से जानता है वह पश्चात्ताप को प्राप्त नहीं होता
इति, उपनिषत्=यह वेद का परम रहस्य है।

भाष्य—मन, वाणी के अविषय ब्रह्म को जो पुरुष जानता है वह किसी से भी भय नहीं करता और नाही उसको मृत्यु-काल में इस प्रकार के संकल्प विकल्प दुःखप्रद होते हैं कि मैंने क्यों अच्छे कर्म न किये और क्यों बुरे कर्म किये, क्योंकि वह ब्रह्मानन्दाम्बुधि में निमग्न होने से उसके पुण्यपापात्मक सब संकल्प उसको तपा नहीं सकते अर्थात् उक्त आत्मभाव के कारण पश्चात्ताप के जनक संकल्प विकल्प उसको उत्पन्न ही

नहीं होते, क्योंकि वह पूर्ण ज्ञान से उक्त ब्रह्म के आनन्द को जान चुका है, और जानने पर फिर उसमें पश्चात्ताप जनक संकल्प विकल्पों की स्थिति कैसे रह सकती है; या यों कहो कि ज्ञानाग्नि से वह बीज ही दग्ध हो गया जिससे फिर दुःखप्रद संकल्प उत्पन्न हों, इससे सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञानी मृत्युकाल में कोई पश्चात्ताप न करता हुआ आत्मभाव को प्राप्त होता है, यह वेद का रहस्य है।

सं०—अब गुरु शिष्य दोनों मिल कर परमात्मा की प्रार्थना करते हैं:—

सह नाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै, ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥२०॥

इति नवमोऽनुवाकः

——:(०):——

ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्ता

ओ३म्

अथ भृगुवल्ली प्रारभ्यते

सं०—ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्म का लक्षण तथा उसको आनन्द-स्वरूप वर्णन किया गया अब इस वल्ली में उक्त ब्रह्म को जगत् का कारण तथा अन्नादि नामों से उसकी उपासना निरूपण करते हैं:—

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति, तस्मा एतत्प्रोवाच, अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति, तं होवाच, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा। १।

पद०—भृगुः वै। वारुणिः। वरुणं। पितरं। उपससार। अधीहि। भगवः। ब्रह्म। इति। तस्मै। एतत्। प्रोवाच। अन्नं। प्राणं। चक्षुः। श्रोत्रं। मनः। वाचं। इति। तं। ह। उवाच। यतः। वै। इमानि। भूतानि। जायन्ते। येन। जातानि। जीवन्ति। यत्। प्रयन्ति। अभिसंविशन्ति। तत्। विजिज्ञासस्व। तत्। ब्रह्म। इति। सः। तपः। अतप्यत। सः। तपः। तप्त्वा।

अर्थ

वै=यह बात प्रसिद्ध है कि
वारुणिः=वरुण ऋषि का पुत्र
भृगुः=भृगु
वरुणं, पितरं, उपससार=वरुण नामक पिता को प्राप्त होकर बोला कि
भगवः=हे भगवन्
ब्रह्म, इति=सत्यादि लक्षण वाले ब्रह्म का
अधीहि=उपदेश करो तब
तस्मै=उक्त जिज्ञासु पुत्र के लिये पिता
एतत्, प्रोवाच=यह वचन बोला कि
प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, अन्नं, मनः, वाचं=प्राण, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, मन और वाणी
इति=यह ब्रह्मज्ञान के साधन हैं
तं, ह, उवाच=और फिर यह कथन किया कि
वै, यतः=निश्चय करके, जिससे
इमानि, भूतानि, जायन्ते=यह सब प्राणीमात्र उत्पन्न होते हैं
येन, जातानि, जीवन्ति=उत्पन्न हुए जिस से जीते हैं और
यत्, प्रयन्ति=जिसमें लय को प्राप्त होते तथा
अभिसंविशन्ति=जिस में भली भांति प्रवेश करते हैं
तत्=उसके जानने की
विजिज्ञासस्व=इच्छा कर
तत्=वही
ब्रह्म, इति=ब्रह्म है
सः=उस भृगु ने
तपः=ज्ञान को सब साधनों से श्रेष्ठ मानकर
अतप्यत=तप किया और
सः, तपः, तप्त्वा=वह ज्ञानरूप विचार करके यह सोचने लगा कि उक्त लक्षण कहां घटता है।

भाष्य—वरुण ऋषि का पुत्र भृगु श्रद्धापूर्वक अपने पिता के समीप जाकर कहने लगा कि हे भगवन्! मुझको ब्रह्म का उपदेश करो, ऋषि ने उत्तर दिया कि पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन यह सब उस ब्रह्म की प्राप्ति के

साधन हैं अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा, कर्मेन्द्रिय कर्मकाण्ड द्वारा और प्राण प्राणायाम द्वारा ब्रह्मज्ञान के साधन हैं, उक्त साधनसम्पत्तिरूप उपदेश के अनन्तर ऋषि बोले कि जिसकी सत्ता से यह सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते, जिसकी सत्ता से उत्पन्न हुए जीते और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जिस में लय हो जाते हैं उसकी तु जिज्ञासा कर वह ब्रह्म है, भृगु ने उक्त उपदेश ध्यानपूर्वक सुना और सब साधनों से मुख्य ज्ञान को समझ कर उसने ब्रह्म का विचार किया, उस विचार से उसने इस तत्व को पाया कि जिससे प्राणी उत्पन्न होते, जिससे जीते और जिसमें लय हो जाते हैं वह अन्न है "तप" शब्द के अर्थ यहां ज्ञान के हैं जैसा कि ["यस्यज्ञानमयं तपः"] इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में वर्णन किया है और इसी आशय को सुरेश्वराचार्य्य ने इस प्रकार लिखा है किः—

अन्वयव्यतिरेकादि चिन्तनं वा तपो भवेत् ।
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थ बोधालयमिदं तपः ॥

अर्थ—अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा चिन्तन करने का नाम ["तप"] है और वह तप मैं ब्रह्म हूँ इस वाक्यार्थ-बोध के लिये पर्य्याप्त है एवं कई एक आचार्य्यों ने भी तप के अर्थ ज्ञान के ही किये हैं जो यहां विस्तार के भय से नहीं लिखे जाते, यहां विचार योग्य बात यह है कि इस वाक्य से जो मायावादियों ने ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध किया है वह ठीक नहीं, उक्त कारण के अर्थ यह हैं कि जो स्वयं ही निमित्त और स्वयं ही उपादान हो उसको ["अभिन्ननिमित्तोपादानकारण"] कहते हैं, यदि इस वाक्य में ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माना जाता तो भृगु के बारं-

बार पूछने पर वक्ष्यमाण वाक्यों द्वारा अन्नमयादि कोशों का निषेध करके उसको आनन्दस्वरूप वर्णन न किया जाता, वैदिकमतानुसार इस वाक्य में ब्रह्म को कर्त्ता माना गया है उपादान नहीं, और कर्त्ता वह होता है जो सृष्टि को ज्ञानपूर्वक परिणामी अथवा आरम्भक उपादान से बनाता है, जैसा कि परिणामी उपादानकारण प्रकृति द्वारा परमात्मा ने इस जगत् को बनाया है, यहां प्रकृति परिणामी उपादानकारण, जहां परमाणुओं द्वारा कार्य्य का द्व्यणुकादि क्रम से आरम्भ होता है उसको ["आरम्भक"] उपादान कहते हैं, और मायावादी तीसरा विवर्त्ति उपादान कारण भी मानते हैं, जो वास्तव में कार्य्याकार न हो और कार्य्यरूप प्रतीत हो उसको ["विवर्त्ति"] उपादान कारण कहते हैं, जैसे शुक्ति रजत का और रज्जु सर्प का, यह उपादान यहां इसलिये नहीं बन सकता कि इस स्थल में मिथ्या होने का उपदेश नहीं किया गया किन्तु नाम रूप से प्रथम यह सम्पूर्ण संसार ब्रह्म में लयभाव को प्राप्त था अर्थात् नामरूपात्मक न था परमात्मा के प्रयत्न से यह नामरूपात्मक हुआ, इसलिये यह कथन किया गया है कि सब भूत परमात्मा से उत्पन्न होते, उसी में रहते और प्रलयकाल में नामरूपरहित होकर उसी में प्रवेश कर जाते है ["अभिसंविशन्ति"] के अर्थ मायावादी यह करते हैं कि सुषुप्ति अवस्था तथा प्रलयकाल में सब प्राणी ब्रह्म के तादात्म्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं, या यों कहो कि ब्रह्म बन जाते हैं, यदि यह भाव उक्त वाक्य का होता तो इस वल्ली में ब्रह्म की उपासना कथन न की जाती, क्योंकि जहां जीव का जीवभाव मिट कर ब्रह्म हो गया वहां कौन उपास्य और किसकी उपासना, इत्यादि दोषों से स्पष्ट

सिद्ध है कि इस वाक्य में जीव ब्रह्म की एकता का गन्ध भी नहीं।

इति प्रथमोऽनुवाकः

———

सं०—अब भृगु की साकार अन्नादिकों में ब्रह्मभाव भ्रांति की निवृत्ति कथन करते हैं:—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति, तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति, तं होवाच, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति स तपोऽतप्यत, सतपस्तप्त्वा ॥ २ ॥

पद०—अन्नं। ब्रह्म। इति। व्यजानात्। अन्नात्। हि। एव। खलु। इमानि। भूतानि। जायन्ते। अन्नेन। जातानि। जीवन्ति। अन्नं। प्रयन्ति। अभिसंविशन्ति। इति। तत्। विज्ञाय। पुनः। एव। वरुणं। पितरं। उपससार। अधीहि। भगवः। ब्रह्म। इति। तं। ह। उवाच। तपसा। ब्रह्म। विजिज्ञासस्व। तपः। ब्रह्म। इति। सः। तपः। अतप्यत। सः। तपः। तप्त्वा।

अर्थ

अन्नं, ब्रह्म, इति=अन्न ही ब्रह्म है यह भृगु ने
व्यजानात्=समझा
अन्नात्, हि, एव=अन्न से ही
खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते= यह सब प्राणी उत्पन्न होते
अन्नेन, जातानि=अन्न से ही उत्पन्न हुए
जीवन्ति=जीते हैं
अन्नं=अन्न में ही
प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, इति= प्रवेश करते हैं
तत्=उक्त अन्न को
विज्ञाय=ब्रह्म समझकर
पुनः, एव=फिर भी
वरुणं, पितरं=वरुण पिता को
उपससार=प्राप्त होकर कहने लगा कि
भगवः=हे भगवन्
अधीहि, ब्रह्म, इति=मुझको ब्रह्म का उपदेश करो तब
ह=स्पष्टतया
तं=भृगु को ऋषि
उवाच=बोले कि
तपसा, ब्रह्म, विजिज्ञासस्व= ज्ञानद्वारा ब्रह्म के जानने की इच्छाकर, क्योंकि
तपः, ब्रह्म, इति=ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है
सः=उसने फिर
तपः, अतप्यत=विचार किया और
सः, तपः, तप्त्वा=विचार करके यह समझा कि :—

इति द्वितीयोऽनुवाकः

——❀——

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्,प्रा णाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति, तद्वि-

ज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति, तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति, स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा ॥ ३ ॥

पद०—प्राणः । ब्रह्म । इति । व्यजानत् । प्राणात् । हि । एव । खलु । इमानि । भूतानि । जायन्ते । प्राणेन । जातानि । जीवन्ति । प्राणं । प्रयन्ति । अभिसंविशन्ति । इति । तत् । विज्ञाय । पुनः । एव । वरुणं । पितरं । उपससार । अधीहि । भगवः । ब्रह्म । इति । तं । ह । उवाच । तपसा । ब्रह्म । विजिज्ञासस्व । तपः । ब्रह्म । इति । सः । तपः । अतप्यत । सः । तपः । तप्त्वा ।

अर्थ

प्राणः, ब्रह्म, इति=प्राण ही ब्रह्म है यह
व्यजानात्=समझा, क्योंकि
प्राणात्, हि, एव=प्राण से ही
खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते यह सब प्राणी उत्पन्न होते
प्राणेन, जातानि=प्राण से उत्पन्न हुए
जीवन्ति=जीते हैं और
प्राणं, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, इति=प्राण में ही लय होजाते हैं
तत्, विज्ञाय=यह जानकर
पुनः, एव=फिर भी
वरुणं=वरुण
पितरं=पिता के निकट
उपससार=गया और जाकर कहने लगा कि
भगवः=हे भगवन्
अधीहि, ब्रह्म, इति=मुझको ब्रह्म का उपदेश करो तब
तं=उसको पिता बोला कि
तपसा=ज्ञान से
ब्रह्म, विजिज्ञासस्व=ब्रह्म को जानो, क्योंकि
तपः, ब्रह्म=ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है

सः, तपः, अतप्यत=उसने फिर विचार किया और सः, तपः, तप्त्वा=वह विचार करके यह समझा कि:—

इति तृतीयोऽनुवाकः

———

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि जीवन्ति, मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति, तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति, तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा ॥ ४ ॥

पद०—मनः । ब्रह्म । इति । व्यजानात् । मनसः । हि । एव । खलु । इमानि । भूतानि । जायन्ते । मनसा । जातानि । जीवन्ति । मनः। प्रयन्ति । अभिसविशन्ति । इति तत् । विज्ञायत् । पुनः । एव । वरुणं । पितरं । उपससार । अधीहि । भगवः । ब्रह्म । इति । तं । ह । उवाच । तपसा । ब्रह्म । विजिज्ञासस्व । तपः । ब्रह्म । इति । सः । तपः । अतप्यत सः । तप. । तप्त्वा ।

अर्थ

मनः, ब्रह्म, इति=मन ही ब्रह्म है यह भृगु ने व्यज्ञानात्=समझा मनसः, हि, एव=मन से ही खलु, इमानि, भूतानि, जायन्ते= यह सब भूत उत्पन्न होते

मनसा, जातानि, जीवन्ति= मन से ही उत्पन्न हुए जीते
मनः, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति इति=मन में ही लय होजाते हैं
तत्,विज्ञाय=यह जानकर
पुनः, एव=फिर भी
वरुणं, पितरं,उपससार=वरुण पिता के समीप गया कि
अधीहि, भगवः, ब्रह्म, इति= हे भगवन् मुझको ब्रह्म का उपदेश करो तब
तं=उसको, ह=स्पष्टतया पिता उवच=बोला कि
तपसा=ज्ञान से
ब्रह्म, विजिज्ञासस्व=ब्रह्म को जानो, क्योंकि
तपः, ब्रह्म, इति=तप ही ब्रह्म है
सः, तपः, अतप्यत=वह फिर विचार करने लगा और
सः, तपः, तप्त्वा=वह विचार करके यह समझा कि:—

इति चतुर्थोऽनुवाकः

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् विज्ञाना-द्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविश-न्तीति, तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपस-सार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति, तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति स तपोऽत-प्यत स तपस्तप्त्वा ॥ ५ ॥

पद०—विज्ञानं । ब्रह्म । इति । व्यजानात् । विज्ञानात् । हि । एव । खलु । इमानि । भूतानि । जायन्ते । विज्ञानेन ।

जातानि । जीवन्ति । विज्ञानं । प्रयन्ति । अभिसंविशन्ति । इति । तत् । विज्ञाय । पुनः । एव । वरुणं । पितरं । उपससार । अधीहि । भगवः । ब्रह्म । इति । तं । ह । उवाच । तपसा । ब्रह्म । विजिज्ञासस्व । तपः । ब्रह्म । इति । सः । तपः । अतप्यत । सः । तपः । तप्त्वा ।

अर्थ

विज्ञानं, ब्रह्म इति=विज्ञान ही ब्रह्म है यह भृगु ने
व्यजानात्=समझा
विज्ञानात्, हि, एव, खलु= निश्चय करके विज्ञान से ही
इमानि, भूतानी, जायन्ते=यह सब भूत उत्पन्न होते
विज्ञानेन, जातानि, जीवन्ति= विज्ञान से ही उत्पन्न हुए जीते हैं
विज्ञानं, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, इति=और विज्ञान में ही लय हो जाते हैं
तत्, विज्ञाय=यह जानकर
पुनः, एव=फिर भी
वरुणं, पितरं, उपससार= वरुण पिता को प्राप्त हुआ और जाकर कथन किया कि
भगवः=हे भगवन्
अधीहि, ब्रह्म, इति=मुझको ब्रह्म का उपदेश करो तब
तं=उसको पिता बोला कि
तपसा=ज्ञान से
ब्रह्म, विजिज्ञासस्व=ब्रह्म को जानो, क्योंकि
तपः, ब्रह्म=ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है
सः, तपः, अतप्यत=उसने फिर विचार किया और
सः, तपः, तप्त्वा=यह विचार करके यह समझा कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म है ॥

भाष्य—उपरोक्त सब श्लोकों का भाव यह है कि प्रथम भृगु यह समझा कि अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते और अन्न से ही जीते हैं इसलिये अन्न ही ब्रह्म है, इस भ्रान्ति से वह फिर अपने

पिता वरुण के समीप गया और जाकर कहने लगा कि मुझको ब्रह्म का उपदेश करो पिता ने उत्तर दिया कि तुम ज्ञान से ब्रह्म को समझो, फिर वह अपने ज्ञान से यह समझा कि प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राण से ही सब प्राणी उत्पन्न होते, प्राण से ही उत्पन्न हुये जीते और प्राण में ही लय हो जाते हैं, इस भ्रान्ति से वह फिर अपने पिता वरुण के समीप गया और जाकर कहने लगा कि मुझको ब्रह्म का उपदेश करें पिता ने फिर वही उत्तर दिया कि ज्ञान से ब्रह्म को समझो, फिर वह अपने ज्ञान से यह समझा कि मन ही ब्रह्म है क्योंकि मनोराज से ही सब सृष्टि उत्पन्न होती और सुषुप्ति आदिकों में मनोराज्य के लय हो जाने से लय हो जाती है वह मन को ही ब्रह्म समझकर फिर अपने पिता वरुण के समीप गया और जाकर कहा कि मुझको ब्रह्म का उपदेश करो, फिर पिता ने वही वही पूर्वोक्त उत्तर दिया और फिर वह यह समझा कि विज्ञान=महत्तत्व ही ब्रह्म है अर्थात् प्रकृति का प्रथम कार्य्य जो महत्तत्व है उसी से सब भूत उत्पन्न होते और उसी में लय हो जाते हैं यह समझ कर फिर वह ऋषि के समीप गया और ऋषि ने पुनरपि वही उपदेश किया कि तुम ज्ञानद्वारा ब्रह्म को उपलब्ध करो।

इति पञ्चमोऽनुवाकः

सं०— अब भृगु का ज्ञान द्वारा आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानना कथन करते हैं:—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दात् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन

जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसं-विशन्तीति सैषा भार्गवी वारुणी विद्या, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता, य एवं वेद प्रतिति-ष्ठति अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥६॥

पद०—आनन्दः । ब्रह्म । इति । व्यजानात् । आनन्दात् । हि । एव । खलु । इमानि । भूतानि । जायन्ते । आनन्देन । जातानि । जीवन्ति । आनन्दं । प्रयन्ति । अभिसंविशन्ति । इति । सा । एषा । भार्गवी । वारुणी । विद्या । परमे । व्योमन् । प्रतिष्ठिता । यः । एवं वेद । प्रतितिष्ठति । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । महान् । भवति । प्रजया । पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन । महान् । कीर्त्या ।

अर्थ

आनन्दः, ब्रह्म, इति=ब्रह्म आनन्दस्वरूप है यह उसने
व्यजानात्=जाना, क्योंकि
आनन्दात्, हि, एव, खलु= निश्चय करके आनन्दस्वरूप ब्रह्म से ही
इमानि, भूतानि, जायन्ते=यह सब भूत उत्पन्न होते
आनन्देन, जातानि, जीवन्ति= आनन्द से ही उत्पन्न हुए जीते
आनन्दं, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, इति=आनन्द में ही भली भांति लय हो जाते हैं
सा, एषा=वह यह
भार्गवी=भृगु ने समझी हुई
वारुणी=वरुण से कथन की हुई
विद्या=ब्रह्मविद्या
परमे, व्योमन, प्रतिष्ठिता= आकाशवत् परिपूर्ण परब्रह्म में प्रतिष्ठित है

यः, एवं, वेद=जो पुरुष इस प्रकार ब्रह्म विद्या को जानता है वह
प्रतितिष्ठति=परब्रह्म में स्थिर होता है
अन्नवान्=बड़ी सम्पत्ति वाला
अन्नादः=भोक्ता
भवति होता है
महान्, भवति=महत्व को प्राप्त होता है
प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन= पुत्रादि सन्तति, गो समुदायादि सम्पत्ति और ब्रह्मतेज से
महान्=बड़े
कीर्त्या=यश वाला होता है।

भाष्य—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन उक्त चारों कोशों के परदे से निकल कर भृगु ने यह समझा कि आनन्द स्वरूप ब्रह्म की सत्ता से ही सब प्राणी उत्पन्न होते, उसी की सत्ता से जीते और अन्त को उसी परब्रह्मरूप अधिकरण में लय हो जाते हैं, जो इस प्रकार ब्रह्मविद्या को जानता है वह उक्त आनन्द मय ब्रह्म के ज्ञान में स्थिर होता है, वरुण नामक ऋषि द्वारा उपदेश की गई विद्या का नाम ["वारुणी"] और भृगु ने इसको समझा इसलिये इसका नाम ["भार्गवी"] है, ब्रह्मज्ञान से भिन्न इसके फल प्रजा, पशु आदि उक्त सांसारिक ऐश्वर्य भी हैं।

मायावादी ["प्रतितिष्ठति"] के यह अर्थ करते हैं कि जो उक्त प्रकार से ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है, यदि इसके अर्थ ब्रह्म बनने के होते तो फिर प्रजादि सांसारिक ऐश्वर्य का उसके लिये क्यों विधान किया जाता, या यों कहो कि उक्त ऐश्वर्य किसको मिलता, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उक्त वाक्य के यह अर्थ करना कि वह ब्रह्म बन जाता है सर्वथा खींच है।

इति षष्ठोऽनुवाकः

सं०-अब उक्त ब्रह्मज्ञानी के व्रत कथन करते हैं:-

अन्नं न निन्द्यात्, तद्व्रतम् प्राणो वा अन्नम्, शरीरमन्नादम्, प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्, शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः, तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्, स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या ।७।

पद०— अन्नं । न । निन्द्यात् । तत् । व्रत । प्राणः । वै । अन्नं । शरीरं । अन्नादं । प्राणे । शरीरं । प्रतिष्ठितं । शरीरे । प्राणः । प्रतिष्ठितः । तत् । एतत् । अन्नं । अन्ने । प्रतिष्ठितं । सः । यः । एतत् । अन्नं अन्ने । प्रतिष्ठितं । वेद । प्रतितिष्ठति । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । महान् । भवति । प्रजया । पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेन । महान् । कीर्त्या ।

अर्थ

अन्नं, न, निन्द्यात्=अन्न की निन्दा न करे
तत्, व्रतं=यह इसका व्रत है
प्राणः, वै, अन्नं=निश्चय करके अन्न प्राण है
शरीरं, अन्नादं=शरीर अन्नाद है
प्राणे, शरीरं, प्रतिष्ठितं=प्राण में शरीर प्रतिष्ठित और
शरीरे, प्राणः, प्रतिष्ठितः=शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है
तत्, एतत्, अन्नं, अन्ने, प्रतिष्ठितं=इसलिये यह दोनों अन्न होने से अन्न के ही आश्रित हैं
सः, यः=जो पुरुष
एतत्, अन्नं, अन्ने, प्रतिष्ठितं=इस अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित

वेद=जानता है वह
प्रतितिष्ठति=स्वशरीर तथा प्राणों द्वारा दृढ़ होता है और
अन्नवान्, अन्नादः, भवति= सम्पत्ति वाला तथा भोगने वाला होता है
महान्, भवति=वड़ा होता है
प्रजाया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, महान्, कीर्त्या=पुत्रादि सन्तान, गौआदि सम्पत्ति और ब्रह्मतेज से वड़ी कीर्त्ति-वाला होता है

भाष्य—ब्रह्मज्ञानी के लिये यह व्रत है कि उसको अपकृष्ट तथा उत्कृष्ट किसी प्रकार का अन्न प्राप्त हो वह उसकी निन्दा न करे, क्योंकि प्राण अन्नाधीन होने से अन्न है और शरीर प्राणों के अधीन होने से अन्न कहाता है, या यों कहो कि प्राण शरीर के और शरीर प्राण के आश्रित होने से प्राण शरीर तथा शरीर प्राण है, यदि शरीर बलिष्ठ होगा तो प्राण दृढ़ रहेंगे और प्राण बलिष्ठ होंगे तो शरीर स्थिर रहेगा, इस प्रकार मानो अन्न ही अन्न के आधीन है अर्थात् प्राण भी अन्न और शरीर भी अन्न है, क्योंकि अन्न रस का विकार होने से शरीर अन्न तथा तदधीन प्राण होने से प्राण भी अन्न है, इस प्रकार जो पुरुष प्राण तथा शरीर की परस्पर रक्षा करता हुआ उक्त तत्व को जानता है वही प्रभूत अन्न की सम्पत्ति वाला तथा वही दृढ़ पाचनशक्ति वाला होता है और प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज से वड़े यश वाला होता है।

मायावादियों के मतानुसार यदि ["अन्नाद"] के अर्थ ब्रह्मभाव तथा ["प्रतिष्ठित"] के अर्थ ब्रह्म बनना होते तो इस प्रकार शरीर रक्षा तथा प्राण रक्षा वर्णन करके चिरंजीवी होने का उपदेश इस अनुवाक में न किया जाता, पर किया गया है, इससे सिद्ध है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से उपासक को

चिरंजीवी होने का ऐश्वर्य्य और सांसारिक ऐश्वर्य्य प्राप्त होते हैं।

इति सप्तमोऽनुवाकः
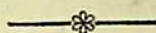
संo—अब और व्रत कथन करते हैं—

अन्नं न परिचक्षीत, तद्व्रतम्, आपो वा अन्नम्, ज्योतिरन्नादम्, अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्, ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिता, तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्, स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या ॥ ८ ॥

पदo—अन्नं । न । परिचक्षीत । तत् । व्रतं । आपः । वै । अन्नं । ज्योतिः । अन्नादं । अप्सु । ज्योतिः । प्रतिष्ठितं । ज्योतिषि । आपः । प्रतिष्ठिताः । तत् । एतत् । अन्नं । अन्ने । प्रतिष्ठितं । सः । यः । एतत् । अन्नं । अन्ने । प्रतिष्ठितम । वेद । प्रतितिष्ठति । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । महान् । भवति । प्रजया । पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेन । महान् । कीर्त्या ।

अर्थ

अन्नं, न, परिचक्षीत=शुभाशुभ अन्न के प्राप्त होने पर उस का परित्याग न करे तत्, व्रतं=यह व्रत है

आपः, वै, अन्नम्=निश्चय कर के शरीर के अन्तरवर्त्ति जो जल वह अन्न है
ज्योतिः, अन्नादं=जाठराग्नि अन्नाद है, क्योंकि
अप्सु, ज्योतिः, प्रतिष्ठितम्= जलों में ज्योतिः रहती है
ज्योतिषि, आपः, प्रतिष्ठिताः= ज्योतिः में जल रहते हैं, तेज तथा जल, अन्न, और अन्नाद
तत्, एतत्=वह यह
अन्नं, अन्ने, प्रतिष्ठितम्=अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है
सः, यः=वह जो
एतत्, अन्नं, अन्ने, प्रतिष्ठितं= इस प्रकार अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित
वेद=जानता है वह
प्रतितिष्ठति=चिरञ्जीवी होता है
अन्नवान्=अन्नवाला
अन्नादः=भोक्ता
भवति=होता है
महान्, भवति=बड़ा होता है
प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, महान्, कीर्त्या=प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से बड़े यश वाला होता है।

भाष्य—ब्रह्मज्ञानी का यह व्रत है कि वह सब प्रकार के अन्न का सत्कार करे, किसी प्रकार के अन्न का भी परित्याग न करे, क्योंकि शरीर में जो जल है वह अन्न और जाठराग्नि उसका भक्षण कर्त्ता होने से अन्नाद कहाता है, वह अन्नाद मानो जलों में ज्योतिरूप प्रतिष्ठित है और ज्योतिरूप अग्नि द्वारा ["अग्नेरापः"]=अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि ज्योतिः में जल स्थिर हैं, या यों कहो कि जाठराग्नि तथा जलों का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण दोनों परस्पर एक दूसरे के आश्रित होने से अन्न कथन किये गये हैं और भोक्ता होने से जाठराग्नि का नाम ["अन्नाद"] है, जो इस प्रकार अन्न तथा अन्नाद के भोग्य और भोक्तारूप सम्बन्ध को जानता है और जान कर वैसा ही अनुष्ठान करता है वही अन्नवान् और वही अन्नाद कहाता है।

भाव यह है कि जो पुरुष अन्न और अन्नाद की उक्त विद्या को जानता है वही भोगों वाला भोक्ता कहाता है और जो इसको नहीं जानता तथा इसका अनुष्ठान नहीं करता उस के गृह में सहस्रों भोग्य पदार्थ होने पर भी वह अन्नवान् तथा अन्नाद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें भोगने की शक्ति नहीं, या यों कहो कि चिरंजीव होने के लिये पुरुष को अन्नाद के भावों का सम्पादन करना चाहिये अन्यथा पुरुष तेजस्वी, यशस्वी और चिरंजीवी कदापि नहीं हो सकता।

इति अष्टमोऽनुवाकः
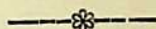
सं०—अब अन्न के सम्पादन करने का व्रत कथन करते हैं:—

अन्नं बहु कुर्वीत, तद्व्रतम्, पृथिवी वा अन्नम्, आकाशोऽन्नादः, पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः, आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता, तदे-तदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्, स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मव-र्चसेन महान् कीर्त्या ॥ ६ ॥

पद०—अन्नं। बहु। कुर्वीत। तत्। व्रतं। पृथिवी। वै। अन्नं। आकाशः। अन्नादः। पृथिव्यां। आकाशः। प्रतिष्ठितः। आकाशे। पृथिवी। प्रतिष्ठिता। तत्। एतत्। अन्नं। अन्ने।

प्रतिष्ठितं । सः । यः । एतत् । अन्नं । अन्ने । प्रतिष्ठितम् । वेद । प्रतितिष्ठति । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । महान् । भवति । प्रजया । पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेन । महान् । कीर्त्या ।

अर्थ

अन्नं, वहु, कुर्वीत=अन्न की वृद्धि करे
तत्, व्रतम्=यह व्रत है
पृथिवी, वे, अन्नं=निश्चय कर के पृथिवी अन्न तथा
आकाशः, अन्नादः=आकाश अन्नाद है
पृथिव्यां, आकाशः प्रतिष्ठितः= पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित और
आकाशे, पृथिवी, प्रतिष्ठिता= आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है
तत्, एतत्, अन्नं, अन्ने, प्रतिष्ठितम्=इसलिये यह अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है
सः, यः, एतत्=जो पुरुष इस
अन्नं, अन्ने=अन्न में अन्न को
प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित
वेद=जानता है वह
प्रतितिष्ठति=चिरंजीवी
अन्नवान्=अन्नवाला तथा
अन्नादः, भवति=भोगने वाला होता है
महान्, भवति=बड़ा होता है और
प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन= सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज से
महान्, कीर्त्या=बड़े यश वाला होता है ।

भाष्य–इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि पुरुष अन्नादि सम्पत्ति की सदा वृद्धि करता रहे, यह उसका व्रत है, ["आकाश"] शब्द के अर्थ यहां दीप्ति प्रधान विद्युत के हैं अर्थात् पृथिवी में सर्वत्र उक्त शक्ति विद्यमान होने से पृथिवी में आकाश को प्रतिष्ठित=स्थित कथन किया गया है और अन्य सब पार्थिव पदार्थ उक्त शक्ति से सहायता पाकर बढ़ने के कारण पृथिवी की आकाश में स्थिरता कथन की गई है अथवा

सूक्ष्मभूत जो आकाश है वह पञ्चीकरण की रीति से पृथिवी में विद्यमान तथा पृथिवी आकाश में विद्यमान है, इसी अभिप्राय से यहां आकाश को पृथिवी में और पृथिवी को आकाश में प्रतिष्ठित कथन किया गया है, उक्त "पञ्चीकरण" की प्रक्रिया यह है कि एक तत्व के प्रथम दो भाग करके उनमें से प्रथम के चार भाग करने, और अपने से भिन्न चारों तत्वों में मिला देना, इसी प्रकार दूसरे तत्वों के दो २ भाग करके उनमें से एक २ के चार २ भाग कर लेना और अपने से भिन्नों में मिला देना, इस प्रकार सम्मेलन करने से पांचों तत्व आपस में मिश्रित हो जाते हैं और अपना भाग आधा तथा दूसरे चारों का एक मिल कर उसके बराबर हो जाता है, इस प्रकार एक तत्व दूसरे में प्रतिष्ठित है, और इसी से भोक्ता भोग्य दोनों अन्न कहे जाते हैं जिसमें से जठराग्नि की शक्ति रखने वाला तत्व अन्नाद और दूसरा अन्न कहाता है, इस प्रकार भोग्य तथा भोक्तृ शक्ति को जानने वाला पुरुष प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजादि ऐश्वर्य्यं से वृद्धि को प्राप्त होता है।

इति नवमोऽनुवाकः

सं०—अब और व्रत कथन करते हैं:—

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद्व्रतम्, तस्माद्यया कया च विधयाबह्वन्नं प्राप्नुयात् अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते, एतद्वै मुखतोऽन्नं राद्धम्, मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते,

एताद्धै मध्यतोऽन्नं राद्धम्, मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते, एताद्धा अन्ततोऽन्नं राद्धम्, अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते य एवं वेद ॥१०॥

पद०—न । कञ्चन । वसतौ । प्रत्याचक्षीत । तत् । व्रतं । तस्मात् । यया । कया । च । विधया । वहु । अन्नं । प्राप्नुयात् । अराधि । अस्मै । अन्नं । इति । आचक्षते । एतत् । वै । मुखतः । अन्नं । राद्धं । मुखतः । अस्मै । अन्नं । राध्यते । एतत् । वै मध्यतः । अन्नं राद्धं । मध्यतः । अस्मै । अन्नं । राध्यते । एतन । वै । अन्ततः । अन्नं । राद्धं । अन्ततः । अस्मै । अन्नं । राध्यते । यः । एवं । वेद ।

अर्थ

न, कञ्चन, वसतौ, प्रत्याचक्षीत=अपने घर में निवासार्थ आये हुये किसी पुरुष को भी निषेध न करे
तत्, व्रतं=यह व्रत है
तस्मात्=इसी लिये
यया, कया, च, विधया=येन केन प्रकार से
बहु, अन्नं=बहुत अन्नं का
प्राप्नुयात्=संग्रह करे
अराधि, अस्मै, अन्नं इति, आचक्षते=इस अतिथि के लिये ही हम लोगों ने अन्न एकत्रित किया है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं
एतत्, वै, मुखतः, अन्नं, राद्धं=यह उत्तम अन्न श्रद्धापूवक सिद्ध कियागया है
मुखतः, अस्मै, अन्नं, राध्यते=यह उत्तम प्रकार से बनाया हुआ अन्न अतिथि को उत्तम श्रद्धा से देता है
एतत,वै, मध्यतः, अन्नं, राद्धं=यह मध्यम प्रकार का अन्न मध्यम श्रद्धा से बनाया है

मध्यतः, अस्मै, अन्नं, राध्यते= मध्यम प्रकार से बनाया हुआ इस अतिथि के लिये है
एतत्, वै, अन्ततः, अन्नं, राद्धं यह अन्न निकृष्ट रीति से बनाया है
अन्ततः, अस्मै, अन्नं राध्यते= निकृष्ट रीति से बनाया हुआ अन्न इस अतिथि के लिये है
यः, एवं, वेद=जो उक्त प्रकार से दान के महात्म्य को जानता है वह उत्तम फल को प्राप्त होता है।

भाष्य—ब्रह्मवेत्ता पुरुष का यह व्रत है कि वह स्वगृह में आये हुए अतिथि का यथायोग्य सत्कार करे और उक्त सत्कार के लिये उचित है कि वह येनकेन प्रकार से बहुतसा अन्न एकत्रित रखे अर्थात् योग्यतानुसार उत्तम कोटि के पुरुष का उत्तम अन्न, मध्यम कोटि के अतिथि को मध्यम अन्न और निकृष्ट कोटि के अतिथि को निकृष्ट अन्न दे, जो पुरुष ऐसा करता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है।

सं०—अब ब्रह्म की उपासना कथन करते हैं:—

क्षेम इति वाचि, योगक्षेम इति प्राणापानयोः, कर्मेति हस्तयोः, गतिरिति पादयोः विमुक्तिरिति पायौ इति मानुषीः समाज्ञाः । ११ ।

पद०—क्षेमः । इति । वाचि । योगक्षेमः । इति । प्राणापानयोः। कर्म । इति । हस्तयोः । गतिः । इति । पादयोः । विमुक्तिः । इति । पायौ । इति । मानुषीः । समाज्ञाः ।

अर्थ

क्षेमः, इति, वाचि=परमात्मा से वाणी विषयक रक्षा की प्रार्थना करे
प्राणापानयोः, इति, योगक्षेमः= प्राण तथा अपान में योगक्षेम की
हस्तयोः, इति, कर्म=हाथों में कर्मों की
पादयोः, इति, गतिः=पैरों में गति की
पायौ, इति, विमुक्तिः=मूलद्वार में त्याग की
मानुषीः, इति, समाज्ञाः=मनुष्यों की अवयवरक्षाविषयक होने से इस प्रार्थना का नाम मानुषी समाज्ञा है।

भाष्य—इस श्लोक में मनुष्य के सब अवयवों की रक्षा के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन्! यावदायुष मेरे कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय बलवीर्य्ययुक्त रहें अर्थात् उपासक अपनी वाणी के लिये परमात्मा से यह प्रार्थना करे कि हे परमात्मन्! आप की कृपा से मेरी वाणी की रक्षा हो ताकि मैं किसी को दुःखोत्पादक वचन न कहूँ, प्राण विषयक प्रार्थना यह है कि मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय की प्राप्ति के लिये यत्न करता हुआ अपने जीवन को सफल करे, अपानवायु में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, इसलिये उक्त वायुविषयकरक्षा की प्रार्थना करे, हाथों में कर्म करने की, पैरों, में गति की और अन्य मलमूत्रादि के त्यागरूप कर्मेन्द्रियों में त्याग की प्रार्थना करे, जिसका आशय यह है कि मलमूत्रादि त्याग के लिये यह इन्द्रियें सदा आपकी कृपा से नीरोग बने रहें, इस प्रार्थना का नाम मनुष्यविषयक होने से ["मानुषी"] और ईश्वर की आज्ञा मांगने से ["समाज्ञा"] है।

सं०—अब विद्युतादिविषयक दैवी प्रार्थना कथन करते हैंः—

अथ दैवीः, तृप्तिरिति वृष्टौ, बलमिति विद्युति, यश इति पशुषु, ज्योतिरितिनक्षत्रेषु, प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे, सर्वमित्याकाशे, तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत प्रतिष्ठावान् भवति । १२ ।

पद०—अथ । दैवीः । तृप्तिः । इति । वृष्टौ । बलं । इति । विद्युति । यशः । इति । पशुषु । ज्योतिः । इति । नक्षत्रेषु । प्रजातिः । अमृतं । आनन्दः । इति । उपस्थे । सर्वं । इति । आकाशे । तत् । प्रतिष्ठा । इति । उपासीत । प्रतिष्ठावान् । भवति ॥

अर्थ

अथ, दैवीः=अब दैवी प्रार्थना कहते हैं
वृष्टौ, इति, तृप्तिः=वृष्टि विषयक तृप्ति की
विद्युति, इति, बलं=विद्युत में बल की
पशुषु, इति, यशः=पशुओं में यश की
नक्षत्रेषु, इति, ज्योतिः=नक्षत्रों में ज्योतिः की प्रार्थना करे
प्रजातिः, अमृतं=सन्तान का मृत्यु रहित होना तथा
आनन्दः, इति=सुखकी प्रार्थना
उपस्थे=उपस्थेन्द्रिय द्वारा सन्तानोत्पत्ति की प्रार्थना और
सर्वं, इति, आकाशे=सब के कुशल विषयक आकाश में
तत्=वह ब्रह्म
प्रतिष्ठा=प्रतिष्ठित है
इति, उपासीत=इस प्रकार उसकी उपासना करे, ऐसा उपासक
प्रतिष्ठावान्, भवति=प्रतिष्ठा वाला होता है ।

भाष्य—इस श्लोक में दैवी प्रार्थना कथन की गई है जिस का अभिप्राय यह है कि हे परमात्मन्! आप हमको वृष्टि विषयक तृप्ति दें या यों कहो कि हे दयामय! ऐसी कृपा करो कि हमको तृप्त करने वाली यथाकाल वृष्टि हो, विद्युतोपयोगी कार्य्यों के करने का हमको बल दें ताकि हम अन्य पदार्थों में उसका उपयोग करें, गौ आदि पशुओं की रक्षा से हमारा यश बढ़े नक्षत्रों में ज्योतिः बढ़े, आपकी कृपा से गृहस्थीमात्र की प्रजननेन्द्रिय में प्रजोत्पत्ति की शक्ति बढ़े, और इस सम्पूर्ण भूमण्डल के चराचर पदार्थों की वह ब्रह्म प्रतिष्ठा है, ऐसी उपासना करने वाला प्रतिष्ठित होता है।

सं०—अब "महः" आदि नामों से परमात्मा की उपासना कथन करते हैं:—

तन्मह इत्युपासीत, महान् भवति, तन्मन इत्युपासीत मानवान् भवति, तन्नम इत्युपासीत, नम्यन्तेऽस्मै कामाः, तद्ब्रह्मेत्युपासीत, ब्रह्मवान् भवति तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत पर्य्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः परियेऽप्रिया भ्रातृव्याः ॥ १३ ॥

पद०—तत्। महः। इति। उपासीत। महान्। भवति। तत्। मनः। इति। उपासीत। मानवान्। भवति। तत्। नमः। इति। उपासीत। नम्यन्ते। अस्मै। कामाः। तत। ब्रह्म। इति। उपासीत। ब्रह्मवान्। भवति। तत। ब्रह्मणः। परिमरः। इति।

उ ासीत । परि । एनं । म्रियन्ते । द्विषन्तः । सपत्नाः । परि । ये । अप्रियाः । भ्रातृव्याः ।

अर्थ

तत्, महः, इति, उपासीत=उस ब्रह्म की "मह" नाम से उपासना करने वाला
महान् भवति=बड़ा होता है
तत्, मनः, इति, उपासीत= "मन" नाम से उपासना करने वाला
मानवान्=मान वाला होता है
तत्, नमः, इति, उपासीत= "नम" इस नाम से उपासना करने वाले के लिये
नम्यन्ते, अस्मै, कामाः=सब कामनायें प्राप्त होती हैं
तत्, ब्रह्म, इति, उपासीत='ब्रह्म' नाम से उपासना करने वाला
ब्रह्मवान्, भवति=वृद्धि युक्त होता है
तत्, ब्रह्मणः, परिमरः, इति, उपासीत=उस ब्रह्म की "परिमर" नाम से उपासना करने वाले के
परि, एनं, म्रियन्ते, द्विषन्तः= सब द्वेषी मर जाते हैं और
ये=जो
सपत्नाः, भ्रातृव्याः, अप्रियाः= अज्ञान की सन्तति होने से अप्रिय भाई काम क्रोध लोभादिक हैं उनका भी नाश हो जाता है ।

भाष्य—"मह्यते पूज्यतेति महः"=सबके उपास्य देव परमात्मा का नाम "महः" है, जो पुरुष उसके उपास्यदेव होनेके भाव से परमात्मा की उपासना करता है वह बड़ा होता है, जो ज्ञान स्वरूप होने के भाव से परामत्मा की उपासना करता है वह मान वाला होना है, ब्रह्म को सब से बड़ा मानकर उपासना करने वाला सब प्रकार की वृद्धियुक्त ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता है और जो इस भाव से परमात्मा की उपासना करता है कि वह महाकाल का भी काल है और परिमर=उसकी सत्ता से कार्य्य-

मात्र नाश को प्राप्त हो जाता है, उसके काम क्रोधादि सब शत्रु मर जाते हैं वह स्वराज्य को प्राप्त होता है और फिर उसको राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शीतोष्णादि द्वन्द्वों का कोई दुःख नहीं सताता।

स्मरण रहे कि मिथ्याज्ञान से ही इस मनुष्यजन्म की उत्पत्ति होती और मिथ्याज्ञान से ही काम क्रोधादिक उत्पन्न होते हैं, इस कारण उनको विवेकादिकों के भ्रातृव्य कथन किया गया है।

सं—अब और उपासना कथन करते हैं :—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये, स एकः स य एवंवित्, अस्माल्लोकात्प्रेत्य, एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एतं प्राणमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एतं मनोमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य, इमांल्लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्, एतत्सामगायन्नास्ते ॥ १४ ॥

पद०—सः। यः। च। अयं पुरुषे। यः। च। असौ। आदित्ये। सः। एकः। सः। यः। एवंवित। अस्मात। लोकात। प्रेत्य। एतं। अन्नमयं। आत्मानं। उपसङ्क्रम्य। एतं। प्राणमयं। आत्मानं। उपसङ्क्रम्य। एतं। मनोमयं। आत्मानं। उपसङ्क्रम्य। एतं। विज्ञानमयं। आत्मानं। उपसङ्क्रम्य। एतं।

आनन्दमयं । आत्मानं। उपसङ्क्रम्य। इमान्। लोकान्। कामान। नीकामरूपी। अनुसञ्चरन्। एतत्। साम। गायन्। आस्ते।

अर्थ

सः=वह परमात्मा
यः=जो
अयं, पुरुषे=इस पुरुष में है
च=और
यः=जो
असौ=वह
आदित्ये=सूर्य्य में है
सः, एकः=वह एक है
यः=जो
एवंवित=इसप्रकार जानता है वह
अस्मात, लोकात, प्रत्ये=इस लोक से दृष्टि हटाकर
एतं, अन्नमयं, आत्मानं, उपसङ्क्रम्य=इस अन्नमय आत्मा को उल्लङ्घन करके
एतं, प्राणमयं, आत्मानं, उपसङ्क्रम्य=इस प्राणमय आत्मा को उल्लंघन करके
एतं, मनोमयं, आत्मानं उपसङ्क्रम्य=इस मनोमय आत्मा को उल्लंघन करके
एतं, विज्ञानमयं, आत्मानं, उपसङ्क्रम्य=इस विज्ञानमय आत्मा को उल्लङ्घन करके
एतं, आनन्दमयं, आत्मानं, उपसंक्रम्य=इस आनन्दमय आत्मा को उलंघन करके
कामान=सब कामनाओं का त्याग कर
इमान्, लोकान्=उक्त लोकों में
नीकामरूपी=यथेच्छाचारी होकर
अनुसञ्चरन्=विचरता और
एतत्, साम, गायन, आस्ते=निम्न प्रकार सामगान करता हुआ स्थिर होता है

हा३वु हा३वु हा३वु, अहमन्नमहमन्नमहन्नम्, अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः,

अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्, अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य, पूर्वं देवेभ्योऽ मृतस्य ना३भायि, यो मा ददाति सइदेव मा३वाः अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि, अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्न ज्योतीः, य एवं वेद इत्युपनिषत् ॥ १५ ॥

पद०—हावु। हावु। हावु। अहं। अन्नं। अहं अन्नं। अहं। अन्नं। अहं। अन्नादः। अहं। अन्नादः। अहं। अन्नादः। अहं। श्लोककृत्। अहं। श्लोककृत्। अहं। श्लोककृत्। अहं। अस्मि। प्रथमजा। ऋतं। अस्य। पूर्वं। देवेभ्यः। अमृतस्य। नाभौ। यः। मा। ददाति। सः। इत्। एव। मा। अवाः। अहं। अन्नं। अन्नं। अदन्तं। अद्मि। अहं। विश्वं। भुवनं। अभ्यभवां। सुवः। न। ज्योतीः। य। एवं। वेद। इति। उपनिषत्।

अर्थ

हावु, हावु, हावु,=अहो आश्चर्य है, आश्चर्य है, आश्चर्य है

अहं अन्नं, अहं अन्नं, अहं अन्नं=मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं, मैं अन्न हूं

अहं अन्नादः, अहं अन्नादः, अहं अन्नादः=मैं ही अन्न का भोक्ता हूं, मैं ही भोक्ता हूं, मैं ही भोक्ता हूँ

अहं श्लोककृत, अहं श्लोककृत्, अहं श्लोककृत्=मैं ही इन देहादिकों का रचयिता हूं, मैं ही रचयिता हूँ, मैं ही रचयिता हूं,

अहं, अस्मि=मैं ही

प्रथमजाः=मुक्त पुरुषों के रूप से आदि सृष्टि में उत्पन्न हुआ हूं
अमृतस्य, नाभौ=मुक्ति रूप अमृत का मध्य में ही हूँ
पूर्वं, देवेभ्यः=सूर्य्यादि देवों से प्रथम
अस्य, ऋतं=इस संसार का सत्य मैं ही हूं
यः=जो
मा=मुझको अतिथियों के लिये
ददाति=देता है
सः=वह
एव=ही
मा=मुझको
अवाः=बढ़ाता है और जो
इत=इस प्रकार अतिथि को न देकर खाता है उसको
अहं, अन्नं=अन्नरूप मैं
अदन्तं=स्वयं खाने वाले को
अद्मि=खा जाता हूँ
अहं, अन्नं, भुवनं, विश्वं,
अभ्यभवां=मैं ही सम्पूर्ण जगत् के लोकलोकान्तरों का नाश करता हूँ
सुवः, न, ज्योतिः=मैं सूर्य्य की भांति प्रकाशमान हूं
यः, एवं, वेद=जो उपासक इस प्रकार परमात्मा के स्वरूप का ज्ञाता है वही
इति,उपनिषत्=वेद के रहस्य को जानता है।

भाष्य—उन दोनों श्लोकों का भाव यह है कि जो पुरुष इन सम्पूर्ण प्राणियों के भौतिक देहों में है वही सूर्य्य में है और वही परमात्मदेव सर्वत्र ओतप्रोत हो रहा है, वह एक है, उसका सजातीय अन्य कोई नहीं, जो पुरुष इस प्रकार जानता है वह अन्नमय प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों को अतिक्रमण करके उस आनन्दमय आत्मतत्व को प्राप्त होता हुआ यथेच्छाचारी होकर विचरता है और और इस प्रकार सामगायन करता है कि अहो आश्चर्य है, आश्चर्य है, आश्चर्य है, मैं अन्न=मरणधर्मा पुरुष हूँ तब भी मैं अन्नाद=इस चराचर जगत् का भक्षण करने वाला हूं और मैं ही श्लोककृत=इन

देहादि संघात का रचयिता परमात्मा हूं. इत्यादि, श्लोक में एक २ वाक्य का तीन २ वार उच्चारण उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये किया गया है अर्थात जीव ब्रह्मज्ञान द्वारा आत्मतत्व को प्राप्त हुआ तद्धर्मतापत्तिरूप योग को लाभ करके यह कहता है कि मैं अन्न हूं मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही इस सारे संघात को उत्पन्न करने वाला हूँ, और मैं ही इन सब भुवनों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कर्त्ता हूँ. या यों कहो कि मुक्त पुरुष यथेच्छाचारी हुआ २ परमात्मा के भावों को प्राप्त होकर परमात्मभाव से अपने आपको ब्रह्म कथन करता है, इसका नाम आत्मोपासना है, जैसाकि महर्षि व्यास ने ["आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च"] ब्र० सू० ४ । १ । ३ । इस सूत्र में वर्णन किया है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष आत्मभाव से परमात्मा को प्राप्त होते हैं और इसी भाव से उसका ग्रहण दूसरों को कराते हैं, जैसा कि ["त्वंवा अहमस्मि भगवोदेवते अहं वैत्वमसि"] ["अहं ब्रह्मास्मि"] ["एषः त आत्मा सर्वान्तरः"] बृह० ३ । ४ । १० ["एषः ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः"] बृह० ३ । ७ । ३ । इत्यादि वाक्यों में अभेदोपासना का वर्णन किया है इसी अभेदोपासना के भाव से यहां ब्रह्मज्ञानी का यह कथन है कि मैं ही अन्न, मैं ही आन्नाद और मैं ही उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का करने वाला हूं, जो इस प्रकार से परमात्मास्वरूप को जानता है वही वेद के रहस्य का जानने वाला है अर्थात इसी भाव के बोधक समानाधिकरण के मंत्र जो वेदों में आते हैं उनका भी यही भाव है कि परमात्मप्राप्ति से शुद्ध हुआ ब्रह्मज्ञानी अपने आपको ब्रह्मभाव से कथन करता है, इसका यह भाव कदापि नहीं कि जीव ब्रह्म बनकर अपने आपको सब भुवनों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का

कर्त्ता मानता है, यदि यह भाव उक्त श्लोक का होता तो उसके अंत में ["य एवं वेद"] इस वाक्य द्वारा यह कथन न किया जाता कि जो उक्त प्रकार से ब्रह्म की उपासना करता है ["वह ऐसा कहता"] है. इससे सिद्ध है कि यह एक शमविधि की उपासना है जो ["सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत"] इत्यादि वाक्यों में निरूपण की गई है कि ब्रह्म से ही सब जगत् उत्पन्न होता, उसी में चेष्टा करता और उसी में लय होजाता है, इसलिये उक्त भाव द्वारा कि ["सब-कुछ ब्रह्म है"] इस दृष्टि से उपासना करे, जिस प्रकार यह उपासना रागद्वेषादि द्वन्द्वों के अभावार्थ की जाती है इसी प्रकार उक्त श्लोक में ["अहमन्नं"] ["अहमन्नादः"]=मैं ही अन्नं और मैं अन्नाद हूं, यह उपासना भी भोग्य तथा भोक्तावर्ग का एकत्व मानकर शान्ति के लिये कीगई है इसमें जीवब्रह्म का अभेद प्रतिपादन नहीं कियागया।

मायावादी इन श्लोकों के यह अर्थ करते हैं कि जब जीव भेद-रहित होजाता है अर्थात् जीवब्रह्म के अभेद को समझ लेता है अथवा स्वयं ब्रह्म बनकर यह समझता है कि मैंने ही सूर्य्यमण्डल पर्य्यन्त सब सृष्टि को रचा है, मैं ही स्थिति और लय का कर्त्ता हूं, उस समय वह यह सामगायन करता हुआ अपने आप में स्थिर होता है कि आश्चर्य्य है, ३, मैं ही अन्न हूं ३, मैं ही अन्नाद=अन्न के खाने वाला हूं, ३, मैं ही इस संसार को बनाने वाला, ३, मैं ही हिरण्यगर्भ और मैं ही परमानन्दरूप मुक्ति का देने वाला हूं, इत्यादि, यह अर्थ इस लिये ठीक नहीं कि यदि वास्तव में भोग्य और भोक्ता का एकत्व माना जाय तो जड़ चेतन में कुछ भेद नहीं रहता, यदि यह कहा जाय कि अस्तु ऐसा ही रहो ? क्या हानि यह भेद तो

केवल कल्पनामात्र है वास्तव में इस चराचर ब्रह्माण्ड की उसी से उत्पत्ति, स्थिति और उसी में लय होने के कारण सब एक है, इसलिये भोक्ता और भोग्य के एक होने में कोई दोष नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इस जगत् का उपादानकारण ब्रह्म नहीं किन्तु प्रकृति है, प्रकृति भोग्य और चेतन भोक्ता है, इसलिये भोग्य और भोक्ता कदापि एक नहीं होसकते, इसी कारण महर्षि व्यास ने ["सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात्"] ब्र० सू० १।२। ८ इत्यादि सूत्रोंमें परमात्मा को अभोक्ता कथन किया है कि सर्वगत होने से ब्रह्म भोक्ता नहीं क्योंकि वह अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र स्थिर है भोक्त रूप से नहीं और जो इससे आगे के सूत्र में ब्रह्म को अत्ता=भोक्ता कथन किया है वह चराचर के ग्रहणार्थ है अर्थात् यह सब चराचर पदार्थ उसके नियम में भ्रमण करते हैं, इसलिये उसको ["अत्ता"] कथन किया है, वास्तव में जीव ब्रह्म में भेद पाये जाने से वह जीव के समान भोक्ता कदापि नहीं होसकता इससे स्पष्ट सिद्ध है कि अन्नाद के अर्थ अन्नरूप प्रकृति के भोक्ता के नहीं किन्तु प्रकृतिस्थ चराचर कार्य्य की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करने वाले परमात्मा के हैं, फिर भोग्य और भोक्ता की एकता कैसे ? की एकता कैसे ? और जो मायावादी इसका यह उत्तर देते हैं कि भोक्ता और भोग्य अर्थात् जड़ चेतन का भेद वास्तव में नहीं किन्तु कल्पित है इसलिये परमार्थ से एक ही पदार्थ है अर्थात् वही अन्न, वही अन्नाद, वही सृष्टि और वही सृष्टि का कर्त्ता है, इसका समाधान यह है कि सर्वनियन्ता तथा सर्वज्ञाता परमात्मा को कार्य्य तथा उसको कल्पित मानना कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्या कल्पना अज्ञानी में होती है ज्ञानी में नहीं, यदि कल्पना जीवाश्रित मानी जाय कि वह

अज्ञानी जीव को होती है तो यह दोष आता है कि प्रथम मिथ्या कल्पना हो तो जीव बने और जीव हो तो मिथ्या कल्पना हो, इस प्रकार कल्पनावाद में अन्योऽन्याश्रय दोष है, यदि ब्रह्माश्रित मानी जाय तो ब्रह्म अज्ञानी बनता है, और यदि जीवाश्रित मानी जाय तो जीव ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म में ही भोक्ता होने का प्रसंग आता है, इस स्थान में विना कोप के मायावादियों के पास अन्य कोई उत्तर नहीं, इसी लिये स्वा० शङ्कराचार्य्य ने उक्त सूत्र के भाष्य में यह कथन किया है कि अद्वैतवाद में जो लोग उक्त दोष देते हैं उन मूर्खों से यह पूछना चाहिये कि तुमने जीव ब्रह्म की एकता कैसे समझी, यदि वह यह उत्तर दें कि हमने अभेद प्रतिपादक वाक्यों से समझी तो उत्तर यह है कि फिर वह देवों के प्रिय अर्थात मूर्ख जीव ब्रह्म की एकता में सन्देह क्यों करते हैं, एवंविध तर्काभास से ही एकत्ववाद का मण्डन किया है जिसमें कुछ तत्व नहीं, "अहमन्नाद" इत्यादि अभेद प्रतिपादक वाक्य जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं करते किन्तु परमात्मा के एकत्व को सिद्ध करते हैं कि परमात्मा एक है उस से भिन्न अन्य कोई परमेश्वर नहीं, जैसा कि ["मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"] कठ० ४ । १० इत्यादि वाक्यों में कथन किया है कि नाना परमेश्वर नहीं, इसी प्रकार वेद और उपनिषदों में परमात्मा के अद्वैतवाद को सिद्ध किया है जिसके अर्थ यह हैं कि परमात्मा का सजातीय, विजातीय अन्य कोई परमात्मा नहीं, यह अर्थ कदापि नहीं कि प्रकृति तथा जीव ईश्वर से भिन्न नहीं, और जो यह कथन किया गया है कि जीव अपने आपको अन्नादादि शब्दों द्वारा सर्वात्मरूप से कथन करता है, यदि जीव ब्रह्म न होता तो अपने आपको ब्रह्मात्मभाव से क्यों कथन करता? इसका उत्तर यह है कि

जिन मन्त्रों में जीव अपने आपको ब्रह्मात्मभाव से कथन करता है उन मन्त्रों का मायावादियों के अभिप्रायानुकूल जीवब्रह्म की एकता में तात्पर्य्य नहीं किन्तु ब्रह्म की आत्मत्वेन उपासना में तात्पर्य्य है जैसा कि :—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावा पृथिवी आ विवेश॥

अथर्व० ४।६।३०।५

अर्थ—मैं ही दुष्टों के लिये दण्ड देती हूँ, मैं ही मनुष्यों के लिये संग्रामभूमि रचती हूं, मैं ही द्यु और पृथ्वी में प्रविष्ट हूं, इत्यादि ब्रह्मवादिनी स्त्री ने परमात्मा का अहंभाव से कथन किया अर्थात् दुष्टों को दण्ड देने वाला परमात्मा और मनुष्य-मात्र के लिये धर्मयुद्ध रचने वाला परमात्मा तथा द्यु और पृथिवी में अन्तर्यामी रूप से व्यापक परमात्मा मैं ही हूं, जिस प्रकार इस स्थल में परमात्मा की आत्मत्वेन उपासना करने के लिये उक्त स्त्री ने परमात्मा का आत्मभाव से कथन किया है इसी प्रकार उक्त श्लोक में भी ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म की आत्मत्वेन उपासना कथन करता है, वेदों में ऐसे मन्त्र बहुत पाये जाते हैं जिनमें आत्मत्वेन परमात्मा की उपासना कथन की गई है, इस अभेदोपासना के अभिप्राय से ही उपासक ["अहमन्नमहमन्नं, अहमन्नादमहमन्नादः"] इत्यादि श्लोकों में परमात्मा की उपासना कथन करता है, और जिन मन्त्रों में ब्रह्म को सर्वात्मरूप से कथन किया है उन मन्त्रों का भी यही तात्पर्य है कि ब्रह्म सर्वान्तर्यामीरूप से सर्वरूप है न कि उपादानकारण तथा शवलवाद के अभिप्राय से, उदाहरण के लिये हम यहां अथर्व-वेद के दो मन्त्र और उद्धृत करते हैं:—

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोन्तर्हितं हविः ॥

अथर्व० १६।५।४२।१।

अर्थ—ब्रह्म ही हवन करने वाला, वही यज्ञ, वही उद्‌गाता तथा अध्वर्यु और अध्वर्यु ब्रह्म से उत्पन्न हुआ और ब्रह्म में ही हवि पड़ता है।

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः
शमिताय स्वाहा ॥

अथर्व० १६।५।४२।२।

अर्थ—ब्रह्म ही स्रुवा है, ब्रह्म ही वेदी है, ब्रह्म से ही वेदी खोदी जाती है, ब्रह्म ही यज्ञ का तत्व है और जो हवन करने वाले ऋत्विजादि हैं वह भी ब्रह्म ही हैं, एवंविध अभेद को प्राप्त ब्रह्म के लिये यह हवन साधु हो, इत्यादि मन्त्रों में जो ब्रह्म को सर्वात्मभाव से कथन किया है वह [“सर्वं खल्विदं ब्रह्म०”] इस वाक्य के समान अभेदोपासना के अभिप्राय से है अर्थात ब्रह्मोपासना के समय में याज्ञिक लोगों की भेददृष्टि नहीं रहनी चाहिये, इन्हीं मन्त्रों के अनुसार गी० ४।२४ में वर्णन किया है कि:—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥

अर्थ—ब्रह्म ही अर्पण=स्रुवा, ब्रह्म ही अग्नि, ब्रह्म से ही हवन किया जाता है और वही हवन का फल है, ब्रह्म में समाहित मन वाले पुरुषों को हवन काल में भेददृष्टि छोड़कर ब्रह्मो-

पासना करनी चाहिये, उक्त सर्वात्मवाद के भाव को ["प्रतीकोपासना" इसलिये नहीं कह सकते कि इस भाव में स्रुवादि पदार्थों की ब्रह्म समझकर उपासना नहीं की जाती और मायावादियों के मतानुसार वस्तुमात्र ब्रह्म यहां इसलिये नहीं कहा जा सकता कि उक्त सब पदार्थ ब्रह्म वकार नहीं और ना ही शबलवादियों के मतानुसार ब्रह्म हा शबलरूप से स्रुवा वेदी तथा ऋत्विकूरूप बना हुआ है, सायणादिभाष्यकारों ने इन मन्त्रों पर इस प्रकार मायावाद का रङ्ग चढ़ाया है कि जिस प्रकार मिट्टी के घट शराव दि सब विकार मिट्टी से भिन्न नहीं इसी प्रकार ब्रह्म के स्रुवादि सब विकार ब्रह्मरूप ही हैं क्योंकि इन सब पदार्थों का उपादानकारण ब्रह्म है, या यों कहो कि ["तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्"] इत्यादि वाक्यानुसार ब्रह्म ही ऋत्विजादि रूपों में प्रविष्ट होकर होता; ऋत्विक्, अध्वर्यु और उद्गाता बनरहा है, इसलिये मन्त्र में इनको ब्रह्मभाव से कथन किया गया है, एवं कई एक और प्रतीकें देकर मायावाद को स्पष्ट रीति से सिद्ध किया है जो विस्तार के भय से यहां नहीं लिखा गया परन्तु संक्षेप से इतना अवश्य दर्शाते हैं कि ["अहमन्न"] ["अहमन्नादः"] ["ब्रह्महोता ब्रह्मयज्ञा ब्रह्म स्रुचो घृतवर्ता"] इत्यादि वेद तथा उपनिषदों के वाक्य मायावाद को सिद्ध नहीं करते, क्योंकि इन वाक्यों में ब्रह्म का भूलकर जीव बनाना कथन नहीं किया गया और नाही ब्रह्म को मिट्टी के घट समान जगत् का उपादान कारण कथन किया गया है, फिर मायावाद की सिद्धि कैसे ? इसकी सिद्धि के लिये वेद तथा दशोपनिषदों में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है :—

(१) ब्रह्म का अविद्या से भूलकर जीव बनना।

जैसाकि :—

स्वप्ने स जीवः सुखदुःख भोक्ता स्वमायाकल्पित-विश्वलोके। सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोविभूतः सुखरूपमेति ॥ कैव० उ०

अर्थ—अपनी माया से कल्पना किये हुये इस स्वप्नलोक में जीव सुख दुःख का भोक्ता है, जब सुषुप्तिकाल में उसकी सब कल्पनायें लय हो जाती हैं तब वह सुखरूप ब्रह्म हो जाता है।

(२) इस संसार का रज्जु सर्प के समान मिथ्या होना।

(३) ब्रह्म का ही मिट्टी के घट समान नानारूप होना।

(४) ब्रह्म में ही रज्जु सर्प के समान इस चराचर जगत् का विवर्त्त रूप से भान होना।

(५) जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश करने से उसका पूर्ववत् = ज्यों का त्यों फिर ब्रह्म हो जाना।

(६) फिर जीव का ब्रह्मभाव से कदापि वियुक्त न होना अर्थात् सदैव के लिये मुक्त हो जाना।

इत्यादि, इन भावों का ईशादि आठ उपनिषद् तथा छान्दोग्य और बृहदारण्यक में गन्ध भी नहीं पाया जाता, हां उक्त दशों पनिषदों से भिन्न कैवल्यादि अनार्ष ग्रन्थों में यह भाव पाया जाता है कि माया से भूलकर ब्रह्म का जीव बनना, संसार का रज्जु सर्प के समान मिथ्या होना, ब्रह्म का माया रूप

से उपादान कारण तथा विवर्त्ति होना, "तत्त्वमस्यादि" वाक्यों के उपदेशों से जीव का पूर्ववत् ब्रह्म बनना और जीव का नित्य-मुक्त होना, जैसा कि :—

अर्द्धश्लोकेन प्रवक्ष्यामी यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

इत्यादि श्लोक मिलाकर औपनिषदसिद्धान्त जो अहंग्रह उपासना बोधक वाक्यों का भाण्डार है उसको मिथ्या मायावाद का आगार बना दिया है जिनका विशेष निराकारण हमने "भूमिका" में किया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
ईशाद्यष्टोपनिषदार्य्यभाष्ये
तैत्तिरीयोपनिषत्
समाप्ता

हमारे यहां

चारों मूल वेद, वेदों का भाष्य, दर्शन शास्त्र, उपनिषदें, मनुस्मृति, चाणक्य नीति, विदुर नीति, रामायण, महाभारत आदि धार्मिक पुस्तकें, महापुरुष और नेताओं का [illegible], सामाजिक उच्च कोटि के उपन्यास और राजनैतिक साहित्य, चरक सुश्रुत आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थ, चिकित्सा सम्बन्धी तथा गोरक्षा, पशु पालन, खेती सम्बन्धी सर्व प्रकार की पुस्तकें मिलती हैं, सूचिपत्र मंगा कर देखें।

गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन नई सड़क
देहली।